गीता-प्रवचन

आचार्य विनोबा

●

अनुवादक

हरिभाऊ उपाध्याय

१९४७

सस्ता साहित्य मंडल

नई दिल्ली

प्रस्तावना

मेरे गीता-प्रवचनों का हिंदी अनुवाद हिंदी बोलने वालों के लिअे प्रकाशित हो रहा है, असिसे मुझे खुशी होती है। यह प्रवचन कार्य-कर्त्ताओ के सामने दिअे गअे है, और अिनमे आम जनता के उपयोग की दृष्टि रही है।

अिनमे तात्त्विक विचारो का आधार छोड़े बगैर, लेकिन किसी वाद मे न पडते हुअे, रोज के कामो की बातो का ही जिक्र किया गया है।

यहा श्लोको के अक्षरार्थ की चिंता नही, अेक-अेक अध्याय के सार का चितन है। शास्त्र-दृष्टि कायम रखते हुअे भी शास्त्रीय परिभाषा का अुपयोग कम-से-कम किया है। मुझे विश्वास है कि हमारे गाववाले मजदूर भाअी-बहन भी अिसमे अपना श्रम-परिहार पाअेंगे।

मेरे जीवन मे गीता ने जो स्थान पाया है, अुसका मै शब्दों से वर्णन नही कर सकता हू। गीता का मुझपर अनत अुपकार है। रोज मै अुसका आधार लेता हू और रोज मुझे अुससे मदद मिलती है। अुसका भावार्थ, जैसा मै समझा हू, अिन प्रवचनों मे समझाने की कोशिश की है। मै तो चाहता हू कि यह अनुवाद हर अेक घर मे, जहा हिंदी बोली जाती है, पहुचे, और घर-घर मे अुसका श्रवण, मनन, पठन हो।

परंधाम, पवनार
१०-४-४७

—विनोबा

निवेदन

गीता-प्रवचन संत विनोबा के गीता-संबंधी व्याख्यानो का संग्रह है। आज से पंद्रह साल पहले, सन् १९३२ मे, धुलिया(खानदेश)जेल मे उन्होने गीता के प्रत्येक अध्याय पर एक-एक प्रवचन दिया था। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध देशभक्त व लेखक साने गुरुजी ने उन्हे उसी समय लिपिबद्ध कर लिया था। ये प्रवचन मूल मराठी में दिये गये थे और जब से वे प्रकाशित हुए बहुत ही लोकप्रिय हुए हैं। मराठी ग्रंथ-साहित्य मे आज गीता पर यह अनूठी पुस्तक मानी जाती है। मौलिकता, सुबोधता, और सरसता इसके प्रधान गुण है। विनोबा का व्यक्तित्व ज्ञान, तप और कर्माचरण का त्रिवेणी-सङ्गम है, इसमे जो डुबकी लगायेंगे वे अवश्य कृतकृत्य होंगे।

हिन्दी-संसार मे भी विनोबा-साहित्य का चाव बढ रहा है। यह अनुवाद मूल मराठी 'गीता प्रवचनें' नामक ग्रंथ की खुद विनोबा-संशोधित प्रति से किया गया है। इस सुविधा के लिए 'ग्राम-सेवा-मंडल', नालवाड़ी, वर्धा के व्यवस्थापक के हम कृतज्ञ हैं।

हम चाहते थे कि हिन्दी अनुवाद को खुद विनोबाजी एक बार देख जाते, परन्तु कार्य-व्यस्तता के कारण वह ऐसा न कर सके।

प्रकाशक

गीता-प्रवचन

पहला अध्याय

रविवार, २१-२-३२

(१)

प्रिय भाइयो,

आज से मैं श्रीमद्भगवद्गीता के विषय मे कुछ कहने वाला हूँ। गीता का व मेरा संबंध तर्क से परे है। मेरा शरीर माँ के दूध पर जितना पला है उससे कही अधिक मेरा हृदय व बुद्धि दोनो गीता-माता के दूध से पोषित हुए हैं। जहाँ ऐसा संबंध होता है वहां तर्क की गुंजायश नही रहती। तर्क को काटकर श्रद्धा व प्रयोग इन दोनों पंखो से मै गीता-गगन मे शक्तिभर उडान मारता रहता हूँ। मै प्रायः गीता के ही वातावरण मे रहता हूँ। गीता को मेरा प्राण-तत्त्व ही समझिए। जब मै गीता के संबंध मे किसी से बात करता हूँ तो मानो गीता-समुद्र मे गहरा गोता लगाकर बैठ जाता हूँ। यह तय हुआ है कि अपनी इस गीता-माता का चरित्र मैं हर रविवार को आपको सुनाऊँ।

गीता की योजना महाभारत मे की गई है। गीता महाभारत के मध्य-भाग मे एक ऊँचे दीपक की तरह स्थित है, जिसका प्रकाश सारे महाभारत पर पड रहा है। एक ओर छः पर्व दूसरी ओर १२ पर्व, इनके मध्य भाग मे उसी तरह एक ओर ७ अक्षौहिणी सेना व दूसरी ओर ११ अक्षौहिणी, इनके भी मध्य भाग में गीता का उपदेश दिया गया है।

महाभारत व रामायण हमारे राष्ट्रीय ग्रन्थ हैं। उनमें वर्णित व्यक्ति हमारे जीवन में एक-रूप हो गये हैं। राम, सीता, धर्म, द्रौपदी, भीष्म, हनूमान इत्यादि रामायण-महाभारत के चरित्रों से सारा भारतीय जीवन आज हजारों वर्षों से अभिमंत्रित-सा हो रहा है। संसार के इतर महाकाव्यो के पात्र इस तरह लोक-जीवन में घुले-मिले नहीं दिखाई देते। इस दृष्टि से महाभारत व रामायण निःसन्देह अद्भुत ग्रन्थ हैं। रामायण यदि एक मधुर नीति-काव्य है तो महाभारत एक व्यापक समाज-शास्त्र है। व्यास-देव ने एक लाख संहिता लिखकर असंख्य चित्रों चरित्रो, व चारित्र्यो का यथावत् चित्रण बडी कुशलता से किया है। बिल्कुल निर्दोष तो सिवा एक परमेश्वर के कोई नही है; लेकिन उसी तरह केवल दोषमय भी इस संसार मे कोई नहीं है, यह बात महाभारत में बहुत स्पष्टता से बताई गई है। इसमें जहाँ भीष्म-युधिष्ठिर जैसों के दोष दिखाये गये हैं तो दूसरी ओर कर्ण-दुर्योधनादि के गुणों पर भी प्रकाश डाला गया है। महाभारत बताता है कि मानव-जीवन सफेद व काले तंतुओ का एक पट है। अलिप्त रहकर भगवान् व्यास जग में इस विराट् संसार के छाया-प्रकाशमय चित्र दिखलाते है। व्यासदेव के इस अत्यन्त अलिप्त व उदात्त ग्रंथन-कौशल के कारण महाभारत ग्रन्थ हमारे लिए सोने की बडी भारी खान बन गया है। अब उसमे संशोधन करके, ढूँढ-ढूँढ कर भरपूर सोना लूट लिया जाय।

व्यास ने इतना बडा महाभारत लिखा तो, परन्तु उन्हें खुद भी अपनी तरफ से कुछ कहना था या नही? उसमें उन्होने अपना कोई खास सन्देश किसी जगह दिया है या नही? किस स्थान पर व्यास की समाधि लगी है? भिन्न-भिन्न स्थानो पर तत्त्वज्ञान व उपदेश के अनेक जंगल महाभारत में आते हैं। परन्तु इस सारे तत्त्वज्ञान का, उपदेश का और कुल मिलाकर समूचे ग्रन्थ का सारभूत रहस्य भी उन्होने कहीं लिखा है? हाँ, हाँ, लिखा है; समग्र महाभारत का नवनीत व्यासजी ने भगवद्गीता में निकालकर रख दिया है। गीता व्यासदेव की प्रधान

शिक्षा व उनके मनन का सारा सञ्चय है। इसीके आधार पर—'व्यास मैं मुनियो मे हूँ' यह विभूति सार्थक सिद्ध हुई है। गीता को प्राचीन काल से उपनिषद् की पदवी मिली हुई है। गीता उपनिषदो का भी उपनिषद् है। क्योकि समस्त उपनिषदो को दुहकर यह गीतारूपी दूध भगवान् ने अर्जुन के निमित्त से संसार को दिया है। जीवन के विकास के लिए आवश्यक प्रायः प्रत्येक विचार गीता मे आ गया है। इसी को दृष्टि मे रख कर अनुभवी पुरुषो ने यथार्थ ही कहा है कि गीता धर्म-ज्ञान का एक कोष है। गीता हिन्दू-धर्म का एक छोटा ही क्यो न हो, परन्तु मुख्य ग्रन्थ है।

यह तो सभी जानते है कि गीता श्रीकृष्ण के द्वारा कही गई है। इस महान् शिक्षा को ग्रहण करनेवाला भक्त अर्जुन उस शिक्षा से इतना समरस हो गया कि उसे भी 'कृष्ण' संज्ञा मिल गई। भगवान् व भक्त का यह हृद्गत प्रकट करते हुए व्यासदेव इतने एकरस हो गये कि लोग उन्हे भी 'कृष्ण' नाम से जानने लगे। कहने वाला कृष्ण, सुनने वाला कृष्ण, रचने वाला कृष्ण—इस तरह इन तीनो मे मानो अद्वैत उत्पन्न हो गया; मानो तीनो की समाधि लग गई। जो गीता का अध्ययन करना चाहते है उनमे भी ऐसी ही एकाग्रता होनी चाहिए।

(२)

कुछ लोगो का ख्याल है कि गीता का आरम्भ दूसरे अध्याय से समझना चाहिए। वे कहते है कि दूसरे अध्याय के ११ वे श्लोक से प्रत्यक्ष उपदेश की शुरुआत होती है तो वही से आरम्भ क्यो न समझा जाय ? एक ने तो यहाँ तक कहा—'भगवान् ने अक्षरो मे अ-कार को ईश्वरीय विभूति बताया है। इधर 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' के आरम्भ मे अनायास अ-कार आ गया है। अतः वही से आरम्भ मान लेना चाहिए।' इस युक्ति को हम छोड दे तो भी यहाँ से आरम्भ मानना अनेक दृष्टियो से उचित ही है। फिर भी उसके पहले के प्रास्ताविक भाग का भी महत्त्व है ही। अर्जुन किस भूमिका पर स्थित है, यह यदि प्रास्ता-

महाभारत व रामायण हमारे राष्ट्रीय ग्रन्थ हैं। उनमें वर्णित व्यक्ति हमारे जीवन मे एक-रूप हो गये है। राम, सीता, धर्म, द्रौपदी, भीष्म, हनूमान इत्यादि रामायण-महाभारत के चरित्रों से सारा भारतीय जीवन आज हजारों वर्षों से अभिमंत्रित-सा हो रहा है। संसार के इतर महाकाव्यो के पात्र इस तरह लोक-जीवन में घुले-मिले नहीं दिखाई देते। इस दृष्टि से महाभारत व रामायण निःसन्देह अद्भुत ग्रन्थ हैं। रामायण यदि एक मधुर नीति-काव्य है तो महाभारत एक व्यापक समाज-शास्त्र है। व्यास-देव ने एक लाख संहिता लिखकर असंख्य चित्रों चरित्रो, व चारित्र्यों का यथावत् चित्रण बडी कुशलता से किया है। बिल्कुल निर्दोष तो सिवा एक परमेश्वर के कोई नहीं है; लेकिन उसी तरह केवल दोषमय भी इस संसार मे कोई नहीं है, यह बात महाभारत में बहुत स्पष्टता से बताई गई है। इसमे जहाँ भीष्म-युधिष्ठिर जैसों के दोष दिखाये गये है तो दूसरी ओर कर्ण-दुर्योधनादि के गुणो पर भी प्रकाश डाला गया है। महाभारत बताता है कि मानव-जीवन सफेद व काले तंतुओ का एक पट है। अलिप्त रहकर भगवान् व्यास जग में इस विराट् संसार के छाया-प्रकाशमय चित्र दिखलाते हैं। व्यासदेव के इस अत्यन्त अलिप्त व उदात्त ग्रंथन-कौशल के कारण महाभारत ग्रन्थ हमारे लिए सोने की बडी भारी खान बन गया है। अब उसमे संशोधन करके, ढूँढ़-ढूँढ कर भरपूर सोना लूट लिया जाय।

व्यास ने इतना बडा महाभारत लिखा तो, परन्तु उन्हे खुद भी अपनी तरफ से कुछ कहना था या नहीं? उसमे उन्होने अपना कोई खास सन्देश किसी जगह दिया है या नही? किस स्थान पर व्यास की समाधि लगी है? भिन्न-भिन्न स्थानों पर तत्त्वज्ञान व उपदेश के अनेक जंगल महाभारत मे आते हैं। परन्तु इस सारे तत्त्वज्ञान का, उपदेश का और कुल मिलाकर समूचे ग्रन्थ का सारभूत रहस्य भी उन्होने कहीं लिखा है? हाँ, हाँ, लिखा है; समग्र महाभारत का नवनीत व्यासजी ने भगवद्गीता में निकालकर रख दिया है। गीता व्यासदेव की प्रधान

शिक्षा व उनके मनन का सारा सञ्चय है। इसीके आधार पर 'व्यास मैं मुनियो में हूँ' यह विभूति सार्थक सिद्ध हुई है। गीता को प्राचीन काल से उपनिषद् की पदवी मिली हुई है। गीता उपनिषदो का भी उपनिषद् है। क्योंकि समस्त उपनिषदो को दुहकर यह गीतारूपी दूध भगवान् ने अर्जुन के निमित्त से संसार को दिया है। जीवन के विकास के लिए आवश्यक प्राय. प्रत्येक विचार गीता मे आ गया है। इसी को दृष्टि में रख कर अनुभवी पुरुषो ने यथार्थ ही कहा है कि गीता धर्म-ज्ञान का एक कोष है। गीता हिन्दू-धर्म का एक छोटा ही क्यो न हो, परन्तु मुख्य ग्रन्थ है।

यह तो सभी जानते है कि गीता श्रीकृष्ण के द्वारा कही गई है। इस महान् शिक्षा को ग्रहण करनेवाला भक्त अर्जुन उस शिक्षा से इतना समरस हो गया कि उसे भी 'कृष्ण' संज्ञा मिल गई। भगवान् व भक्त का यह हृद्गत प्रकट करते हुए व्यासदेव इतने एकरस हो गये कि लोग उन्हे भी 'कृष्ण' नाम से जानने लगे। कहने वाला कृष्ण, सुनने वाला कृष्ण, रचने वाला कृष्ण—इस तरह इन तीनो मे मानो अद्वैत उत्पन्न हो गया; मानो तीनो की समाधि लग गई। जो गीता का अध्ययन करना चाहते है उनमे भी ऐसी ही एकाग्रता होनी चाहिए।

(२)

कुछ लोगो का ख्याल है कि गीता का आरम्भ दूसरे अध्याय से समझना चाहिए। वे कहते है कि दूसरे अध्याय के ११ वे श्लोक से प्रत्यक्ष उपदेश की शुरुआत होती है तो वही से आरम्भ क्यो न समझा जाय ? एक ने तो यहाँ तक कहा—'भगवान् ने अक्षरो मे अ-कार को ईश्वरीय विभूति बताया है। इधर 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' के आरम्भ मे अनायास अ-कार आ गया है। अतः वही से आरम्भ मान लेना चाहिए।' इस युक्ति को हम छोड दे तो भी यहाँ से आरम्भ मानना अनेक दृष्टियों से उचित ही है। फिर भी उसके पहले के प्रास्ताविक भाग का भी महत्त्व है ही। अर्जुन किस भूमिका पर स्थित है, यह यदि प्रास्ता-

विक कथा-भाग के द्वारा न बताया गया तो यह अच्छी तरह समझना मुश्किल था कि किस बात का प्रतिपादन करने के लिए गीता की प्रवृत्ति हुई है।

कुछ लोग कहते है कि अर्जुन का क्लैब्य दूर करके उसे युद्ध में प्रवृत्त करने के लिए गीता कही गई है। उनके मत में गीता केवल कर्म-योग ही नही बताती है बल्कि युद्ध-योग का भी प्रतिपादन करती है। पर जरा विचार करने पर इस कथन की भूल हमे दीख जायगी। १८ अक्षौहिणी सेना लडने के लिए तैयार थी। तो क्या अब आप यह कहेंगे कि सारी गीता सुनाकर भगवान् ने अर्जुन को उस सेना के लायक बनाया? घबडाया तो अर्जुन था न कि वह सेना। तो क्या सेना की योग्यता अर्जुन से अधिक थी? यह बात तो कल्पना मे भी नही आ सकती। अर्जुन जो लडाई से परावृत्त हो रहा था सो भय के कारण नही। सैकडो लडाइयो मे अपना जौहर दिखाने वाला वह महावीर था। उत्तर के गो-ग्रहण के समय उसने अकेले ही भीष्म, द्रोण, व कर्ण के दाँत खट्टे कर दिये थे। उसकी ख्याति थी कि वह सदा विजयी है व सब नरो मे एक ही सच्चा नर है। वीर-वृत्ति उसके रोम-रोम से टपकी पडती थी। अर्जुन को छेडने के लिए, उत्तेजित करने के लिए क्लैब्य का आरोप तो कृष्ण ने भी करके देख लिया। परन्तु उनका वह तीर बेकार गया व फिर उन्हें दूसरी ही तरह से ज्ञान-विज्ञान-संबंधी व्याख्यान देने पडे। तब यह निश्चित है कि महज क्लैब्य-निरसन जैसा सस्ता तात्पर्य गीता का नही है।

दूसरे कुछ लोग कहते है कि अर्जुन की अहिंसा-वृत्ति को दूर करके उसे युद्ध-प्रवृत्त करने के लिए गीता कही गई है। मेरी दृष्टि से यह कहना भी ठीक नही है। इसकी छानबीन करने के लिए पहले हमें अर्जुन की भूमिका देखनी चाहिए। इसके लिए पहला अध्याय और दूसरे अध्याय मे जा पहुंचने वाली खाड़ी से हमे बहुत सहायता मिलेगी।

विक कथा-भाग के द्वारा न बताया गया तो यह अच्छी तरह समझना मुश्किल था कि किस बात का प्रतिपादन करने के लिए गीता की प्रवृत्ति हुई है।

कुछ लोग कहते है कि अर्जुन का क्लैब्य दूर करके उसे युद्ध में प्रवृत्त करने के लिए गीता कही गई है। उनके मत मे गीता केवल कर्म-योग ही नही बताती है बल्कि युद्ध-योग का भी प्रतिपादन करती है। पर जरा विचार करने पर इस कथन की भूल हमे दीख जायगी। १८ अक्षौहिणी सेना लडने के लिए तैयार थी। तो क्या अब आप यह कहेंगे कि सारी गीता सुनाकर भगवान् ने अर्जुन को उस सेना के लायक बनाया? घबडाया तो अर्जुन था न कि वह सेना। तो क्या सेना की योग्यता अर्जुन से अधिक थी? यह बात तो कल्पना मे भी नही आ सकती। अर्जुन जो लडाई से परावृत्त हो रहा था सो भय के कारण नही। सैकडो लडाइयो मे अपना जौहर दिखाने वाला वह महावीर था। उत्तर के गो-ग्रहण के समय उसने अकेले ही भीष्म, द्रोण, व कर्ण के दाँत खट्टे कर दिये थे। उसकी ख्याति थी कि वह सदा विजयी है व सब नरो मे एक ही सच्चा नर है। वीर-वृत्ति उसके रोम-रोम से टपकी पडती थी। अर्जुन को छेडने के लिए, उत्तेजित करने के लिए क्लैब्य का आरोप तो कृष्ण ने भी करके देख लिया। परन्तु उनका वह तीर बेकार गया व फिर उन्हे दूसरी ही तरह से ज्ञान-विज्ञान-संबंधी व्याख्यान देने पडे। तब यह निश्चित है कि महज क्लैब्य-निरसन जैसा सस्ता तात्पर्य गीता का नही है।

दूसरे कुछ लोग कहते है कि अर्जुन की अहिसा-वृत्ति को दूर करके उसे युद्ध-प्रवृत्त करने के लिए गीता कही गई है। मेरी दृष्टि से यह कहना भी ठीक नही है। इसकी छानबीन करने के लिए पहले हमें अर्जुन की भूमिका देखनी चाहिए। इसके लिए पहला अध्याय और दूसरे अध्याय मे जा पहुँचने वाली खाड़ी से हमे बहुत सहायता मिलेगी।

पहला अध्याय

अर्जुन जो समर-भूमि में खडा हुआ सो कृत-निश्चय होकर व कर्त्तव्य-भाव से। क्षात्रवृत्ति उसके स्वभाव मे थी। युद्ध को टालने का भरसक प्रयत्न किया जा चुका था, फिर भी वह टल नही पाया था। कम-से-कम मांग का प्रस्ताव और श्रीकृष्ण जैसों की मध्यस्थता दोनो बेकार जा चुके थे। ऐसी स्थिति मे अनेक देशो के राजाओ को एकत्र करके और श्रीकृष्ण से अपना सारथ्य स्वीकृत कराकर वह रणांगण मे खडा है और वीरोचित उत्साह से श्रीकृष्ण से कहता है—"दोनो सेनाओ के बीच मे मेरा रथ खडा कीजिए जिससे मै एक बार उन लोगो के चेहरे तो देख लूं कि जो मुझसे लडने के लिए तैयार होकर आये है।" कृष्ण ने ऐसा ही किया व अर्जुन चारो ओर एक निगाह डालता है। तो उसे क्या दिखाई देता है? दोनो ओर अपने ही नाते-रिश्तेदारो, सगे-संबंधियो का जबरदस्त जमघट। वह देखता है कि—दादा, बाप, लडके, पोते, आप्त-स्वजन-संबंधियो की चार पीढियाँ मरने-मारने के अन्तिम निश्चय से वहाँ एकत्र हुई है। यह बात नही कि इससे पहले उसे इन बातों का अन्दाज न हुआ हो। परन्तु प्रत्यक्ष दर्शन का कुछ जुदा ही प्रभाव मन पर पडता है। उस सारे स्वजन-समूह को देखकर उसके हृदय मे एक उथल-पुथल मचती है। वह खिन्न हो जाता है। आज तक उसने अनेक युद्धो में असंख्य वीरो का संहार किया था। उस समय वह खिन्न नहीं हुआ था, उसका गाडीव हाथ से छूट नही पडा था, शरीर मे कम्प नही होने लगा था, उसकी आँखे भीगी नही हो गई थी। तो फिर इसी समय ऐसा क्यो हुआ? क्या अशोक की तरह उसके मन मे अहिंसा-वृत्ति उदय हो गई थी? नही, यह तो केवल स्वजनासक्ति थी। इस समय भी यदि गुरु, बन्धु और आप्त सामने न होते तो उसने शत्रुओ के मुण्ड एक गेंद की तरह उडा दिये होते। परन्तु इस आसक्ति-जनित मोह ने उसकी कर्त्तव्य-निष्ठा को ग्रस लिया। और तब उसे तत्त्वज्ञान याद हो आया। कर्त्तव्य-निष्ठ मनुष्य जब मोह-ग्रस्त हो जाता है तब भी नग्न—खुल्लमखुल्ला-कर्त्तव्यच्युति उसे सहन नही होती। वह कोई सद्-

विचार उसे पहनाता है। यही हाल अर्जुन का हुआ। अब वह झूठ-मूठ प्रतिपादन करने लगा कि युद्ध वास्तव मे एक पाप है। युद्ध से कुलक्षय होगा। धर्म का लोप होगा, स्वैराचार मचेगा, व्यभिचार-वाद फैलेगा, अकाल आ पड़ेगा, समाज पर तरह-तरह के संकट आवेंगे—आदि अनेक दलीलें देकर वह कृष्ण को ही समझाने लगा ।

यहाँ मुझे एक न्यायाधीश का किस्सा याद आता है। एक न्यायाधीश था। उसने सैकड़ो अपराधियों को फाँसी की सजा दी थी। परन्तु एक दिन खुद उसी का लडका खून के जुर्म मे उसके सामने पेश किया गया, उस पर खून साबित हुआ व खुद अपने ही लड़के को फाँसी की सजा देने की नौबत उसे आ गई। तब वह हिचकने लगा। वह बुद्धिवाद बघारने लगा—"यह फाँसी की सजा बडी अमानुष है। ऐसी सजा देना मनुष्य को किसी तरह शोभा नहीं देता। इससे अपराधी के सुधार की आशा नही रहती। इसने भावना के आवेश मे, जोश-उत्तेजना में, खून कर डाला है। परन्तु जब खून का जनून उतर जाता है तब उस व्यक्ति को संजीदगी के साथ फाँसी के तख्ते पर चढ़ा देना समाज की मनुष्यता के लिए बडी लज्जा की बात है, बड़ा कलंक है," आदि दलीले वह देने लगा। यदि अपना लडका उसके सामने न आया होता तो वह न्यायाधीश साहब बेखटके जिन्दगी भर फाँसी की सजा देते रहते। किन्तु आज अपने लडके के ममत्व के कारण ऐसी बातें करने लगे। वह आवाज आन्तरिक नही थी। वह आसक्ति-जनित थी। 'यह मेरा लडका है' इस ममत्व में से वह वाङ्मय निकला था।

अर्जुन की गति भी इस न्यायाधीश की तरह हुई। उसने जो दलीलें दी थी वे गलत नहीं थी। पिछले महायुद्ध मे सारे संसार ने ठीक इन्हीं परिणामों को प्रत्यक्ष देखा है। परन्तु यहाँ सोचने की बात यह है कि वह अर्जुन का तत्त्व-ज्ञान (दर्शन) नही किन्तु कोरा प्रज्ञावाद था। कृष्ण इसे जानते थे। इसलिए उन्होंने उन पर भी जरा ध्यान न देकर सीधा उसके मोह-नाश का उपाय शुरू किया। अर्जुन यदि सचमुच अहिंसावादी

हो गया होता तो उसे किसी ने कितना ही अवांतर ज्ञान-विज्ञान बताया होता तो भी असली बात या जवाब मिले बिना उसका समाधान न हुआ होता। परंतु सारी गीता में इन मुद्दों का कहीं भी जवाब नहीं दिया गया है; फिर भी हम देखते हैं कि अर्जुन का समाधान हुआ है। इस सब का भावार्थ यही है कि अर्जुन की अहिंसा-वृत्ति नहीं थी। वह युद्ध प्रवृत्त ही था। युद्ध उसकी दृष्टि से उसका स्वभाव-प्राप्त और अपरिहार्य रूप से निश्चित कर्त्तव्य था, जिसे वह मोहवश होकर टालना चाहता था। और गीता ने मुख्यतः इस मोह पर ही गदा-प्रहार किया है।

(३)

अर्जुन अहिंसा तो ठीक, संन्यास की भी भाषा बोलने लगा था। वह कहता है—इस रक्त-लांछित क्षात्र-धर्म से तो संन्यास ही अच्छा हैं। परंतु प्रश्न यह है कि क्या वह अर्जुन का स्वधर्म था? उसकी वह वृत्ति थी क्या? अर्जुन संन्यासी का वेश तो बडे मजे मे धारण कर सकता था, पर वैसी वृत्ति कैसे बना सकता था? संन्यासी का नाम लेकर यदि वह जंगल मे जा रहा होता तो वहां हिरन मारना शुरू कर देता। अतः भगवान् ने साफ ही कहा—"अर्जुन, जो तुम यह कह रहे हो कि मै लडूंगा नही, सो तुम्हारा भ्रम है! आज तक जो तुम्हारा स्वभाव बना हुआ है वह तुम्हे लडाये बिना कभी नही मानने का।"

अर्जुन को यह स्वधर्म विगुण मालूम होने लगा। परंतु स्वधर्म कितना ही विगुण हो तो भी उसी मे रह कर मनुष्य को अपना विकास कर लेना चाहिए। क्योकि उसीमे रहने से विकास हो सकता है। इसमें अभिमान का कोई प्रश्न नही है। यह तो विकास का सूत्र है। स्वधर्म ऐसी वस्तु नही है कि जिसे बडा समझ कर ग्रहण करे व छोटा समझ कर छोड़ दे। वस्तुतः वह न बडा होता है न छोटा। वह हमारे ब्यौंत भर का होता है।

'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः' गीता के इस वचन मे धर्म शब्द का अर्थ हिन्दू-धर्म, इस्लाम, ईसाई-धर्म आदि जैसा नही है। प्रत्येक व्यक्ति का

अपना भिन्न-भिन्न धर्म है। मेरे सामने यहां जो दो सौ व्यक्ति मौजूद हैं उनके दो सौ धर्म है। मेरा धर्म भी जो दस वर्ष पहले था वह आज नही है। आज जो धर्म है वह दस वर्ष बाद नहीं रहने का। चिन्तन और अनुभव से जैसे-जैसे वृत्तियां बदलती जाती हैं, वैसे-वैसे पहले का धर्म छूटता जाता है व नवीन धर्म प्राप्त होता जाता है। इसमे हठ की कहीं भी गु जायश नहीं है।

दूसरे का धर्म भले ही श्रेष्ठ मालूम हो तो भी उसे ग्रहण करने में मेरा कल्याण नही है। सूर्य का प्रकाश मुझे प्रिय है। उस प्रकाश से मेरी वाढ होती है। सूर्य मुझे वन्दनीय भी है। परंतु इसलिए यदि मैं पृथ्वी पर रहना छोडकर उसके पास जाना चाहूँगा तो जलकर खाक हो रहूँगा। इसके विपरीत भले ही पृथ्वी पर रहना विगुण हो—तो भी जब तक सूर्य के तेज को सहन करने का सामर्थ्य मुझमे न आजाय तबतक सूर्य से दूर पृथ्वी पर रहकर ही मुझे अपना विकास कर लेना होगा। मछलियो को यदि कोई कहे कि पानी से दूध कीमती है, तुम दूध में रहने चलो, तो क्या मछलियां उसे मंजूर करेगी ? मछलियां तो पानी मे ही जी सकती है, दूध मे मर जायंगी।

दूसरों का धर्म सहल होने पर भी वह ग्रहण करने योग्य नहीं हो जाता। बहुत बार तो यह सरलता का आभासमात्र होता है। घर-गृहस्थी मे वाल-बच्चो की ठीक संभाल न हो सकने से घबराकर—'नारि मुई घर सम्पति-नासी, मूंड-मुँडाय भये संन्यासी,' के अनुसार यदि कोई गृहस्थ संन्यास ले ले तो वह ढोंग होगा व भारी भी पडेगा। मौका पाते ही उसकी वासनायें जोर पकडेंगी ! संसार का वोझ जो उठा नहीं सकता, वह यदि जंगल मे जा वैठेगा तो पहले वहां एक छोटी सी झोपडी बनावेगा; फिर उसकी रक्षा के लिए वाड लगावेगा। ऐसा करते-करते वहां भी उसे सवाया संसार खडा करने की नौबत आजायगी। यदि सचमुच मन में वैराग्यवृत्ति हो तो फिर संन्यास कौन कठिन वात है। ऐसे स्मृति-वचन

भी मिलते है कि संन्यास बडा आसान है। परन्तु खास बात वृत्ति की है। जिसकी जो वास्तविक वृत्ति होगी उसीके अनुसार उसका धर्म होगा। श्रेष्ठ, कनिष्ठ सरल-कठिन यह प्रश्न ही नहीं है। सच्चा विकास होना चाहिए। वास्तविक परिणति होनी चाहिए।

परन्तु बाज़ भावुक व्यक्ति पूछते हैं—"यदि युद्ध-धर्म से संन्यास सचमुच ही सदा श्रेष्ठ है तो फिर भगवान् ने अर्जुन को सच्चा संन्यासी ही क्यो न बनाया ? उनके लिए क्या यह बात कठिन थी ?" उन्हे कठिन तो कुछ भी नही था। परन्तु उसमें अर्जुन का फिर पुरुषार्थ क्या रह जाता ? परमेश्वर ने स्वतंत्रता दे रखी है। अतः हर आदमी अपने लिए प्रयत्न करे। इसीमे मजा है। छोटे बच्चे खुद तस्वीरे निकालने मे आनन्द मानते है। उन्हे यह पसंद नही आता कि कोई उनसे हाथ पकड के खिचवाये। शिक्षक यदि बच्चो के सवाल लगा दिया करे तो फिर बच्चो की बुद्धि बढेगी कैसे ? अत मां-बाप व गुरु का काम सिर्फ सुझाव करना है। परमेश्वर अन्दर से हमे सुझाता रहता है। इससे अधिक वह कुछ नही करता। भगवान् यदि किसी कुम्हार की तरह हमे ठोंक-पीट कर अथवा थपथपाकर मटका तैयार करे तो उसमे लुत्फ क्या ? फिर हम मिट्टी की हंडिया तो है नहीं। हम तो चिन्मय है।

इस सारे विवेचन से एक बात आपकी समझ मे आगई होगी कि गीता का जन्म स्वधर्म मे बाधक जो मोह है उसके निवारणार्थ हुआ है। अर्जुन धर्म-संमूढ हो गया था। स्वधर्म के विषय मे उसके मन मे मोह पैदा हो गया था। श्रीकृष्ण के पहले उलहने के बाद, यह बात अर्जुन खुद ही स्वीकार करता है। वह मोह, वह ममत्व, वह आसक्ति दूर करना गीता का मुख्य काम है। इसीलिए सारी गीता सुना चुकने के बाद भगवान् ने पूछा है—"अर्जुन, तुम्हारा मोह चला गया न ?" और अर्जुन उन्हे यकीन दिलाता है—"हां, भगवन्, मोह नष्ट होगया, मुझे स्वधर्म का बोध हो गया।" इस तरह यदि गीता का उपक्रम और उपसंहार को मिलाकर देखे तो मोह-निरसन ही उसका फलित निकलता है। गीता का

ही नहीं, सारे महाभारत का यही उद्देश्य है। व्यासजी ने महाभारत के प्रारंभ में ही कहा है कि लोक-हृदय के मोहावरण को दूर करने के लिए मैंने यह इतिहास-रूपी प्रदीप जलाया है।

(४)

आगे की सारी गीता समझने के लिए यह भूमिका हमारे बहुत काम आई है—इसके लिए तो हम इसका आभार मानेंगे ही; परन्तु इससे और भी हमारा उपकार हुआ है। अर्जुन की इस भूमिका से उसके मन की अत्यंत ऋजुता का भी पता चलता है। खुद 'अर्जुन' शब्द का अर्थ भी ऋजु अथवा सरल स्वभाव वाला है। उसके मन मे जो कुछ भी विकार या विचार आये वे सब उसने दिल खोलकर भगवान् के सामने रख दिये। मन मे कुछ भी छिपा नही रखा और वह अंत को श्रीकृष्ण की शरण गया। सच पूछिए तो वह पहले ही से कृष्ण की शरण था। कृष्ण को सारथी बना के जब से उसने अपने घोडों की लगाम उनके हाथों मे पकड़ाई तभी से उसने अपनी मनोवृत्तियो की भी लगाम उनके हाथों मे सौंप देने की तैयारी करली थी। आइए, हम भी ऐसा ही करे। अर्जुन के पास तो कृष्ण थे। हमे कृष्ण कहां मिलेगे? ऐसी शंका मत कीजिये। कृष्ण नामक कोई व्यक्ति है, ऐसी ऐतिहासिक उर्फ भ्रामक उलझन मे आप न पड़ें। अन्तर्यामी के रूप से कृष्ण हम प्रत्येक के हृदय में विराजमान है। हमारे सबसे अधिक निकट वही है। तो हम अपने हृदय के सब छल-मल उसके सामने रख दें और उससे कहे—"भगवान् मैं तेरी शरण हूँ। तू मेरा अनन्य गुरु है। मुझे उचित मार्ग दिखा। जो मार्ग तू बताएगा मै उसी पर चलूंगा।" यदि हम ऐसा करेंगे तो वह पार्थ-सारथि हमारा सारथ्य भी वैसा ही करेगा। अपने श्री-मुख से वह हमें गीता सुनावेगा और हमें विजय-लाभ करा देगा।

दूसरा अध्याय

रविवार, २८-२-३२

(१)

पिछले अध्याय मे हमने अर्जुन के विषाद-वियोग को देखा। जब अर्जुन के जैसी ऋजुता (सरलभाव) और हरि-शरणता होती है, तो फिर विषाद का भी योग हो जाता है। इसी को हृदय-मंथन कहते हैं। गीता की इस भूमिका को मैंने उसके संकल्पकार के अनुसार अर्जुन-विषाद-योग जैसा विशिष्ट नाम न देते हुए विषाद-योग जैसा साधारण नाम दिया है। क्योंकि गीता के लिए अर्जुन एक निमित्त-मात्र है। यह न समझना चाहिए कि पंढरपुर के पांडुरंग का अवतार सिर्फ पुंडलीक के ही लिए हुआ। क्योंकि हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि पुंडलीक का निमित्त लेकर वह हम जड जीवो के उद्धार के लिए आज हजारो वर्षों से वहीं खड़ा है। इसी प्रकार गीता की दया भी अर्जुन के निमित्त से क्यो न हो, हम सब के ही लिए प्रतिपादित हुई है। अत. गीता के पहले अध्याय के लिए विषाद-योग जैसा साधारण नाम ही अच्छा मालूम होता है। यह गीता-रूपी वृक्ष यहां से बढ़ते-बढते अन्त के अध्याय मे प्रसाद-योग-रूपी फल को प्राप्त हुआ है।

इस दूसरे अध्याय से गीता की शिक्षा का आरंभ होता है और शुरू में ही भगवान् जीवन के महासिद्धात वता देते हैं। इसमें उनका आशय यह है कि यदि शुरू मे ही जीवन के वे मुख्य तत्त्व पट जायं जिनके आधार पर जीवन की इमारत खडी करनी है, तो आगे का मार्ग सरल होजायगा। इस दूसरे अध्याय मे साख्य-बुद्धि शब्द आता है, जिसका अर्थ मैं करता हूं—जीवन के मूल-भूत सिद्धांत। तो अब हमे यहां मूल सिद्धात सम-

करना है। परंतु इसके पहले यदि हम इस सांख्य शब्द के प्रसंग से गीता के पारिभाषिक शब्दो में अर्थ का थोड़ा स्पष्टीकरण करले तो अच्छा होगा।

गीता पुराने शास्त्रीय शब्दो को नये अर्थों में लिखने की आदी है। पुराने शब्दों पर नये अर्थ की कलम लगाना विचार-क्रांति का अहिंसक तरीका है। व्यास इस प्रक्रिया मे सिद्ध-हस्त थे। इससे गीता के शब्दों को व्यापक अर्थ प्राप्त हुआ और वह तरोताजा बनी रही एवं अनेक विचारक अपनी-अपनी आवश्यकता और अनुभव के अनुसार अनेक अर्थ कर सके व ले भी सके। अपनी-अपनी जगह पर ये सब अर्थ सही हो सकते है और मै समझता हूँ कि उनके विरोध की आवश्यकता न पडने देकर हम उनका स्वतंत्र-अर्थ भी कर सकते है।

इस सिलसिले में उपनिषद् में एक सुन्दर कथा आती है। एक बार देव, दानव और मानव तीनो प्रजापति के पास उपदेश के लिए पहुँचे। प्रजापति ने सबको एक ही अक्षर बताया 'द्'। देवो ने कहा—हम देवता लोग कामी है, हमे विषय-भोगो का चस्का लग गया है, अतः हमे ब्रह्मा ने 'द्' अक्षर के द्वारा 'दमन' करने की सीख दी है। दानवो ने कहा—हम दानव बडे क्रोधी और दयाहीन हो गए हैं, हमें 'द' अक्षर के द्वारा प्रजापति ने यह शिक्षा दी है कि दया करो। मानवो ने कहा—हम मानव बडे लोभी और धन-सचय के पीछे पागल हो गए हैं, हमे 'द' के द्वारा दान करने का उपदेश प्रजापति ने दिया है। प्रजापति ने सभी के अर्थों को ठीक माना। क्योंकि सबने उनको अपने अनुभवो से प्राप्त किया था। गीता की परिभाषा का अर्थ करते समय उपनिषद् की यह कथा हमे ध्यान मे रखनी चाहिए।

(२)

दूसरे अध्याय में जीवन के तीन महा-सिद्धांत पेश किये गये हैः (१) आत्मा की अमरता और अखण्डता, (२) देह की क्षुद्रता, और (३) स्वधर्म की अबाध्यता। इनमे स्वधर्म का सिद्धांत कर्तव्य-रूप है और शेप दो केवल ज्ञातव्य हैं। पिछले अध्याय में मैंने स्वधर्म के संबंध

में कुछ बताया है। यह स्वधर्म हमें निसर्गतः ही प्राप्त होता ह। स्वधर्म को कही खोजने नही जाना पडता। ऐसी बात नही है कि हम आकाश से गिरे और धरती पर चलने लगे। हमारा जन्म होने से पहले यह समाज था, हमारे मां-बाप थे, अडौसी-पड़ौसी थे। ऐसे इस प्रवाह में से हमारा जन्म होता है। अतः जिन मां-बाप की कोख से मैं जन्मा हूँ उनकी सेवा करने का धर्म मुझे जन्मत ही प्राप्त हो गया है, और जिस समाज मे मैने जन्म लिया उसकी सेवा करने का धर्म तो मुझे इस क्रम से अपनेआप ही प्राप्त हो जाता है। सच तो यह है कि हमारे जन्म के साथ ही हमारा स्वधर्म भी जन्मता है, बल्कि यह भी कह सकते हे, कि वह तो हमारे जन्म के पहले से ही हमारे लिए तैयार रहता है। क्योकि वह हमारे जन्म का हेतु ही है। हमारा जन्म उसकी पूर्ति के लिए होता है। कोई-कोई स्वधर्म को अपनी पत्नी की उपमा देते है और कहते है कि जैसे पत्नी का सम्बन्ध अविच्छेद्य माना गया है वैसे ही यह स्वधर्म-सबंध भी अविच्छेद्य है। लेकिन मुझे यह उपमा भी गौण—दूसरे दर्जे की मालूम होती है। मै स्वधर्म के लिए माता की उपमा देता हूँ। मुझे अपनी माता का चुनाव इस जन्म मे करना बाकी नही रहा। वह पहले से ही निश्चित हो चुकी है। वह कैसी ही क्यो न हो अब टाली नही जा सकती। ऐसी ही स्थिति स्वधर्म की भी है। इस जगत् मे हमारे लिए स्वधर्म के अतिरिक्त दूसरा कोई आश्रय नही है। स्वधर्म को टालते जाना मानो 'स्व' को ही टालने जैसी आत्मघातकता है। स्वधर्म के सहारे ही हम आगे बढ सकते हैं। अतः यह स्वधर्म का आश्रय कभी किसी को नही छोडना चाहिए—यह जीवन का एक मूल-भूत सिद्धांत स्थिर होता है।

स्वधर्म हमे इतना सहज प्राप्त है कि हम से अपने आप उसी का पालन होना चाहिए। परन्तु अनेक प्रकार के मोहो के कारण ऐसा नही होता, अथवा बडी कठिनाई से होता है और हुआ भी तो उसमे विष—अनेक प्रकार के दोष—मिल जाते है। स्वधर्म के मार्ग मे कांटे बखेरने

वाले इन मोहों के बाहरी रूपों की तो कोई गिनती ही नहीं है। फिर भी जब हम उसकी छान-बीन करते हैं, तो उन सब की तह मे एक ही बात दिखाई देती है—संकुचित और छिछली देह-बुद्धि। मैं समझ लेता हूं कि मैं और मेरे शरीर से ताल्लुक रखने वाले लोग-बाग, बस इतनी ही मेरी व्याप्ति—फैलाव की सीमा है।

इस दायरे के बाहर जो हैं, वे सब मेरे लिए गैर अथवा दुश्मन है। ऐसे भेद की दीवार यह देह-बुद्धि खडी कर देती है और तारीफ यह कि जिन्हें 'मैंने 'मै अथवा मेरे' मान लिया है, उनके भी केवल शरीर पर ही मेरी दृष्टि रहती है। देह-बुद्धि के इस दुहरे पेच मे पड़ कर हम तरह-तरह के छोटे घरोंदे बनाने लगते हैं। प्रायः सब लोग इसी कार्य-क्रम मे लगे रहते है। इनमें किसी का घरोंदा बडा, तो किसी का छोटा। परन्तु है आखिर वह घरोंदा ही। जितनी इस शरीर की योग्यता उतनी ही उनकी गहराई। कोई कुटुम्बाभिमान का घरोंदा बना कर रहता है तो कोई देशाभिमान का। ब्राह्मण-ब्राह्मणेतर नामक एक घरोंदा, हिन्दू-मुसलमान नामक दूसरा, ऐसे एक-दो नहीं अनेक घरोंदे बने हुए है। जिधर देखिए उधर ये घरोंदे ही घरोंदे। हमारे इस जेल मे भी तो राजनैतिक कैदी और दूसरे कैदी, इस तरह के घरोंदे बने हुए है न? मानो इनके बिना हम जी ही नही सकते। परन्तु इसका नतीजा क्या होता है—नतीजा एक ही। हीन-विकारों के कीटाणुओं की बाढ़ और स्वधर्म-रूपी आरोग्यता का नाश।

ऐसी दशा मे स्वधर्म-निष्ठा अकेली पर्याप्त नही होती। उसके लिए दूसरे दो और सिद्धान्त जाग्रत रखने पडते हैं। एक तो यह कि मै यह मरणशील देह नही हूं, देह तो केवल ऊपर की क्षुद्र पपडी है और दूसरी यह कि मै कभी न मरने वाला अखण्ड और व्यापक आत्मा हूं। इन दोनों के मेल से एक पूर्ण तत्त्व-ज्ञान प्राप्त होता है।

यह तत्त्व-ज्ञान गीता को इतना आवश्यक जान पड़ता है कि गीता पहले उसी का आवाहन करती है और स्वधर्म का आवाहन बाद को।

कुछ लोग पूछते हैं कि तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी ये श्लोक आरम्भ में ही क्यों आये ? परन्तु मुझे लगता है कि गीता मे यदि कोई श्लोक ऐसे है जिन की जगह बिलकुल नहीं बदली जा सकती तो वे यही श्लोक है।

इतना तत्त्वज्ञान यदि मन में अंकित हो जाय तो फिर स्वधर्म बिलकुल भारी नहीं पडेगा। यही बात नही, किन्तु स्वधर्म के अतिरिक्त और कुछ करना भारी मालूम पडेगा। फिर आत्मतत्त्व की अखंडता और देह की क्षुद्रता, इन बातों को समझ लेना भी तो कोई कठिन नहीं है, क्योंकि ये दोनो सत्य वस्तुएँ है। परंतु हमे उनका विचार करना होगा। बार-बार मन मे उनका मंथन करना होगा। इस चाम के महत्त्व को घटाकर हमे आत्मा को महत्त्व देना सीखना होगा।

देखिए, यह देह तो पल-पल मे बदलता रहता है। बचपन, जवानी और बुढापा—इस चक्र का अनुभव किसे नही है ? आधुनिक शास्त्रज्ञों का तो कहना है कि सात साल मे शरीर बिलकुल बदल जाता है और खून का पुराना एक बूंद भी शेष नही रहता। हमारे पूर्वज मानते थे कि बारह वर्ष मे पुराना शरीर मर जाता है और इसलिए प्रायश्चित्त तपश्चर्या, अध्ययन आदि की भी मियाद बारह-बारह वर्ष की रखते थे। हमारे कानो पर ऐसी-ऐसी बाते आती है कि बहुत वर्ष की जुदाई के बाद जब कोई बेटा अपनी मां से मिला, तो मां उसे पहचान न सकी। तो क्या यही प्रतिक्षण बदलने वाला, प्रतिक्षण मर रहा, देह ही तेरा रूप है ? रात-दिन जहां मल-मूत्र की नालियां बहती है और तेरे जैसा जबरदस्त धोने वाला मिल जाने पर भी जिसकी अस्वच्छता का व्रत छूटता ही नही है, क्या वही तू है ? वह अस्वच्छ, तू उसे साफ करने वाला, वह रोगी, तू उसे दवा-पानी देने वाला, वह साढे तीन हाथ की जगह घेरे हुए, तू त्रिभुवन-विहारी, वह नित्य परिवर्तनशील, तू उसके परिवर्तन देखने वाला, वह मरने वाला और तू उसके मरण का व्यवस्थापक। तेरा और उसका भेद इतना स्पष्ट होते हुए भी तू इतना संकुचित क्योकर बनता है ? यह क्या कहता है कि इस देह से

जितने संबंध रखते है वही मेरे हैं, और इस देह की मृत्यु के लिए इतना शोक भी क्या करता है ? भगवान् पूछते है कि, "अरे, देह का नाश क्या शोक करने जैसी बात है ?"

देह तो कपडे की तरह है। पुराने फट जाते है इसीसे तो नये धारण किये जा सकते है। यदि कोई एक ही शरीर आत्मा से सदा के लिए चिपका रहता, तो आत्मा की बुरी गत होती। सारा विकास रुक जाता, आनन्द हवा हो जाता और ज्ञान-प्रभा मन्द हो जाती। अतः देह का नाश शोचनीय नही हो सकता। हां, यदि आत्मा का नाश हो सकता होता, तो अलबत्ता वह एक शोचनीय बात होती। पर वह तो अविनाशी है, वह मानो एक अखण्ड बहता हुआ झरना है। उस पर अनेक कलेवर आते और जाते है। इसलिए देह के नाते-रिश्तो के चक्कर मे पडकर शोक करना और ये मेरे तथा ये पराये है, ऐसे भेद या टुकडे करना बिलकुल अनुचित है। देखो, यह सारा ब्रह्माण्ड मानो एक सुन्दर बुनी हुई चादर है। कोई छोटा बच्चा जैसे हाथ मे कैंची लेकर चादर के टुकडे काट देता है वैसे ही इस देह के बराबर कतरन या नमूना लेकर उस विशाल के टुकडे करना कितना बचपन और कितनी हिसा है।

सचमुच यह बडे दु.ख की बात है कि जिस भारत-भूमि मे ब्रह्म-विद्या ने जन्म पाया, उसी मे इन छोटे-बडे दलों, फिरको और जातियो की चारो ओर भरमार दिखाई देती है और मरने का तो इतना डर हमारे मन मे घुस बैठा है कि वैसा शायद ही कही दूसरी जगह हो। इसमे कोई शक नही कि दीर्घकालीन परतंत्रता का ही यह परिणाम है। परन्तु यह बात भूल जाने से भी काम नही चलेगा कि वह इस परतंत्रता का एक कारण भी है।

मरण का तो शब्द भी हमे नहीं सुहाता। मरण का नाम ही हमें अमंगल मालूम होता है। ज्ञानदेव को बड़े दु.ख के साथ लिखना पड़ा है।

"मर शब्द नही हैं सहते, मर जाते है तो रोते।"

फिर जब कोई मर जाता है तो कितना रोना-चिल्लाना मचाते हैं, मानो वह हमारा एक कर्त्तव्य ही हो! यहां तक कि किराये से रोने वाले बुलाने तक बात जा पहुंची है। मृत्यु निकट आ जाने पर भी रोगी को नहीं कहेगे। यदि डाक्टर ने कह दिया है कि यह नही बचने का, तो भी रोगी को अन्धकार मे रखेगे। खुद डाक्टर भी साफ-साफ नही कहेगा, आखिर दम तक पेट मे दवा की शीशियां उंडेलता रहेगा। इसके बजाय यदि सत्य बात बता कर, धीरज-दिलासा देकर उसे ईश्वर-स्मरण की ओर लगाया जाय, तो कितना उपकार हो। किन्तु उन्हे डर यह लगता है कि कही इस धक्के से यह भांडा पहले ही न फूट जाय। परन्तु भला निश्चित समय से पहले यह भांडा फूटने वाला है? और फिर जो भांडा दो घंटे बाद फूटने वाला है, वह थोडा पहले फूट गया, तो उससे बिगड़ा क्या? इसके मानी यह नहीं कि हम कठोर-हृदय और प्रेमविहीन हो जायं। किन्तु साथ ही देहासक्ति को भी प्रेम नही मान लेना चाहिए। उलटा यह समझ लेना चाहिए कि देहासक्ति को दूर कियेबिना सच्चे प्रेम का उदय ही नही हो सकता। जब देहासक्ति चली जायगी, तब यह बात मालूम हो जायगी कि देह तो सेवा का एक साधन है और देह को उसके योग्य प्रतिष्ठा भी प्राप्त होगी। परन्तु आज तो हम देह की पूजा को ही अपना साध्य मान बैठे है। हम यह बात ही भूल गये हैं कि साध्य तो स्वधर्माचरण है। देह को सम्हालने की एवं उसे खिलाने-पिलाने की आवश्यकता यदि है, तो वह स्वधर्माचरण के लिए। केवल जीभ के चोचले पूरा करने के लिए उसकी जरूरत नहीं। चम्मच से चाहे हलुवा परोसो चाहे दाल-भात, उसे उसका कोई सुखदुख नही। ऐसी ही स्थिति जीभ की हो जानी चाहिए—उसे रस-ज्ञान तो होना चाहिए पर सुख-दुःख नहीं। शरीर का भाडा शरीर को चुका दिया, बस खतम। चर्खे से सूत कात लेना है, इसलिए उसे तेल देने की आवश्यकता है। इसी तरह शरीर से काम लेना है, इसलिए उसमें कोयला डालना जरूरी है। इस प्रकार यदि हम देह का उपयोग करे तो मूलतः

न-कुछ होने पर भी उसका मूल्य बढ़ सकता है और उसे प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती है।

इसके विपरीत हम देह को साधन-रूप से काम मे न लाकर उसी मे डूब जाते है और आत्मसंकोच कर लेते है। इससे यह देह जो पहले से ही न-कुछ है और भी अधिक क्षुद्र बन जाती है। इसलिए संत जन दृढतापूर्वक कहते है कि "श्वान-सूकर देह से ही निन्द्य है, अन्यथा सब ही हमारे वन्द्य है।" अरे, तू इस देह की, और देह से जिनका सम्बन्ध हुआ है उन्हीं की दिन-रात पूजा मत कर। दूसरों को भी पहचानना सीख। संत इस प्रकार हमे व्यापक होने की सीख देते है। हम अपने आप्त-इष्ट-मित्र के अतिरिक्त दूसरो के पास अपना आत्मा कुछ भी ले जाते हैं क्या? "जीव मे जीव समाये। आत्मा मे आत्मा मिलाये"— ऐसा हम करते हैं क्या? अपने आत्म-हंस को इस पींजरे के बाहर की हवा खिलाते है क्या?—क्या कभी तेरे मन मे ऐसा आता है कि अपने माने हुए दायरे को छेद कर कल मैने नये दस दोस्त बनाये। आज पन्द्रह हुए। कल पचास होगे। और ऐसा करते-करते एक दिन सारा विश्व ही मेरा और मै विश्व का इस प्रकार अनुभव करने लगूंगा। हम जेल से अपने नाते-रिश्तेदारो को पत्र लिखते हैं। परन्तु इसमे क्या विशेषता है! किन्तु जेल से छूटे हुए किसी नये मित्र—राजनैतिक कैदी नहीं, चोर-कैदी—को पत्र लिखेगे क्या?

सच तो यह है कि हमारा आत्मा व्यापक होने के लिए छटपटाता रहता है। वह चाहता कि सारे जगत के साथ एक हो जाय। परन्तु हम उसे चारो ओर से घेर कर दबा देते है। आत्मा को हमने कैदी ही बना डाला है। उसकी याद तक हमे नही होती। सवेरे से लेकर शाम तक हम देह की ही सेवा मे लगे रहते है। दिन-रात यही विचार कि मेरा यह शरीर कितना मोटा-ताजा था और कितना दुबला हो गया। मानो संसार मे कोई दूसरा आनन्द ही नही। किन्तु भोग और स्वाद का आनंद तो पशु लेते है। अब त्याग और स्वाद-भंग का आनन्द भी देखेगा

या नही ? स्वयं भूख से पीडित होते हुए भी भरी थाली दूसरे मूर्ख मनुष्य को देने मे क्या आनन्द है—इसका अनुभव कर। उसके स्वाद को चख। मां, जब बच्चे के लिए कष्ट पाती है तब उसे इस स्वाद का थोडा बहुत मजा मिलता है। मनुष्य अपना कहकर जो संकुचित दायरा बनाता रहता है उस तक मे उसका उद्देश्य अनजाने यह रहता है कि वह आत्म-विकास का स्वाद चखे। क्योकि उससे देहबद्ध आत्मा थोडा और कुछ देर के लिए उससे बाहर निकलता है। परंतु यह बाहर आना किस प्रकार का है? जिस प्रकार कि जेल की कोठरी के कैदी का जेल के हाते में आना हो। परतु आत्मा का काम इतने से नही चलता। आत्मा को तो मुक्तानन्द चाहिए।

सारांश, (१) साधक को चाहिए कि वह अधर्म और परधर्म के टेढे रास्ते को छोडकर स्वधर्म का सहज और सरल मार्ग पकडे। स्वधर्म का पल्ला वह कभी न छोड़े। (२) यह याद रखे कि देह क्षण-भगुर है और उसका उपयोग स्वधर्म के लिए ही करे। जब आवश्यकता हो तो उसे स्वधर्म के लिए ही खतम भी कर दे। (३) आत्मा की अखण्डता और व्यापकता का भान सतत जाग्रत रखे और चित्त स'स्व'–'पर' के भेद को निकाल डाले। भगवान् ने जीवन के ये मुख्य सिद्धांत बताये है॥ जो मनुष्य इनके अनुसार आचरण करेगा, वह निस्सदेह एक दिन 'नरदेह के ही द्वारा, "सच्चिदानन्द पद धारा" इस अनुभव को प्राप्त हो जायगा।

(४)

भगवान् ने ये तीन सिद्धान्त बताये तो, किन्तु केवल सिद्धान्त बता देने से काम पूरा नही हो सकता। गीता मे वर्णित ये सिद्धान्त तो उपनिषदो और स्मृतियो मे पहले से ही मौजूद है। यदि गीता ने उनको फिर से उपस्थित किया तो इसमें गीता की क्या अपूर्वता रही ? उसकी अपूर्वता तो यह बतलाने मे है कि इन सिद्धान्तो को आचरणो मे कैसे लावे ? इस महाप्रश्न को हल करने में ही गीता की कुशलता है।

जीवन के सिद्धान्तो को व्यवहार में लाने की जो कला या युक्ति है, उसीको योग कहते है। सांख्य का अर्थ है—सिद्धान्त अथवा शास्त्र। और योग का अर्थ है कला। ज्ञानदेव साक्षी देते हैं—"योगियो ने साधी जीवन की कला" गीता सांख्य और योग—शास्त्र और कला—दोनों से परिपूर्ण है। शास्त्र और कला दोनो के योग से जीवन-सौंदर्य खिलता है। कोरा शास्त्र हवाई महल है। संगीत-शास्त्र को समझ तो लिया, किन्तु यदि कण्ठ से संगीत प्रकट करने की कला न सधी, तो नाद ब्रह्म का परिचय बिलकुल नही होगा। यही कारण है कि भगवान् ने सिद्धान्त के साथ ही-साथ उनके विनियोग जानने की कला भी बताई है। तो वह भला कौनसी कला है ? देह को तुच्छ मान कर, आत्मा की अमरता और अखण्डता पर दृष्टि रख कर स्वधर्म का आचरण करने की वह कला कौनसी है ?

जो कर्म करते है उनकी दुहरी भावना होती है। एक तो यह कि अपने कर्म का फल हम अवश्य चखेगे। वह हमारा अधिकार है। और इसके विपरीत दूसरी यह कि यदि हमे फल चखने को नही मिलता हो तो हम कर्म ही नही करेंगे। गीता इन दो के अतिरिक्त एक तीसरी ही भावना या वृत्ति बताती है। वह कहती है—"कर्म तो अवश्य करो, पर फल में अपना अधिकार मत मानो।" जो कर्म करता है उसे फल का अधिकार अवश्य है। परन्तु तुम उस अधिकार को स्वयं ही छोड़ दो। रजोगुण कहता है—"लूंगा तो फल के सहित ही।" और तमोगुण कहता है, "छोड़ूंगा तो कर्म-समेत ही।" ये दोनो एक दूसरे के भाई-ही हैं। अतः तुम इन दोनों से आगे बढ़ कर शुद्ध सत्वगुणी बनो—अर्थात कर्म तो करो, पर फल को छोड़ दो, और फल को छोड़कर कर्म करो। पहले और पीछे कही भी फलाशा मत रखो।

गीता जब यह कहती है कि फलाशा मत रखो, तो साथ ही वह यह जता कर कहती है कि कर्म को उत्तमता और दक्षता से करना चाहिए। सकाम पुरुष के कर्म की अपेक्षा निष्काम पुरुष का कर्म अधिक

अच्छा होना चाहिए। यह अपेक्षा उचित भी है। क्योंकि सकाम पुरुष तो फलासक्त है, इसलिए फल-सम्बन्धी स्वप्न-चिन्तन मे उसका थोडा-बहुत समय और शक्ति अवश्य लगेंगे। परन्तु फलेच्छा-रहित पुरुष का तो प्रत्येक क्षण और सारी शक्ति, कर्म मे ही लगी रहेगी। नदी को छुट्टी नहीं, हवा को विश्राम नही, सूर्य सदैव जलता ही रहना जानता है। इसी प्रकार निष्काम कर्त्ता एक सतत सेवा-कर्म को ही जानता है। अब यदि ऐसे निरन्तर कर्मरत पुरुष का कर्म उत्कृष्ट न होगा, तो किसका होगा? फिर चित्त की समता एक बडा ही कुशल गुण है। और वह तो निष्काम पुरुष की बपौती ही है। किसी एक बिलकुल बाहरी कारीगरी के काम को देखो तो उनमें भी हस्तकौशल के साथ ही जब चित्त के समत्व का सहयोग हो जाता है, तब यह प्रकट है कि वह काम और भी अधिक सुन्दर बन जायगा। इसके अतिरिक्त सकाम और निष्काम पुरुष की कर्म-दृष्टि मे जो अन्तर है, वह भी निष्काम पुरुष के कर्म के अधिक अनुकूल है। सकाम पुरुष कर्म की ओर स्वार्थ-दृष्टि से देखता है। "मेरा ही कर्म और मुझे ही फल" इस दृष्टि के कारण यदि कर्म की ओर से उसका थोडा भी ध्यान हट गया, तो उसमे उसे नैतिक दोष नही मालूम होता। अधिक हुआ तो व्यवहारिक दोष जान पडता है। परन्तु निष्काम पुरुष की तो अपने कर्म के विषय में नैतिक कर्तव्य-बुद्धि रहती है। अतः वह तत्परता से इस बात की सावधानी रखता है कि अपने काम मे थोड़ी सी भी कमी न रह जाय। इसलिए भी उसका कर्म अधिक निर्दोष होगा। किसी भी तरह देखिये, फल-त्याग अत्यन्त कुशल एवं यशस्वी तत्व सिद्ध होता है। अत. फल-त्याग को योग अथवा जीवन की कला कहना चाहिए।

यदि निष्काम कर्म की बात छोड दे तो भी खुद कर्म मे जो आनन्द है वह उसके फल मे नहीं है। अपना कर्म करते हुए जो एक प्रकार की तन्मयता होती है वह आनन्द का एक स्रोत ही है। चित्रकार से कहिए—'चित्र मत बनाओ, इसके बदले तुम जितने चाहो पैसे लेलो',

तो वह नहीं मानेगा। किसान से कहिए—'खेत पर मत जाओ, गायें मत चराओ, मोट मत चलाओ, तुम जितना कहोगे उतना अनाज तुम्हें दे देंगे।' यदि वह सच्चा किसान होगा, तो वह यह सौदा पसन्द न करेगा। किसान प्रातःकाल खेत पर जाता है। सूर्यनारायण उसका स्वागत करते है। पक्षी उसके लिए गाना गाते है। गाय-बैल उसके आसपास घिरे रहते है, वह प्रेम से उन्हे सहलाता है। जो झाड-पेड लगाये है, उसको भर नजर देखता है। इन सब कामो में एक सात्विक आनन्द है। यह आनन्द ही उस कर्म का मुख्य और सच्चा फल है। इसकी तुलना मे उसका बाह्य फल बिलकुल ही गौण है।

गीता जब मनुष्य की दृष्टि कर्म-फल से हटा लेती है, तो वह इस तरकीब से कर्म मे उसकी तन्मयता सौ गुना बढा देती है, फल-निरपेक्ष पुरुष की कर्म-विषयक तन्मयता समाधि के दर्जे की होती है। कारण उसका आनन्द औरो से सौ-गुना अधिक होता है। इस तरह देखे तो यह बात तुरन्त समझ मे आ जाती है कि निष्काम कर्म स्वतः ही एक फल है। ज्ञानदेव ने यह ठीक ही पूछा है—"वृक्ष में फल लगते है, पर फल मे अब और क्या फल लगेंगे?" इस देह-रूपी वृक्ष में निष्काम स्वधर्माचरण-जैसा सुन्दर फल लग चुकने पर अब और किसी फल की ओर क्यो अपेक्षा रखे? किसान खेत मे गेहूँ बोये और गेहूँ बेच कर ज्वार की रोटी क्यों खाये? सुस्वादु केले लगाये और उन्हें बेचकर मिर्च क्यो खाये? अरे भाई, तुम केले ही खाओ न? पर लोकमत को को यह स्वीकार नहीं। देखो तो, केले खाने का भाग्य लेकर भी लोग मिर्च पर ही टूटते हैं। इसीलिए गीता कहती है—"तुम ऐसा मत करो, कर्म को ही खाओ, कर्म को ही पियो और कर्म को ही पचाओ।" बस कर्म करने मे ही सब-कुछ आ जाता है। बच्चा खेलने के आनन्द के लिए खेलता है। इससे उसे व्यायाम का फल अपने आप ही मिल जाता है। परन्तु उस फल की ओर उसका ध्यान नहीं रहता। उसका सारा आनन्द उस खेल में ही रहता है।

(४)

सन्त-जनो ने अपने जीवन के द्वारा यह बात सिद्ध कर दी है। तुकाराम का उदाहरण लीजिए। उनके भक्ति-भाव को देखकर शिवाजी महाराज के मन मे उनके प्रति बहुत आदर हो गया था। एक बार उन्होंने तुकाराम के घर पालकी भेजकर उनके स्वागत का आयोजन किया। परन्तु तुकाराम को अपने स्वागत की यह तैयारी देखकर भारी दु:ख हुआ। उन्होने अपने मन मे कहा—"मेरी भक्ति का क्या यह फल ? क्या इसी के लिए मै भक्ति करता था ?" उनको ऐसा प्रतीत हुआ मानो भगवान मान-सम्मान का यह फल मेरे हाथ मे रखकर मुझे अपने से दूर हटा रहा है। उन्होने कहा—

"जानते हो अन्तर, फिर टालते हो क्यो कर ?
यह ऐब तेरी दुखकर, है पांडुरंग खोटी।"

भगवान् तुम्हारी यह आदत अच्छी नही। तुम मुझे यह घुंघची के दाने देकर टरकाना चाहते हो। मन मे सोचते होगे कि इस आफत को निकाल ही दूं न ? परन्तु मै भी कच्चे गुरु का चेला नही हूं। मै तुम्हारे पांव जोर से पकड कर बैठ जाऊंगा। भक्ति ही भक्त का स्वधर्म है। और भक्ति में इधर-उधर के अवान्तर फांटे न फूटने देना ही उसकी जीवन-कला है।

पुण्डलीक का चरित्र फल-त्याग का इससे भी गहरा आदर्श सामने रखता है। पुण्डलीक अपने मां-बाप की सेवा कर रहा था। उसकी सेवा से प्रसन्न होकर पाडुरग उसकी भेंट के लिए भागे आये। परन्तु पुण्डलीक ने पांडुरंग के चक्कर मे पडकर अपने उस सेवा-कार्य को छोडने से इन्कार कर दिया। अपने मा-बाप की यह सेवा हार्दिक ईश्वर-भक्ति थी। कोई लडका यदि दूसरो को लूट-खसोट कर अपने मां-बाप को सुख पहुचाता हो, अथवा कोई देश-सेवक दूसरे देश का द्रोह करके अपने देश का उत्कर्ष चाहता हो, तो दोनो की इस भक्ति को भक्ति नही कह सकते, वह तो आसक्ति हुई। पुण्डलीक ऐसी आसक्ति में फँसा नही।

उसने कहा कि परमात्मा जिस रूप को धारण कर मेरे सामने खडा हुआ है, क्या वह इतना ही है ? उसका यह रूप दिखाई देने के पहले सृष्टि क्या शून्य थी ? वह भगवान् से बोला—

"भगवान्, आप स्वयं मुझे दर्शन देने के लिए आये है; पर मै भी पक्का सिद्धांती हूँ। आप ही अकेले भगवान् हं, ऐसा मै नही मानता। मेरे लिए तो आप भी भगवान् है और ये माता-पिता भी। इनकी सेवा मे लगे रहने के कारण मै आपकी ओर ध्यान नही दे पाया, इसके लिए क्षमा कीजिये।" इतना कहकर उसने भगवान् के खड़े रहने के लिए एक ईंट सरका दी और स्वयं उसी सेवा-कार्य मे निमग्न हो रहा। तुकाराम इस प्रसंग को लेकर बडे कुतूहल और विनोद-पूर्वक कहते है—

"कैसा तू रे पागल प्रेमी, खडा रखा जो विट्ठल को।
ऐसा कैसा ढीठ साहसी, ईंट बिछाई विट्ठल को ?"

पुण्डलीक ने जिस सिद्धांत का उपयोग किया, वह फल त्याग की युक्ति का एक अंग है। फल-त्यागी पुरुष की कर्म-समाधि जैसी गम्भीर होती है, वैसी ही उसकी वृत्ति व्यापक, उदार और सम रहती है। इस कारण वह विविध तत्व-ज्ञान के जंजाल मे नही पड़ता और न अपना सिद्धान्त छोडता है। "नान्यदस्तीति वादिनः"—यही है, दूसरा बिलकुल नही, ऐसा विवाद वह उत्पन्न नहीं करता। किन्तु 'यह भी सही है और वह भी सही है; परन्तु मेरे लिए तो यही सही है' ऐसी उसकी नम्र और निश्चयी वृत्ति रहती है। एक बार एक गृहस्थ एक साधु के पास गया और उससे पूछा—"मोक्ष प्राप्ति के लिए क्या घर-बार छोडना आवश्यक है ?" साधु ने कहा—"नही तो, देखो जनक जैसो ने जब राजमहल मे रह कर मोक्ष प्राप्त कर लिया, तो फिर तुमको घर छोडने की क्या आवश्यकता है ?" फिर दूसरा मनुष्य आया और साधु से बोला—"स्वामी जी, घर-बार छोड़े बिना क्या मोक्ष मिल सकती है ?" साधु ने कहा—"कौन कहता है ? यों घर मे रहकर सेंत-मेत मे ही मोक्ष मिलता होता, तो शुक जैसों ने जो घर-बार छोडा तो क्या वे

उसने कहा कि परमात्मा जिस रूप को धारण कर मेरे सामने खडा हुआ है, क्या वह इतना ही है ? उसका यह रूप दिखाई देने के पहले सृष्टि क्या शून्य थी ? वह भगवान् से बोला—

"भगवान्, आप स्वयं मुझे दर्शन देने के लिए आये है; पर मै भी पक्का सिद्धांती हूं। आप ही अकेले भगवान् है, ऐसा मै नही मानता। मेरे लिए तो आप भी भगवान् है और ये माता-पिता भी। इनकी सेवा मे लगे रहने के कारण मै आपकी ओर ध्यान नही दे पाया, इसके लिए क्षमा कीजिये।" इतना कहकर उसने भगवान् के खडे रहने के लिए एक ईंट सरका दी और स्वयं उसी सेवा-कार्य मे निमग्न हो रहा। तुकाराम इस प्रसंग को लेकर बडे कुतूहल और विनोद-पूर्वक कहते है—

"कैसा तू रे पागल प्रेमी, खडा रखा जो विट्ठल को।
ऐसा कैसा ढीठ साहसी, ईंट बिछाई विट्ठल को ?"

पुण्डलीक ने जिस सिद्धांत का उपयोग किया, वह फल त्याग की युक्ति का एक अंग है। फल-त्यागी पुरुष की कर्म-समाधि जैसी गम्भीर होती है, वैसी ही उसकी वृत्ति व्यापक, उदार और सम रहती है। इस कारण वह विविधि तत्व-ज्ञान के जंजाल मे नही पडता और न अपना सिद्धान्त छोडता है। "नान्यदस्तीति वादिनः"—यही है, दूसरा बिलकुल नहीं, ऐसा विवाद वह उत्पन्न नही करता। किन्तु 'यह भी सही है और वह भी सही है; परन्तु मेरे लिए तो यही सही है' ऐसी उसकी नम्र और निश्चयी वृत्ति रहती है। एक बार एक गृहस्थ एक साधु के पास गया और उससे पूछा—"मोक्ष प्राप्ति के लिए क्या घर-बार छोडना आवश्यक है ?" साधु ने कहा—"नहीं तो, देखो जनक जैसो ने जब राजमहल मे रह कर मोक्ष प्राप्त कर लिया, तो फिर तुमको घर छोडने की क्या आवश्यकता है ?" फिर दूसरा मनुष्य आया और साधु से बोला—"स्वामी जी, घर-बार छोडे बिना क्या मोक्ष मिल सकती है ?" साधु ने कहा—"कौन कहता है ? यो घर मे रहकर सेत-मेत मे ही मोक्ष मिलता होता, तो शुक जैसों ने जो घर-बार छोडा तो क्या वे

मूर्ख थे ?" बाद को उन दोनो मनुष्यों की जब एक-दूसरे से मुलाकात हुई तो दोनो मे बडा झगडा मचा। एक कहने लगा, साधु ने घर-बार छोडने के लिए कहा है। दूसरे ने कहा—नही, उन्होने कहा है कि घर-बार छोडने की आवश्यकता नही है। तब दोनो साधु के पास आये। साधु ने कहा—"दोनो का कहना ठीक है। जैसी जिसकी भावना, वैसा ही उसका मार्ग। और जिसका जैसा प्रश्न वैसा ही उसका उत्तर। घर छोडने की जरूरत है, यह भी सत्य है और घर छोडने की जरूरत नहीं है यह भी सत्य है।" इसीको कहते है सिद्धांत।

पुण्डलीक के उदाहरण से यह मालूम हो जाता है कि फल-त्याग किस मंजिल तक पहुंचनेवाला है। तुकाराम को जो न-कुछ प्रलोभन भगवान् देना चाहते थे, उससे पुंडलीक वाला लालच बहुत ही मोहक था। परन्तु वह उसपर भी मोहित नहीं हुआ। यदि हो जाता तो फंस जाता। अतः एक बार साधन का निश्चय होजाने पर फिर अंत तक उसका आचरण करते रहना चाहिए। बीच मे प्रत्यक्ष भगवान् के दर्शन-जैसी बाधा खडी हो जाय तो भी उसके लिए साधन छोड़ने की आवश्यकता न होनी चाहिए। देह बची है, तो वह साधन के लिए है। भगवान् का दर्शन तो सामने ही है, वह जाता कहां है ?

"सर्वात्म-भाव मेरा; हां कौन छीन ले अब,
तेरी ही भक्ति मे मन मेरा रंगा हुआ जब ?"

इस भक्ति को प्राप्त करने के लिए हमे यह जन्म मिला है। "माते संगोऽस्त्वकर्मणि" इस गीता वचन का अर्थ यहां तक जाता है कि निष्काम कर्म करते हुए अकर्म की—अर्थात् अंतिम कर्म-मुक्ति की, याने मोक्ष की भी, वासना मत रख। वासना से छुटकारा ही तो मोक्ष है। मोक्ष को वासना से क्या लेना-देना ? जब फल-त्याग इस मंजिल तक पहुंच जाता है तब समझो कि जीवन-कला की पूर्णिमा आ पहुची।

(६)

गीता ने शास्त्र बतला दिया, कला भी बतला दी, किंतु इतने भर से सारा चित्र आंखों के सामने खडा नहीं रहता। शास्त्र निर्गुण है, कला सगुण है; परंतु सगुण भी साकार हुए विना व्यक्त नही होता। निर्गुण जैसे केवल हवा मे रहता है, उसी तरह निराकार सगुण की हालत भी हो सकती है। इसका उपाय है जिस गुणी मे गुण मूर्तिमान हुआ है उसका दर्शन। इसीलिए अर्जुन कहता है—"भगवन्, आपने जीवन के मुख्य सिद्धांत बता दिये, उन सिद्धांतो को आचरण मे लाने की कला भी बतला दी, तो भी उसका स्पष्ट चित्र मेरे सामने खडा नही होता। अतः मुझे अब इसके उदाहरण दीजिए, चरित्र सुनाइए। ऐसे पुरुषों के लक्षण बताइए जिनकी बुद्धि मे सांख्य-निष्ठा स्थिर होगई है। फल-त्याग-रूपी योग जिनकी रग-रग मे व्याप्त होगया है—जिन्हे हम स्थित-प्रज्ञ कहते हैं, जो फल-त्याग की पूरी गहराई दिखलाते हैं, कर्म-समाधि में मग्न है, निश्चय के महा-मेरु है। वे वालते कैसे है, चलते कैसे है, यह सब मुझे बताइए। वह मूर्ति कैसी होती है, उसे कैसे पहचानें? यह सब कहिए भगवन्!"

इसके लिए भगवान् ने दूसरे अध्याय के अंतिम १८ श्लोको मे स्थित-प्रज्ञ का गम्भीर और उदात्त चरित्र चित्रित किया है। मानो इन अठारह श्लोको मे गीता के १८ अध्यायों का सार ही एकत्र कर दिया है।

स्थित-प्रज्ञ गीता की आदर्श-मूर्ति है। यह शब्द भी गीता का अपना स्वतन्त्र है। आगे ५ वे अध्याय मे जीवन-मुक्त का, १२ वे में भक्त का, १४ वे मे गुणातीत का और १८ वें मे ज्ञान-निष्ठा का ऐसा ही वर्णन आया है। परंतु स्थित-प्रज्ञ का वर्णन इन सबसे अधिक सविस्तर और खोलकर किया है। उनमे सिद्ध-लक्षण के साथ-साथ साधक-लक्षण भी बताये है। हजारो सत्याग्रही स्त्री-पुरुष सायंकालीन प्रार्थना मे इन लक्षणों का पाठ करते है। यदि प्रत्येक गांव व प्रत्येक घर में वे पहुचाये जा सकें, तो कितना आनंद हो! परंतु पहले जब वे हमारे हृदय मे बैठे,

तो वे बाहर अपने आप पहुंच जायंगे। नित्य पाठ की चीज यदि यांत्रिक होगई तो फिर वह चित्त मे अंकित होने की जगह उलटी मिट जायगी। यह दोष नित्य-पाठ का नहीं, मनन न करने का है। नित्य-पाठ के साथ ही साथ नित्य-मनन और नित्य-आत्म-परीक्षण आवश्यक है।

स्थित-प्रज्ञ कहते है स्थिर बुद्धिवाले मनुष्य को, यह तो उसका नाम ही बता रहा है। परंतु संयम के बिना बुद्धि स्थिर होगी कैसे? अतः स्थित-प्रज्ञ को संयम मूर्ति बताया है। बुद्धि तो हो आत्मनिष्ठ, और अंतर-बाह्य इंद्रियां बुद्धि के अधीन हों—यह है संयम का अर्थ। स्थित-प्रज्ञ सारी इंद्रियो को लगाम चढाकर उन्हे कर्मयोग मे जोतता है। इंद्रिय-रूपी बैलो से वह निष्काम स्वधर्माचरण की खेती भलीभांति करा लेता है। अपना प्रत्येक श्वासोच्छ्वास वह परमार्थ मे खर्च करता रहता है।

यह इंद्रिय-संयम आसान नही है। इंद्रियो से बिलकुल काम ही न लेना एक बार आसान हो सकता है। मौन, निराहार आदि बाते इतनी कठिन नही है; बल्कि इंद्रियो को खुला छोड देना तो सबके लिए सधा-सधाया ही रहता है। परंतु जिस प्रकार कछुवा खतरे की जगह अपने तमाम अवयवो को भीतर छिपा लेता है और निर्भय स्थान पर उनसे काम लेता है इसी तरह विषयभोगो से इंद्रियो को समेट लेना और पर-मार्थ के काम मे उनका उचित उपयोग करना यह संयम विकट है। इसके लिए महान प्रयत्न की जरूरत है। ज्ञान भी चाहिए। परंतु इतना होने पर भी ऐसा नही है कि वह अच्छी तरह सध ही जायगा। तब क्या हम निराश हो जायं? नही, साधक को कभी निराश न होना चाहिए। वह साधक की अपनी सब युक्तियां काम मे लाए और फिर भी कमी रह जाय तो उसमे भक्ति को जोड दे। यह बडा कीमती सुझाव भगवान् ने स्थित-प्रज्ञ के लक्षणो मे दिया है। हां, वह दिया है गिने-गिनाये शब्दों में ही। परंतु गाडीभर व्याख्यानो की अपेक्षा वह अधिक कीमती है। क्योकि जहां भक्ति की अचूक आवश्यकता है वही वह उपस्थित की गई है। स्थित-प्रज्ञ के लक्षणो का सविस्तर वर्णन हमे आज यहां नही करना

है। परंतु हम अपनी इस सारी साधना में भक्ति का अपना निश्चित स्थान कहीं भूल न जायं, इसके लिए उसकी ओर ध्यान दिला दिया। अब पूर्ण स्थित-प्रज्ञ इस जगत में कौन हो गया है, सो तो भगवान् ही जानें। परंतु सेवा-परायण स्थित-प्रज्ञ के उदाहरण के रूप मे पुंडलीक की मूर्ति सदैव मेरी आँखो के सामने आती रहती है। और वह मैने आपके सामने रख भी दी है।

अच्छा अब स्थित-प्रज्ञ के लक्षण पूरे हुए और दूसरा अध्याय भी समाप्त हुआ।

(निर्गुण) सांख्य-बुद्धि + (सगुण) योग-बुद्धि + (साकार) स्थित-प्रज्ञ
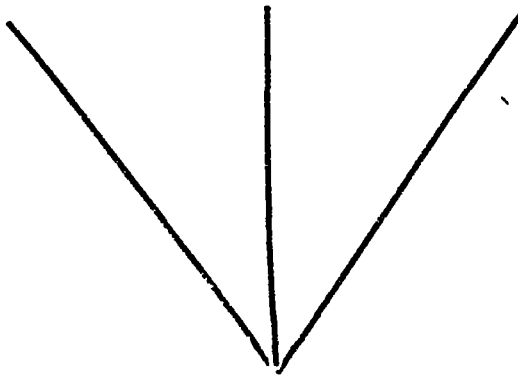
इसमें से ब्रह्म-निर्माण उर्फ मोक्ष के सिवा दूसरा क्या फलित हो सकता है?

तीसरा अध्याय

रविवार, ६-३-३२

(१)

भाइयो, दूसरे अध्याय मे हमने सारे जीवन-शास्त्र पर निगाह डाली। अब इस तीसरे अध्याय मे इसी जीवन-शास्त्र का स्पष्टीकरण करना है। पहले हमने तत्वो का विचार किया, अब उनकी तफसील मे जायंगे। पिछले अध्याय मे कर्म-योग-संबंधी विवेचन किया था। कर्मयोग मे महत्त्व की वस्तु है फल-त्याग। यह फल-त्याग तो समझ मे आगया, परंतु प्रश्न यह उठता है कि फल मिलता भी है या नही? अत. तीसरे अध्याय मे कहते है कि कर्म-फलो को छोडने से कर्मयोगी उलटा अनंत गुना फल प्राप्त करता है।

यहां मुझे लक्ष्मी की एक कथा याद आती है। उसका था स्वयंवर। सारे देव-दानव बडी आशा बाधे आये थे। लक्ष्मी ने अपना प्रण प्रकट नही किया था। सभा-मण्डप मे आकर वह बोली—"मै उसीके गले में वरमाला डालूंगी जिसे मेरी चाह न होगी।" अब वे तो सब थे लालची। लक्ष्मी ऐसा निस्पृह वर खोजने लगी। इतने मे शेषनाग पर शान्त भाव से लेटी हुई भगवान् विष्णु की मूर्ति उसे दिखाई दी। उसके गले में वरमाला डालकर वह आज तक उनके पैर दबाती हुई बैठी हैं। 'जो न चाहे उसकी, होती रमा दासी' यही तो खूबी है।

साधारण मनुष्य अपने फल के आसपास कांटे की बाड़ लगाता है। पर इससे वह अनंतरूप से मिलने वाला फल गवां बैठता है। सांसारिक

मनुष्य अपार कर्म करके अल्प-फल प्राप्त करता है। पर कर्मयोगी अनंत गुना। यह फर्क सिर्फ एक भावना के कारण होता है। टॉल्स्टाय ने एक जगह कहा—"लोग ईसा-मसीह के बलिदान की बहुत स्तुति करते हैं। परंतु ये संसारी जीव तो रोज न जाने कितना अपना खून सुखाते है, दौड-धूप करते है! पूरे दो गधो का बोझ अपनी पीठ पर लाद कर चक्कर काटने वाले ये संसारी जीव, इन्हे ईसा से कितना गुना ज्यादा कष्ट, कितनी ज्यादा इनकी दुर्गति! यदि ये इनसे आधे भी कष्ट भगवान् के लिए उठावें, तो सचमुख ईसा से भी बढ जायंगे।

संसारी मनुष्य की तपस्या सचमुच बडी होती है, परन्तु वह होती है न-कुछ फलो के खातिर। जैसी वासना वैसा ही फल। अपनी चीज को जो कीमत हम आंकते है, उससे ज्यादा कीमत संसार मे नही होती। सुदामा चिवडा लेकर भगवान् के पास गये। उस मुट्ठी-भर चिवडे की कीमत एक धेला भी शायद न हो—परन्तु सुदामा को वे अमोल मालूम होते थे। क्योकि उनमे भक्तिभाव था। वे अभिमंत्रित थे। उनके एक-एक कण मे भावना थी। चीज भले ही क्षुद्र क्यो न हो, मंत्र से उस का मोल, उसका सामर्थ्य बढ जाता है। नोट का वजन भला कितना होगा? उसे जलावे तो एक बूंद पानी भी शायद ही गरम हो। पर उस पर एक मुहर लगी रहती है। उसीसे उसकी कीमत होती है।

कर्मयोग मे भी यही सारी खूबी हैं। कर्म को नोट ही समझो। भावना-रूपी जो मुहर है उसी की कीमत उसमें है। कर्म को कागज के टुकडे की तरह समझो। एक तरह से यह मै मूर्ति-पूजा का ही रहस्य बतला रहा हूँ। मूर्ति-पूजा की कल्पना में बडा सौन्दर्य है। इस मूर्ति को कौन तोड-फोड सकता है? यह मूर्ति शुरूआत मे एक टुकडा ही तो थी। मैने इसमें प्राण डाला। अपनी भावना डाली। भला इस भावना के कोई टुकड़े कर सकता है? तोड़-फोट पत्थर की हो सकती है, भावना की नहीं। जब मैं अपनी भावना मूर्ति में से निकाल लूंगा, तभी वहां पत्थर बाकी बच रहेगा, व तभी उसके टुकड़े हो सकते हैं।

कर्म का अर्थ हुआ पत्थर या कागज का टुकड़ा। मेरी मां ने कागज की एक चिट पर दो-चार टेढ़ी-मेढी सतरे लिख कर भेज दी, व दूसरे किसी शख्स ने पचास पन्नो मे अगट-शगट लेख लिखकर भेजा। अब वजन किसका ज्यादा होगा ? परन्तु मां की उन चार सतरो मे जो भाव है वह अनमोल है, पवित्र है। उसकी बराबरी वह रद्दी नही कर सकती। कर्म को तरी चाहिए। भावना चाहिए। हम मजदूर के काम की एक कीमत लगाते है और उसे मजूरी दे देते है। परन्तु दक्षिणा की बात ऐसी नही है। दक्षिणा भिगो कर दी जाती है। दक्षिणा के सम्बन्ध मे यह प्रश्न नही उठता कि कितनी दी ? बल्कि मार्के की बात जो देखी जाती है वह यह है कि वह भिगो कर दी गई है या नही। मनुस्मृति मे एक बडी मजेदार बात कही है। एक शिष्य बारह साल गुरु-गृह मे रह कर पशु से मनुष्य हुआ। अब वह गुरु-दक्षिणा क्या दे ? प्राचीन समय मे पहले ही फीस नही ले ली जाती थी। बारह साल पढ चुकने के बाद गुरु को जो कुछ देना हो सो दिया जाता था। मनु कहते है—चढा दो गुरुजी को एकाध पत्र-पुष्प, दे दो एक पंखा या खड़ाऊं, या पानी का कलसा। इसे आप मजाक मत समझिए क्योकि जो कुछ देना है, श्रद्धा का चिन्ह समझ कर देना है। फूल मे भला क्या वजन है ? परन्तु उस भक्ति-भाव मे ब्रह्माण्ड के बराबर वजन है।

"रुक्मिणी ने तुलसी-दल से
तोला प्रभु गिरिधर को।"

सत्यभामा के मन भर गहनो से काम नही चला। परन्तु भाव-भक्ति से पूर्ण एक तुलसीपत्र जब रुक्मिणी माता ने पलडे मे डाल दिया तो सारा काम बन गया। वह तुलसी-पत्र अभिमन्त्रित था। अब वह मामूली नही रह गया था। कर्मयोग के कर्म की भी यही बात है।

ऐसी कल्पना करो कि दो व्यक्ति गंगा-स्नान करने गये है। उनमे से एक कहता है—लोग गंगा-गंगा जो कहते हैं सो उसमे है क्या ? दो हिस्से हायड्रोजन, एक हिस्सा आक्सीजन, ये दो गैस एकत्र कर दिये, यही

गंगा हो गई। इससे अधिक उसमे क्या है।" दूसरा कहता है—"भगवान् विष्णु के पद-कमलो से यह निकली है, शंकर के जटाजूट मे इसने वास किया है, हजारो बरस ऋषि व राजर्षियों ने इसके तीर पर तपस्या की है, अनंत पुण्य-कृत्य इसके किनारे हुए है—ऐसी यह पवित्र गंगा माई है। "गंगे,तव दर्शनान्मुक्तिः।" इस भावना से अभिभूत होकर वह उसमे नहाता है। वह ऑक्सिजन-हायड्रोजन वाला भी नहाता है। अब देह-शुद्धि रूपी फल तो दोनो को मिला ही। परन्तु उस भक्त को देह शुद्धि के साथ ही चित्त-शुद्धि-रूपी फल भी मिला। यो तो गंगा मे बैल भी नहाये तो उसे देह-शुद्धि प्राप्त होगी। शरीर की गन्दगी निकल जायगी। परन्तु मन का मैल कैसे धुलेगा? एक को देह-शुद्धि का तुच्छ फल मिला, दूसरे को, उसके अलावा भी, चित्त-शुद्धि-रूपी अनमोल फल मिला।

स्नान करके सूर्य-नमस्कार करने वाले को व्यायाम का फल तो मिलेगा ही। परन्तु वह आरोग्य के लिए नमस्कार नही करता है, उपासना के लिए करता है। इससे उसके शरीर को तो आरोग्य-लाभ होता ही है, परन्तु बुद्धि की प्रभा भी बढती है। आरोग्य के साथ ही स्फूर्ति व प्रतिभा भी उसे सूर्य-नारायण से मिलेगी।

कर्म तो वही है, परन्तु भावना-भेद से उसमे अन्तर पड जाता है। परमार्थी मनुष्य का कर्म आत्म-विकासक होता है; संसारी मनुष्य का कर्म आत्म-बंधक सिद्ध होता है। कर्मयोगी यदि किसान होगा तो वह स्वधर्म समझ कर खेती करेगा। इससे उसकी पेट-पूर्ति अवश्य होगी; परन्तु वह इसलिए कर्म नहीं करता है कि उसकी उदर-पूर्ति हो। बल्कि भोजन को वह एक साधन मानेगा, जिससे उसका शरीर खेती करने योग्य रहता है। स्वधर्म उसका साध्य व भोजन उसका साधन हुआ। परन्तु जो दूसरा किसान होगा, उसके लिए उदर-पूर्ति साध्य व खेती-रूपी स्वधर्म उसका साधन होगा। ऐसी यह एक-दूसरे से उल्टी अवस्था है।

दूसरे अध्याय मे, स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताते हुए यह बात मजेदार ढंग से कही गई है। जहां दूसरे लोग जाग्रत रहते है वहां कर्मयोगी सोता रहता है। और जहां दूसरे लोग निद्रित रहते है वहां कर्मयोगी जाग्रत रहता है। हम उदरपूर्ति के लिए जाग्रत रहेगे, तो कर्मयोगी इस बात के लिए जाग्रत रहेगा कि उसका एक क्षण भी बिना कर्म के न जाय। वह खाता भी है तो मजबूर होकर। इस पेट के हांडे मे इसीलिए कुछ डालता है कि डालना जरूरी है। संसारी मनुष्य को भोजन मे आनन्द आता है, योगी को भोजन करते हुए कष्ट होता है। इसलिए वह स्वाद ले-लेकर भोजन नही करेगा। संयम से काम लेगा। एक की जो रात, वही दूसरे का दिन, और एक का जो दिन, वही दूसरे की रात। अर्थात् जो एक का आनन्द वही दूसरे का दु:ख, व जो एक का दुख वही दूसरे का आनन्द हो जाता है। संसारी व कर्मयोग दोनो के कर्म तो एक-से ही है, परन्तु कर्मयोगी की विशेषता यह है कि वह फलासक्ति छोडकर कर्म मे ही रहा रहता है। संसारी की तरह योगी खायेगा, पियेगा सोयेगा। परन्तु तत्सम्बन्धी उसकी भावना भिन्न होगी। इसलिए तो आरंभ मे ही स्थितप्रज्ञ की संयम-मूर्ति खडी कर दी गई है, जब कि गीता के अभी १६ अध्याय बाकी है।

संसारी पुरुष व कर्मयोगी दोनो के कर्मों का साम्य व वैषम्य उसी समय दिखाई दे जाता है। फर्ज कीजिए कि कर्मयोगी गोरक्षा का काम कर रहा है। तो वह किस दृष्टि से करेगा? उसकी यह भावना रहेगी कि गो-सेवा करने से समाज को भरपूर दूध मिलेगा, गाय के बहाने मनुष्य से निचली पशु-सृष्टि से प्रेम-सम्बन्ध जुड़ेगा। यह नही कि मुझे वेतन मिलेगा। वेतन तो कही गया नही है, परन्तु असली आनन्द, सच्चा सुख, इस दिव्य भावना मे है।

कर्मयोगी का कर्म उसे इस विश्व के साथ समरस कर देता है। हमने नियम बना लिया—तुलसी को पानी पिलाये बिना भोजन नही करेंगे। यह वनस्पति सृष्टि के साथ हमने प्रेम-सम्बन्ध जोड़ा है। तुलसी को

भूखा रखकर मै कैसे पहले खा लूं ? इस तरह गाय के साथ एक-रूपता, वनस्पति के साथ एक-रूपता साधते हुए हमे सारे विश्व से एक-रूपता साधनी है। देखो, भारतीय युद्ध में शाम होते ही और लोग तो सायं-सन्ध्या करने के लिए चले जाते है, परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण रथ के घोडे छोडकर उन्हे पानी दिखाते हैं, खुर्रा करते है, उनके शरीर से शल्य निकालते है। उस सेवा मे भगवान को कितना आनन्द आता था। कवि यह वर्णन करते हुए अघाते ही नही। अपने पीताम्बर मे चंदी लेकर घोडो को देने वाले उस पार्थ-सारथी का चित्र अपनी आंखो के सामने खडा कीजिए तो आपको कर्मयोग के आनन्द की कुछ कल्पना हो सकेगी। प्रत्येक कर्म मानो आध्यात्मिक, उच्चतर पारमार्थिक कर्म। खादी के ही काम को लीजिए। कन्धे पर खादी की गांठ रखकर फेरी करने वाला क्या ऊब नहीं जाता ? नही, क्योंकि वह इस विचार मे मस्त रहता है कि देश मे जो मेरे करोडो नंगे-भूखे भाई-बहन है उन्हे मुझे दो रोटी खिलाना है। उसके एक वार खादी बेचने का योग समस्त दरिद्रनारायण के साथ हो गया है।

(२)

निष्काम कर्मयोग का सामर्थ्य अद्भुत है। ऐसे कर्म से व्यक्ति व समाज दोनो का परम कल्याण होता है। स्वधर्माचरण करने वाले कर्म-योगी की शरीर-यात्रा तो चलती ही है; सदा-सर्वदा उद्योग-रत रहने के कारण उसका शरीर नीरोग व स्वच्छ रहता है—परन्तु उसके इस कर्म की बदौलत उसके समाज का भी, जिसमे वह रहता है, अच्छी तरह योग-क्षेम चलता है। कर्मयोगी किसान, इसलिए कि पैसे ज्यादा मिलेंगे, अफीम व तम्बाकू नहीं बोयेगा। क्योंकि वह अपने इस कर्म का सम्बन्ध समाज-मंगल के साथ जोडे हुए है। स्वधर्म-रूप कर्म समाज के लिए हितकारी ही होगा। जो व्यापारी यह मानता है कि मेरा यह व्यवहार-रूप कर्म समाज के हित के लिए है वह कभी विदेशी कपड़ा नहीं बेचेगा। उसका व्यापार समाजोपकारक होगा। खुद को भूलकर अपने

आसपास के समाज से समरस होने वाले कर्मयोगी जिस समाज में पैदा होते है, उसमे सुव्यवस्था, समृद्धि व सौमनस्य रहते है।

कर्मयोगी के कर्म के फलस्वरूप उसकी शरीर-यात्रा चलकर देह व बुद्धि सतेज रहते है और समाज का भी कल्याण होता है। इन दो फलो के अलावा चित्त-शुद्धि रूपी जो महान् फल मिलता है सो नफे मे। 'कर्मणा शुद्धि.' ऐसा कहा गया है। कर्म चित्त-शुद्धि का साधन है। परन्तु वह सब लोगो का मामूली कर्म नही है। कर्मयोगी जो अभिमंत्रित कर्म करता है उससे चित्त-शुद्धि होती है। महाभारत मे तुलाधार वैश्य की कथा है। जाजलि नामक एक ब्राह्मण तुलाधार के पास ज्ञान-प्राप्ति के लिए जाता है। तुलाधार उससे कहता है—"भैया, इस तराजू की डण्डी को सदा सीधा रखना पडता है।" इस बाह्य कर्म को करते हुए तुलाधार का मन भी सीधा सरल होगया। छोटा बच्चा दुकान में आजाय या जवान आदमी, उसकी डण्डी सबके लिए एक-सी रहती है, न ऊंची न नीची। उद्योग का मन पर भी परिणाम होता है। कर्मयोगी के कर्म को एक प्रकार का जप ही समझो। उससे उसकी चित्त-शुद्धि होती है और निर्मल चित्त मे ज्ञान का प्रतिबिम्ब पडता है। अपने भिन्न-भिन्न कर्मों से कर्मयोगी अन्त को ज्ञान प्राप्त करते है। तराजू की डण्डी से तुलाधार को समवृत्ति मिली। सेना नाई बाल बनाया करता था। दूसरो के सिर का मैल निकालते-निकालते उसे ज्ञान हुआ—"देखो, मै दूसरों के सिर का तो मैल निकालता हूं, परन्तु क्या खुद कभी अपने सिर का, अपनी बुद्धि का भी मैल मैंने निकाला है?" ऐसी आध्यात्मिक भाषा उसे उस कर्म से सूझने लगी। खेत का कचरा निकालते-निकालते कर्मयोगी को खुद अपने हृदय की वासना-विकार रूपी कचरा निकालने की बुद्धि उपजती है। कच्ची मिट्टी को रौंद-रौंद कर समाज को पक्की हंडिया देने वाला गोरा कुम्हार उससे यह शिक्षा लेता है कि मुझे भी अपने जीवन की पक्की हंडिया इसी तरह बना लेनी चाहिए। इस तरह वह हाथ में थपकी लेकर 'हंडिया कच्ची है या पक्की' यों सन्तो की

परीक्षा लेने वाला परीक्षक बन जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि कर्मयोगी जिन-जिन कर्मो को या धन्धों को करता है उन्हीं की भाषा में से उसे भव्य ज्ञान प्राप्त हुआ है। वे कर्म या धन्धे क्या थे, मानो उनकी अध्यात्म-शाला ही थे। उनके वे कर्म उपासनामय, सेवामय थे। वे दीखने मे वैसे व्यावहारिक ही दीखते थे, परन्तु भीतर से वे वास्तव में आध्यात्मिक थे।

कर्मयोगी के कर्म से एक और भी उत्तम फल मिलता है, और वह है समाज को एक आदर्श का मिलना। समाज में यह भेद तो हुई है कि यह पहले जन्मा है, व यह बाद को। जिनका जन्म पहले हुआ है उनके जिम्मे बाद मे पैदा होने वालो को शिक्षा देने का, उनके लिए उदाहरण बन जाने का काम रहता है। बडे भाई पर छोटे भाई को, मां-बाप पर बेटा-बेटी को, नेता पर अनुयायियो को, गुरु पर शिष्य को। अपने आचार, कृति के द्वारा अपना नमूना, आदर्श, उदाहरण पेश करने की जिम्मेदारी है। ऐसा उदाहरण कर्मयोगियो के सिवा और कौन उपस्थित कर सकता है?

कर्मयोगी सदैव कर्म-रत रहता है; क्योकि कर्म मे ही उसे आनन्द मालूम होता है। इससे समाज में दम्भ-ढोंग नही बढता। कर्मयोगी खुद यद्यपि स्वयं-तृप्त होता है, तो भी कर्म किये विना उससे रहा नही जाता। तुकाराम कहते है—"भजन से भगवान् मिल गया तो क्या इसलिए मै भजन छोड दूं। भजन तो अब हमारा सहज धर्म हो गया।"

पहले जोडा सत्संग। तुका पाया पांडुरंग।
भजन का तांता टूटे क्यो? मूल स्वभाव छूटे क्यो?

कर्म की सीढी से चढकर शिखर तक पहुंच गये। परन्तु कर्मयोगी तब भी सीढ़ी नही छोडता। वह उससे छूट ही नही सकती। उसकी इन्द्रियो को उन कर्मों को करने की ऐसी आदत ही पड़ जाती है। इस तरह स्वधर्म-कर्म रूपी सेवा की सीढी का महत्त्व वह समाज को जंचाता रहता है।

समाज से ढोंग का मिटना बहुत ही बड़ा काम है। ढोंग-पाखण्ड

से समाज डूब जाता है। ज्ञानी यदि निकम्मा बनकर बैठ जाय तो उसे देखकर दूसरे भी हाथ पर हाथ रखकर बैठने लगेंगे। ज्ञानी तो नित्य-तृप्त होने के कारण आन्तरिक सुख मे मौन रहकर खामोश रहेगा। परन्तु दूसरा मनुष्य भीतर से रोता हुआ भी कर्म-शून्य हो जायगा। एक अनस्तृप्त होकर स्वस्थ है, तो दूसरा मन मे कुढता हुआ भी स्वस्थ है। ऐसी स्थिति भद्दी है। इससे दम्भ, पाखण्ड बढेगा। अतः सारे सन्त शिखर पर पहुंच कर भी साधन का पल्ला बडी सतर्कता से पकडे रहे, आमरण कर्म करते रहे। माता बच्चो के गुड्डा-गुड्डी के खेलो मे रस लेती है। वह यह समझते हुए भी कि बनावटी हैं, उनके खेलो में शरीक होकर उनमे रुचि उत्पन्न करती है, मां यदि उन खेलो मे शरीक न हो तो बच्चो को उसमे मजा नही आयगा। इसी तरह कर्मयोगी तृप्त होकर यदि कर्म छोड देगा तो दूसरे अतृप्त रहते हुए भी कर्म छोड देंगे, हालांकि मन मे भूखे व निरानंद रहेंगे।

अत कर्मयोगी मामूली आदमी की तरह ही कर्म करता रहता है। वह यह नहीं मानता कि मै कोई विशेष मनुष्य हूं। औरों की अपेक्षा अनन्त गुना परिश्रम वह करता है। अमुक कर्म पारमार्थिक है ऐसी छाप लगाने की जरूरत नही है। कर्म का विज्ञापन करने की जरूरत नही है; यदि तुम उत्कृष्ट ब्रह्मचारी हो तो अपने कर्म में औरो की अपेक्षा सौगुना उत्साह दीखने दो। कम खाना मिलने पर भी तिगुना काम होने दो, अधिक समाज की सेवा अपने द्वारा होने दो। अपना ब्रह्मचर्य अपने आचार-व्यवहार मे दिखने दो। चंदन की सुगन्ध बाहर फैलने दो।

सार यह है कि कर्मयोगी फल की इच्छा छोडने से ऐसे अनन्त फल प्राप्त करेगा, उसकी शरीर-यात्रा चलती रहेगी, शरीर व बुद्धि सतेज रहेंगे। जिस समाज मे वह विचरेगा वह समाज सुखी होगा। उसकी चित्त-शुद्धि होकर ज्ञान भी मिलेगा। और समाज से ढोंग, पाखण्ड मिटकर जीवन का पवित्र आदर्श हाथ लगेगा। कर्मयोग की यह अनुभव-सिद्ध महिमा है।

(३)

फिर कर्मयोगी अपना कर्म औरों अपेक्षा उत्कृष्ट रीति से करेगा। क्योंकि उसके लिए कर्म ही उपासना है, कर्म ही पूजा-विधान है। मैने भगवान् का पूजन किया। फिर पूजा का नैवेद्य प्रसाद के रूप मे पाया। परन्तु क्या यह नैवेद्य उस पूजा का फल है ? जो नैवेद्य के लिए पूजन करेगा ऐसे प्रसाद का अंश तो तुरन्त मिलेगा ही। परन्तु जो कर्मयोगी है वह अपने पूजा कर्म के द्वारा परमेश्वर-दर्शन-रूपी फल चाहता है। वह उस कर्म की कीमत इतनी थोडी नहीं समझता कि सिर्फ प्रसाद ही मिल जाय। वह अपने कर्म की कीमत इतनी कम आँकने के लिए तैयार नही है। स्थूल नाप से वह अपने कर्मों को नहीं नापता। जिसकी स्थूल दृष्टि है उसे फल भी स्थूल ही मिलेगा। खेती की एक कहावत है—'गहरा बो पर गीला बो'। महज गहरे जोतने से काम नही चलेगा, नीचे तरी भी होनी चाहिए। गहराई व गीलाई—तरी—दोनो होगी तो दाना बडा मनके बराबर पडेगा। अतः कर्म गहरा अर्थात् उत्कृष्ट होना चाहिए। फिर उसमे ईश्वर-भक्ति, ईश्वरार्पणता रूपी तरी भी होनी चाहिए। कर्मयोगी गहरा कर्म करके उसे ईश्वरार्पण कर देता है।

परमार्थ के सम्बन्ध मे कुछ वाहियात कल्पनायें हमारे अन्दर फैल गई है। लोग समझते है कि जो परमार्थी हो गया उसे हाथ-पाँव हिलाने की जरूरत नही, काम-काज करने की जरूरत नहीं। कहते है, जो खेती करता है, खादी बुनता है वह कहाँ का परमार्थी ? परन्तु कोई यह नही पूछता कि जो भोजन करता है वह कैसा परमार्थी ? कर्मयोगियो का परमेश्वर तो कही घोड़ो के खुर्रा करता है, राजसूय यज्ञ के समय जूठी पत्तले उठाता है, जंगल मे गाये चराने जाता है; वह द्वारिकानाथ यदि फिर गोकुल में चला जाय तो ठुमक-ठुमक चलकर वंसी बजाते हुए गाये चरायगा। सो सन्तो ने तो घोडो को खुर्रा करने वाला, रथ हाँकने वाला, पत्तल उठाने वाला, लीपने वाला, कर्मयोगी परमेश्वर खडा किया है और खुद भी कोई दरजी का, कोई कुम्हार का, कोई बुनाई का,

कोई माली का, कोई धान कूटने-पीसने का, कोई बनिये का, कोई नाई का व कोई ढोर घसीटने का काम करते-करते मुक्त पदवी को प्राप्त हुए है।

ऐसे इस दिव्य कर्म-योग के व्रत से मनुष्य दो कारणो से डिगता है। इस सिलसिले मे हमें इन्द्रियो का विशिष्ट स्वभाव—खासियत—ध्यान मे रखना चाहिए। हमारी इन्द्रियाँ सदैव—"यह चाहिए और वह नहीं चाहिए"—ऐसे द्वन्द्वो से घिरी रहती है। जो चाहिए उसके लिए राग अर्थात् प्रीति, और जो न चाहिए उसके प्रति मन में द्वेष उत्पन्न होता है। ऐसे ये राग-द्वेष, काम-क्रोध मनुष्य को नोच-नोचकर खाते है। कर्म-योग वैसे कितना बढिया, कितना रमणीय कितना अनन्त फलदायी है! परन्तु ये काम-क्रोध 'इसे ले व इसे छोड' ऐसा झगडा हमारे गले बॉधकर दिन-रात हमारे पीछे पडे रहते है। अतः भगवान् इस अध्याय के अन्त मे खतरे की घंटी बजाते है कि इनका संग छोडो, इनसे बचो। स्थितप्रज्ञ जिस प्रकार संयम की मूर्ति होता है उसी प्रकार पुरुष को कर्मयोगी बनना चाहिए।

चौथा अध्याय

रविवार, १३-३-३२

(१)

भाइयो, पिछले अध्याय मे हमने निष्काम कर्म-योग का विवेचन किया है। स्वधर्म को टालकर यदि हम अवान्तर धर्म स्वीकार करेंगे तो निष्कामता-रूपी फल को अशक्य ही समझो। स्वदेशी माल बेचना व्यापार का स्वधर्म है। परन्तु इस स्वधर्म को छोडकर जब वह सात समुन्दर पार का विदेशी माल बेचने लगता है तब उसके सामने यही हेतु रहता है कि बहुतेरा नफा मिले। तो फिर उस कर्म में निष्कामता कहां से आयगी? अतएव कर्म को निष्काम बनाने के लिए स्वधर्म-पालन की अत्यन्त आवश्यकता है। परन्तु यह स्वधर्माचरण भी सकाम हो सकता है। अहिसा की ही बात हम ले। जो अहिंसा का उपासक है उसके लिए हिंसा तो वर्ज्य है। परन्तु यह संभव है कि ऊपर से अहिसक होते हुए भी वह वास्तव मे हिंसामय हो। क्योंकि हिंसा मन का एक धर्म है। महज बाहर से हिंसा-कर्म न करने से ही मन अहिसा-मय हो जायगा सो बात नहीं। तलवार हाथ में लेने से हिंसा-वृत्ति अवश्य प्रकट होती है। परन्तु तलवार छोड देने से यह जरूरी नहीं है कि मनुष्य अहिसामय हो गया। ठीक ऐसी ही बात स्वधर्माचरण की है। निष्कामता के लिए परधर्म से तो बचना ही होगा। परन्तु यह तो निष्कामता का आरम्भ-मात्र हुआ। इससे हम साध्य तक नहीं पहुंच गये।

निष्कामता मन का धर्म है। इसकी उत्पत्ति के लिए एक स्वधर्माचरण रूपी साधन ही काफी नही है। दूसरे साधनो का भी सहारा लेना पडेगा। अकेली तेल-बत्ती से दिया नहीं जल जाता। उसके लिए ज्योति की जरूरत होती है। ज्योति होगी तो अंधेरा दूर होगा। स्वधर्माचरण रूपी तेल-बत्ती को ज्योति की जरूरत है। यह ज्योति कैसे जगावे? इसके लिए मानसिक संशोधन की जरूरत है। आत्म-परीक्षण के द्वारा चित्त की मलिनता—कूडा-कचरा धो डालना चाहिए। तीसरे अध्याय के अन्त मे यही मार्के की बात भगवान ने बताई थी। उसी में से चौथे अध्याय का जन्म हुआ है।

गीता मे 'कर्म' शब्द 'स्वधर्म' के अर्थ मे व्यवहृत हुआ है। हमारा खाना, पीना, सोना, ये कर्म ही हैं, परन्तु गीता के 'कर्म' शब्द से ये सब क्रियाये सूचित नही होती है। कर्म से वहां मतलब स्वधर्माचरण से है। परन्तु इस स्वधर्माचरण-रूपी कर्म को करके निष्कामता प्राप्त करने के लिए और भी एक वस्तु की सहायता जरूरी है। वह है काम व क्रोध को जीतना। चित्त जब तक गंगा-जल की तरह निर्मल व प्रशान्त न हो जाय तब तक निष्कामता नही आ सकती। इस तरह चित्त-संशोधन के लिए जो-जो कर्म किये जांय उन्हे गीता 'विकर्म' कहती है। कर्म, विकर्म व अकर्म ये तीन शब्द चौथे अध्याय मे बडे महत्त्व के है। कर्म का अर्थ है स्वधर्माचरण की बाहरी स्थूल क्रिया। इस बाहरी क्रिया मे चित्त को लगाना ही विकर्म है। बाहर से हम किसी को नमस्कार करते है, परन्तु उस बाहरी सिर झुकाने की क्रिया के साथ ही यदि भीतर से मन भी न झुकता हो तो बाह्य क्रिया व्यर्थ है। अन्तर्बाह्य—भीतर व बाहर—दोनो एक होना चाहिए। बाहर से मैं शिव-पिण्ड पर सतत जल-धारा छोडकर अभिषेक करता हूं। परन्तु इस जल-धारा के साथ ही यदि मानसिक चिन्तन की धार भी अखण्ड न चलती रहती हो तो उस अभिषेक की क्या कीमत रही? ऐसी दशा मे यह शिव-पिण्ड भी पत्थर व मैं भी पत्थर ही। पत्थर के सामने

पत्थर बैठा—यही उसका अर्थ होगा। इसका यह अर्थ हुआ कि निष्काम कर्मयोग तभी सिद्ध होता है जब हमारे बाह्य-कर्म के साथ चित्त-शुद्धि रूपी कर्म का भी संयोग हो।

'निष्काम कर्म' इस शब्द प्रयोग में 'कर्म'-पद की अपेक्षा 'निष्काम'-पद का ही अधिक महत्त्व है। जिस तरह 'अहिंसात्मक असहयोग' शब्द प्रयोग मे असहयोग की बनिस्बत अहिसात्मक विशेषण का ही अधिक महत्त्व है। अहिंसा को दूर हटाकर यदि केवल असहयोग का अवलम्बन करेंगे तो वह एक भयंकर चीज बन सकती है, उसी तरह स्वधर्माचरण रूपी कर्म करते हुए यदि मन का विकर्म उसमे नही जुडा है तो उसे धोखा समझना चाहिए।

आज जो लोग सार्वजनिक सेवा करते है वे स्वधर्म का ही आचरण करते है। जब लोग गरीब-कंगाल दुःखी व मुसीबत मे होते है तब उनकी सेवा करके उन्हे सुखी बनाना हमारा प्रवाह-प्राप्त धर्म है। परन्तु इससे यह अनुमान न कर लेना चाहिए कि जितने भी लोग सार्वजनिक सेवा करते है वे सब कर्मयोगी है। लोक-सेवा करते हुए यदि मन मे शुद्ध भावना न हो तो उस लोक-सेवा के भयानक होने की सम्भावना है। अपने कुटुम्ब की सेवा करते हुए जितना अहंकार, जितना द्वेष-मत्सर, जितना स्वार्थ आदि विकार हममे उदय हो जाते है उतने सब लोक-सेवा मे भी उदय होगे। और इसका प्रत्यक्ष दर्शन हमे आजकल की लोक-सेवा मंडलियो के जमघट मे दिखाई भी दे जाता है।

(२)

तो अब कर्म के साथ मन का मेल होना चाहिए। इस मन के मेल को ही गीता 'विकर्म' कहती है। यह विशेप कर्म अपनी-अपनी मानसिक जरूरत के अनुसार जुदा-जुदा होता है। विकर्म के ऐसे अनेक प्रकार, नमूने के तौर पर, चौथे अध्याय मे बताये गये है। उसी का विस्तार आगे छठे अध्याय से किया गया है। वाहरी कर्म तो मामूली होता है। यह भीतरी विशेप कर्म हुआ। इस विशेप कर्म का, इस मानसिक अनुसंधान

का, योग जब हम करेंगे तभी उसमे निष्कामता की ज्योति जगेगी। कर्म के साथ जब विकर्म मिलता है तो फिर धीरे-धीरे निष्कामता हमारे अन्दर आती रहती है। यदि शरीर व मन ये जुदा-जुदा चीजे है तो साधन भी दोनो के लिए जुदा-जुदा ही होगे। पर जब इन दोनों का मेल बैठ जाता है तो साध्य हमारे हाथ लग जाता है अतः मन एक तरफ न जाय, इसलिए शास्त्रकारो ने दुहेरा मार्ग बताया है। भक्तियोग मे बाहर से तप व भीतर से जप बताया गया है। उपवास आदि बाहरी तप के चलते हुए यदि भीतर से मानसिक जप न हो तो वह सारा तप फिजूल गया। तप सम्बन्धी मेरी भावना सतत सुलगती, जगमगाती रहनी चाहिए। उपवास शब्द का अर्थ ही है भगवान् के पास बैठना। इसलिए कि परमात्मा के नजदीक हमारा चित्त रहे, बाहरी भोगो का दरवाजा बन्द करने की जरूरत है। परन्तु बाहर से विषयभोगो को छोडकर यदि मन मे भगवान् का चिन्तन न होता हो तो फिर इस बाहरी उपवास की क्या कीमत रही? ईश्वर का चिन्तन न करते हुए यदि उस समय खाने-पीने की चीजो का चिन्तन करे तो फिर वह बडा ही भयंकर भोजन होगया। यह जो मन से भोजन हुआ, मन मे जो विषय-चिन्तन रहा, इससे बढकर भयकर वस्तु दूसरी नही। तंत्र के साथ मंत्र होना चाहिए। कोरे बाह्य तन्त्र का कोई महत्त्व नही है। और न केवल कर्महीन मन्त्र का भी कोई मूल्य है। हाथ से भी सेवा हो व हृदय से भी सेवा हो। तभी सच्ची सेवा हमारे हाथो बन पडेगी।

यदि बाह्य कर्म मे हृदय की आर्द्रता न रही तो हमारा स्वधर्माचरण रूखा-सूखा रह जायगा। उसमे निष्कामतारूपी फूल-फल नही लगेगे। फर्ज कीज़िए कि हमने किसी रोगी की सेवा-शुश्रुषा शुरू की। परन्तु उस सेवा-कर्म के साथ यदि मन मे कोमल दया-भाव न हो तो वह रुग्ण-सेवा नीरस मालूम होगी व उससे जी ऊब उठेगा। वह एक बोझ मालूम देगी। रोगी को भी वह सेवा एक बोझ मालूम पडेगी। उसमें यदि मन का सहयोग न हो तो उससे अहंकार पैदा होगा। मैंने आज

उसका काम किया है। उसे जरूरत के वक्त मेरी सहायता करनी चाहिए। मेरी तारीफ करनी चाहिए। मेरा गौरव करना चाहिए।'—आदि अपेक्षाये मन मे उत्पन्न होंगी। अथवा हम त्रस्त होकर कहेगे—हम इसकी इतनी सेवा करते हैं, फिर भी यह बड-बडाता रहता है। बीमार आदमी वैसे ही चिडचिडा हो जाता है। उसके ऐसे स्वभाव से ऐसा सेवक जिसके मन मे सेवा-भाव नही होता, उकता जायगा।

कर्म के साथ जब आन्तरिक भाव का मेल हो जाता है तो वह कर्म कुछ और ही हो जाता है। तेल और बत्ती के साथ जब ज्योति का मेल होता है तो प्रकाश उत्पन्न होता है। कर्म के साथ विकर्म का मेल हुआ तो निष्कामता आती है। बारूद में बत्ती लगाने से धडाका होता है। उस बारूद मे एक शक्ति उत्पन्न होती है। कर्म को बन्दूक की बारूद की तरह समझो। उसमे विकर्म की बत्ती या आग लगी कि काम हुआ। जब तक उसमे विकर्म आकर नहीं मिलता तब तक वह कोरा कर्म जड है। उसमे चैतन्य नहीं। एक बार जहां विकर्म की चिनगारी उसमे गिरी कि फिर उस कर्म मे जो सामर्थ्य पैदा होता है वह अवर्णनीय है। चिमटी भर बारूद जेब मे पडी रहती है हाथ में उछलती रहती है, पर जहां उसमे बत्ती लगी नहीं कि शरीर के टुकडे-टुकडे हुए नही। स्वधर्माचरण से उत्पन्न अनंत सामर्थ्य इस तरह गुप्त हो रहता है। उसमे विकर्म को जोडिए तो फिर देखिए कि कैसे-कैसे बनाव-बिगाड होते हैं। उसके स्फोट से अहंकार, काम, क्रोध के प्राण उड जायंगे व उसमें से उस परम ज्ञान की निष्पत्ति हो जायगी।

कर्म ज्ञान का पलीता है। एक लकडी का बडा-सा टुकडा कहीं पडा है। उसे आप जला दीजिए। वह जगमग अंगार हो जाता है। परन्तु उस लकडी की वह आग होती है। कर्म मे विकर्म डाल देने से, इसी तरह, वह कर्म दिव्य दिखाई देने लगता है। मां बच्चे की पीठ पर हाथ फेरती है, एक पीठ है, जिस पर एक हाथ यों ही इधर-उधर फिर गया। परन्तु इस एक मामूली कर्म से उन मां-बच्चे के मन मे जो

भावनायें उठी, उनका वर्णन कौन कर सकेगा ? यदि कोई ऐसा ऐसा समीकरण बिठाने लगेगा कि इतनी लम्बी-चौडी पीठ पर इतने वजन का एक मुलायम हाथ फिराइए तो इससे वह आनन्द उत्पन्न या प्राप्त होगा, तो यह एक दिल्लगी ही होगी। हाथ फिराने की यह क्रिया बिल्कुल क्षुद्र है, परन्तु उसमें माँ का हृदय उंडेला हुआ है। विकर्म उंडेला हुआ है। इसी से वह अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। तुलसी रामायण मे एक प्रसंग आया है। राक्षसो से लडकर बन्दर आते है। वे जखमी हो गये है। बदन मे से खून बह रहा है। परन्तु प्रभु रामचन्द्र के एक बार प्रेम-पूर्वक दृष्टिपात-मात्र से उन बन्दरो की वेदना काफूर हो गई। अब यदि दूसरे मनुष्य ने राम की उस समय की आंख व दृष्टि का फोटो लेकर किसी की ओर उतनी ऑखे फाडकर देखा होता तो क्या उसका वैसा प्रभाव पडा होता ? वैसा करने का यत्न करना हास्यास्पद है।

कर्म के साथ जब विकर्म का जोड मिल जाता है तो शक्ति-स्फोट होता है और उसमे से अकर्म निर्माण होता है। लकडी जलने पर राख हो जाती है। वह इतना बडा लकडी का टुकडा था, पर अन्त को चिमटी भर बेचारी राख रह गई। खुशी से उसे हाथ मे ले लीजिए। और सारे बदन पर मल लीजिए। इस तरह कर्म मे विकर्म की ज्योति जला देने से अन्त मे अकर्म हो जाता है। कहां लकडी व कहां राख ? क. केन सम्बन्ध. ! उनके गुण-धर्मो मे अब बिल्कुल साम्य नहीं रह गया। परन्तु इसमे कोई शक नही है कि वह राख उस लकडी के ढूंड की ही है।

अच्छा तो अब 'कर्म मे विकर्म उंडेलने से अकर्म होता है' इसका अर्थ क्या ? इसका अर्थ यह कि ऐसा मालूम ही नहीं होता कि कोई कर्म किया है। उस कर्म का बोझा नही मालूम होता। करके भी अकर्त्ता होते है। गीता कहती है कि मार के भी तुम मरते नही। मां बच्चे को पीटती है, इसलिए तुम तो उसे पीट के देखो। तुम्हारी मार बच्चा

नहीं सहेगा। मां मारती है, फिर भी वह उसके आंचल में मुंह छिपाता है। क्योंकि मां के बाह्य कर्म मे चित्त-शुद्धि का मेल है। उसका यह मारना-पीटना निष्काम भाव से है। उस कर्म मे उसका स्वार्थ नहीं है। विकर्म के कारण मन की शुद्धि के कारण, कर्म का कर्मत्व उड जाता है। राम की वह दृष्टि, आन्तरिक विकर्म के कारण, महज प्रेम-सुधा-सागर हो गई थी। परन्तु राम को उस कर्म का कोई श्रम नहीं हुआ था। चित्त-शुद्धि से किया कर्म निर्लेप रहता है। उसका पाप-पुण्य कुछ बाकी नही रहता।

नहीं तो कर्म का कितना बोझ, कितना जोर हमारी बुद्धि व हृदय पर पडता है। यदि यह खबर आज दो बजे उडी कि कल ही सारे राजनैतिक कैदी छूट जाने वाले है तो फिर देखो कैसी भीड चारो ओर हो जाती है। चारो ओर हलचल व गडबड मच जाती है। हम कर्म के अच्छे-बुरे होने की वजह से व्यग्र हो जाते है। कर्म हमको चारो ओर से घेर लेता है। मानो कर्म ने हमारी गर्दन धर दबाई है।

जिस तरह समुद्र का प्रवाह जोर से जमीन में धंसकर खाडियॉं बना देता है उसी तरह कर्म की यह फौज चित्त मे घुसकर क्षोभ निर्माण करती है। सुख-दुःख के द्वन्द्व निर्माण होते हैं। सारी शान्ति नष्ट हो जाती है। कर्म हुआ और होकर चला भी गया, परन्तु उसका वेग बाकी बच ही रहता है। कर्म चित्त पर हावी हो जाता है। अब उसकी नीद हराम हो जाती है।

परन्तु ऐसे इस कर्म मे यदि विकर्म को मिला दिया तो फिर आप चाहे जितने कर्म करे तो भी उसका श्रम या बोझ नहीं मालूम होता। मन ध्रुव की तरह शान्त, स्थिर व तेजोमय बना रहता है। कर्म में विकर्म डाल देने से वह अकर्म हो जाता है। मानो कर्म को करके फिर उसे पोंछ दिया हो।

(३)

तो यह कर्म का अकर्म कैसे होता है? यह कला कहां मिलेगी?'

सन्तों के पास। इस अध्याय के अन्त में भगवान् कहते हैं—"सन्तों के पास जाकर बैठो व उनसे शिक्षा लो।" कर्म का अकर्म कैसे हो जाता है, इसका वर्णन करने में भाषा का अन्त आजाता है। उसका सही खयाल लाना हो तो सन्तो के पास जाना चाहिए। परमेश्वर का वर्णन भी तो है—

"शान्ताकारं भुजगशयनम्"

परमेश्वर हजार फणो के शेषनाग पर सोते हुए भी शान्त है। इसी तरह सन्त हजारो कर्म करते हुए भी रत्ती भर क्षोभ-तरंग अपने मानस-सरोवर मे नही उठने देते। यह खूबी सन्त-समागम किये बिना समझ मे नही आ सकती।

वर्तमान काल मे पुस्तके बहुत सस्ती हो गई हैं। एक-एक दो-दो आने की गीता, मनाचे श्लोक,[1] आदि मिल जाते हैं। गुरुओ की भी कमी नहीं। शिक्षा उदार व सस्ती है। विद्यापीठ तो मानो ज्ञान की खैरात ही बाटते है। परन्तु ज्ञानामृत-भोजन की डकार किसी को नहीं आती। पुस्तको के इस पहाड को देखकर सन्त-सेवा की जरूरत दिन-पर-दिन ज्यादा दिखाई देने लगी है। पुस्तको की मजबूत कपडे की जिल्द के बाहर उनका ज्ञान नही आता। ऐसे अवसर पर मुझे एक अभंग हमेशा याद आ जाया करता है।

"काम क्रोध के खडे है पहाड
रहा है अनत पल्ले पार।"

काम-क्रोध रूपी पहाडो के पल्ले पार नारायण रहता है। उसी तरह इन पुस्तको की राशि के पीछे ज्ञान-राजा छिपा बैठा है। पुस्तकालयो व ग्रन्थालयो के चारो ओर छाजाने पर भी अभी तक मनुष्य सब जगह संस्कार-हीन व ज्ञान-हीन मानो बन्दर ही दिखाई देता है। बडौदा में बहुत बडी लाइब्रेरी है। एक बार एक सज्जन एक बडी-सी पुस्तक लेकर जारहे थे। उसमें तस्वीरें थीं। वे यह समझ-

---

१ समर्थ रामदास कृत, मराठी मे।

कर ले जारहे थे कि अंग्रेजी पुस्तक है। मैने पूछा—"कौन सी पुस्तक है?" उन्होने पुस्तक आगे बढा दी। मैंने कहा—"यह तो फ्रेंच है" तो उन्होने कहा—"अच्छा फ्रेन्च आगई?" परम पवित्र रोमन लिपि, बढिया तस्वीरे, सुन्दर जिल्द, अब ज्ञान की क्या कमी रही?

अंग्रेजी मे हर साल कोई दस हजार नई किताबे तैयार होती है। यही हाल दूसरी भाषाओ का समझिए। ज्ञान का यह इतना प्रसार होते हुए भी मनुष्य का दिमाग अब तक खोखला ही कैसे बना हुआ है? कोई कहते है, स्मरणशक्ति कमजोर हो गई है। कोई बताते है, एकाग्रता नही होती। कोई जवाब देते है कि जो कुछ पढते है सब ही सच मालूम होता है। और कोई कहते है, अजी विचार करने को फुरसत ही नही मिलती। श्रीकृष्ण कहते है—'अर्जुन, बहुत कुछ सुन-सुनाकर तुम्हारी बुद्धि चक्कर मे पड गई है। वह जब तक स्थिर न होगी तब तक तुम्हे योग-प्राप्ति नही हो सकती।' सुनना व पढना अब बन्द करके सन्तो की शरण लो। वहां तुम्हे जीवन-ग्रन्थ पढने को मिलेगा। वहां का 'मौन व्याख्यान' सुनकर तुम 'छिन्न-संशय' हो जाओगे। वहां जाने से तुम्हे मालूम हो जायगा कि एक-सा सेवा-कर्म करते हुए भी मन कैसे अत्यन्त शान्त रह सकता है, बाहर से कर्म का जोर रहते हुए भी हृदय मे कैसे अखण्ड संगीत की सितार बजती रह सकती है।

पांचवां अध्याय

रविवार, २०-३-३२

(१)

संसार बडी भयानक वस्तु है। बहुत वार उसे समुद्र की उपमा देते है। समुद्र मे जहां देखिये तहां पानी-ही-पानी दिखाई देता है। वही हाल संसार का है। जिधर देखो उधर संसार भरा-ही-भरा दीख पडता है। कोई यदि घर-बार छोडकर सार्वजनिक सेवा मे लग जाता है तो वहा भी उसके मन में संसार अपना पडाव डाले वैठा ही मिलता है। कोई यदि गुफा में जाकर बैठ जाय तो भी, उसकी बित्ते भर लंगोटी में, संसार ओत-प्रोत भरा रहता है। वह लंगोटी उसकी ममता का सार-सर्वस्व वन वैठती है। जैसे छोटे-से नोट में हजार रुपये भरे रहते हैं, वैसे ही उस छोटी-सी लंगोटी मे भी अपार आसक्ति भरी रहती है। घर-जंजाल तोड दिया, झंझट कम कर दी, तो भी संसार कम नही हो जाता। $\frac{10}{25}$ कहो या $\frac{2}{5}$ कहो, दोनो का मतलब एक ही है। चाहे घर मे रहो या जंगल मे; आसक्ति तो-पास ही वनी रहती है। ससार का प्रपञ्च लेशमात्र भी कम नहीं होता। दो योगी भले ही हिमालय की गुफा में जाकर बैठ जायं, पर वहां भी एक-दूसरे की कीर्ति उनके कानों मे पड गई तो वे जल-भुन जायंगे। सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में भी ऐसा ही दृश्य दिखाई दे जाता है।

इस प्रकार यह संसार-प्रपन्च हाथ धोकर हमारे पीछे पडा हुआ है। स्वधर्माचरण की मर्यादा में रहते हुए भी संसार से पिंड नहीं छूटता। वहुतेरा उखाड़-पछाड़ करना छोड दिया, और झंझटें भी कम

कर दीं व अपना संसार-प्रपञ्च भी नाम-मात्र का रख दिया तो भी ममत्व पीछा नही छोडता। राक्षस जैसे कभी छोटे हो जाते है व कभी बडे, वैसे ही यह संसार अपना रूप बनाता है। छोटे हो या बडे, आखिर वे हैं तो राक्षस ही। ऐसे ही दुर्निवार्यतत्व चाहे महलो मे हो या झोपडी मे, है एक जैसे ही। स्वधर्म का बन्धन डालकर यद्यपि संसार को सम-तौल रखा तो भी वहां अनेक झगडे पैदा हो जायंगे और तुम्हारा जी वहां से ऊब उठेगा। वहां भी अनेक संस्था व अनेक व्यक्तियो से तुम्हारा सम्बन्ध बंधेगा और तुम उकता उठोगे। तुम कहने लगोगे—कहां इस आफत मे आ फंसा। लेकिन तुम्हारा मन कसौटी पर भी तभी चढेगा। केवल स्वधर्माचरण को अपनाने से ही अलिप्तता नही आ जाती। कर्म की व्याप्ति को कम करना अलिप्त होना नही है।

तो फिर अलिप्तता कैसे प्राप्त हो ? उसके लिए मनोमय प्रयत्न होना चाहिए। मन का सहयोग जब तक न हो तब तक कोई भी बात सिद्ध नहीं हो सकती। मां-बाप किसी संस्था मे अपना लड़का भेज देते है। वह वहां सवेरे उठता है, सूर्य-नमस्कार करता है। चाय नही पीता। परन्तु घर आते ही दो-चार दिनो मे वह सब कुछ छोड देता है। ऐसे अनुभव हमें रोज होते है। मनुष्य कुछ मिट्टी का ढेला तो है नही। उसके मन को हम जो आकार देना चाहते है वह उसके मन मे बैठना चाहिए न ? मन यदि उस आकार मे नहीं बैठा, तो बाहर की यह सारी तालीम व्यर्थ हो गई। इसलिए साधन मे मानसिक सहयोग की बहुत आवश्यकता है।

साधन के रूप मे बाहर से स्वधर्माचरण व भीतर से विकर्म दोनो बातें चाहिए। बाह्य कर्म की भी आवश्यकता हुई है, क्योंकि कर्म किये बिना मन की परीक्षा नही होती। प्रातःकाल के प्रशांत समय मे हमें अपना मन अत्यन्त शांत मालूम होता है। परन्तु जहां जरा बच्चा रोया नहीं कि हमारी मनः-शान्ति की असली कीमत हमें मालूम हो जाती हैं। अतः बाह्य कर्म को टालने से काम नहीं चलेगा। बाह्य कर्मो से हमारे

मन का स्वरूप प्रकट होता है। पानी ऊपर से साफ दीखता है। परन्तु उसमे पत्थर डालिए; तुरन्त ही उसकी गन्दगी ऊपर तैर आवेगी। वैसी ही दशा हमारे मन की है। मन के अन्त -सरोवर मे नीचे गन्दगी जमा रहती है। बाहरी वस्तु से उसका स्पर्श होते ही वह दिखाई देने लगती है। हम कहते है, उसे गुस्सा आ गया, तो यह गुस्सा कही बाहर से आ गया ? वह तो अंदर ही था। मन मे यदि न होता तो वह बाहर दिखाई ही न देता।

लोग कहते है—'सफेद खादी नही चाहिए वह मैली हो जाती है, रंगोन खादी मैली नही होती।' पर मैली तो वह भी होती है, हां, अलबत्ता मैली दिखाई नही देती। सफेद खादी की मैल दिख जाती है। वह कहती है—'मै मैली हूं मुझे धो डालो।' अब यह मुंह से बोलने वाली खादी लोगो को पसंद नही आती। इसी तरह हमारा कर्म भी बोलता है। कर्म यह बतला देता है कि आप क्रोधी है, स्वार्थी है, या और कुछ है। कर्म वह आईना है जो हमारा स्वरूप हमे दिखा देता है। अतः वैसे हमे कर्म का अहसानमन्द होना चाहिए। आईने मे यदि हमारा चेहरा मैला-कुचैला दिखाई दे तो क्या हम आईने को ही फोड डालेगे ? नही, उलटा उसका अहसान मानेगे। मुंह धो-धाकर फिर उसमे चेहरा देखेगे। इसी तरह यदि कर्म की बदौलत हमारे मन का पाप-दोष बाहर प्रकट हो जाता है तो क्या इसलिए हम कर्म से बचना चाहेगे ? कर्म से ही यदि हम बचते रहे तो क्या उससे हमारा मन निर्मल हो जायगा ? अतः सही बात तो यही है कि कर्म करते रहे व निर्मल होने का उत्तरोत्तर उद्योग करते रहे।

अच्छा, एकबार मनुष्य जाकर गुफा मे बैठ गया। वहां तो उसका किसी से भी सम्पर्क नही होता। वह समझने लगता है अब मैं बिलकुल शान्तिमय हो गया, परन्तु गुफा छोडकर उसे किसी के यहां 'भिक्षा मांगने जाने दीजिए। वहां कोई खिलाडी लडका दरवाजे की सांकल खटखटाता है। वह बालक तो उस नाद-ब्रह्म मे तल्लीन हो जाता है।

परन्तु उस भोले-भाले बच्चे का वह सांकल बजाना उस योगी को सहन नहीं होता। वह कहता है—'रे दुष्ट ! क्या खट-खट लगा रखी है ?' गुफा मे रहकर उसने अपने मन को इतना कमजोर बना लिया है कि जरा-सा भी धक्का उसे सहन नहीं होता। जरा खट-खट आवाज आई कि बस उसकी शान्ति रफूचक्कर होने लगी। मन की ऐसी दुर्बल स्थिति अच्छी नही।

मतलब यह कि अपने मन का स्वरूप समझने के लिए कर्म बडे काम की चीज है। जब दोष दिखाई देगे तो वे दूर भी किये जा सकेंगे। यदि दोष मालूम ही न हों तो प्रगति रुकी, विकास खतम। कर्म करेंगे तो दोष दिखाई देगे। उन्हे दूर करने के लिए विकर्म की तजवीज करनी पडती है। भीतर जब ऐसे विकर्म के प्रयत्न रात-दिन जारी रहने लगे तो फिर स्वधर्म का आचरण करते हुए भी अलिप्त कैसे रहें, काम-क्रोधातीत, लोभ-मोहातीत कैसे रहे, यह बात समय पाकर समझ में आ जायगी। कर्म को निर्मल रखने का एक-सा प्रयत्न होने लगा तो फिर, आगे चलकर निर्मल कर्म अपने-आप होने लगेगा। निर्विकार कर्म जब एक के बाद एक सहजता से होने लगते है तो फिर सहसा यह पता नही लगता कि कर्म कब हो गया। जब कर्म सहज हो जाता है तो वह अकर्म हो जाता है। सहज कर्म को ही अकर्म कहते है यह हमने चौथे अध्याय मे देख लिया है और 'कर्म का अकर्म' कैसे होता है सो संत-चरणो मे बैठने से मालूम होगा, यह भी भगवान ने चौथे अध्याय के अखीर मे बता दिया है। इस 'अकर्मस्थिति' का वर्णन करने के लिए हमारी वाणी काफी नही है।

(२)

कर्म की सहजता को समझने के लिए हम अपने परिचय का एक उदाहरण लें। छोटा बच्चा पहले चलना सीखता है। उस समय उसे कितनी तकलीफ होती है। किन्तु हमे उसकी इस लीला से आनन्द होता है; हम कहते हैं, देखो लल्ला चलने लगा। परन्तु पीछे वही चलना सहज

हो जाता है। वह चलता भी रहता है, व बातचीत भी करता रहता है। चलने की ओर ध्यान भी नही रहता। यही बात खाने के सम्बन्ध मे। हम छोटे बच्चे को 'अन्नप्राशन' कराते है। मानो खाना कोई बडा काम हो। परन्तु पीछे वही खाना एक सहज कर्म हो जाता है। मनुष्य जब पहले पहल तैरना सीखता है तो कितना कष्ट होता है! पहले दम भर आता है, पर बाद मे तो उलटा जब दूसरी मेहनत से थक जाता है तो कहता है, चलो ज़रा तैर आवे तो थकान निकल जाय। अब वह तैरना कष्टकर नहीं मालूम होता। शरीर यो-ही सहज भाव से पानी पर तैरता रहता है। श्रमित होना मन का धर्म है। मन जब कर्मों मे लिप्त रहता है तो श्रम मालूम होता है, परन्तु कर्म जब सहज होने लगते हैं तो फिर उनका बोझ नही मालूम होता। कर्म मानो अकर्म हो जाता है। कर्म आनन्दमय हो जाता है। कर्म को अकर्म कर देना हमारा ध्येय है, इसके लिए स्वधर्माचरण-रूपी कर्म करना है। उन्हें करते हुए हमारे दोष नजर आवेंगे। उन्हे दूर करने के लिए विकर्म का पल्ला पकडना होगा। ऐसा अभ्यास करते रहने से मन की फिर ऐसी स्थिति हो जाती है कि कर्म मे त्रास या कष्ट बिलकुल नही मालूम होता। हजारो कर्म हाथो से होते रहने पर भी मन बिलकुल निर्मल व शान्त रहता है। आप आकाश से पूछिए, 'भाई, आकाश क्या तुम गरमी से झुलस नही जाते, पानी से भीग नही जाते? सर्दी से ठिठुर नही जाते?' तो वह क्या जवाब देगा? वह कहेगा—'मुझे क्या कुछ होता है, इसका फैसला तुम करो, मै कुछ नही जानता।'

"पागल नंगा है या पहने।
इसको लोग देखकर जाने॥"

पागल नंगा है या कपडे पहने है इसका फैसला लोग करते है, पागल को इसका कुछ पता नही रहता।

इसका भावार्थ यह है कि स्वधर्माचरण-सम्बन्धी कर्म, विकर्म की सहायता से उन्हें निर्विकार बनाने की आदत होते-होते स्वाभाविक हो

जाते हैं। बडे-बडे विकट अवसर भी फिर मुश्किल नहीं मालूम होते। कर्मयोग की यह ऐसी कुञ्जी है। कुञ्जी न हो तो ताले को तोडते-तोडते हाथो मे छाले हो जायंगे। परन्तु कुञ्जी हाथ लग जाने पर पल भर मे सब कुछ खुल जायगा। कर्मयोग की इस चाबी के कारण सब कर्म निरुपद्रवी मालूम होते है। यह कुञ्जी मनोजय से मिलती है। अतः मनोजय का अविरत प्रयत्न होना चाहिए। कर्म करते हुए जो मनोमल दिखाई दे उन्हे धो डालने का प्रयत्न करना चाहिए। तो फिर बाह्य कर्मों की झंझट नही मालूम होती। कर्म का अहंकार ही मिट जाता है। काम-क्रोध के वेग नष्ट हो जाते है। क्लेशो का अनुभव तक नही होता। कर्म का भी भान बाकी नहीं रहता।

एक बार मुझे एक भले आदमी ने पत्र लिखा—'अमुक संख्या राम-नाम का जप करना है। तुम भी इसमें शरीक होओ और बताओ कि रोज़ कितना जप करोगे।' वह शख्स अपनी बुद्धि के अनुसार उद्योग कर रहा था। उसे बुरा कहने की दृष्टि से यह नही कह रहा हूँ। परन्तु राम-नाम कुछ गिनने या नापने की चीज नहीं है। मां बच्चे की सेवा करती है तो क्या वह उसकी रिपोर्ट छपाने जाती है? यदि रिपोर्ट छपवाने लगे तो उसका उत्तर मिल जायगा—'थैंक्यू,' और बरी हुए; परन्तु माता रिपोर्ट नही लिखती। वह तो कहती है—'मैने क्या किया, यह क्या कोई बोझ होता है?' विकर्म की सहायता से मन लगाकर, हृदय उंडेल कर जब मनुष्य कर्म करता है तब वह कर्म करता ही नही। अकर्म हो जाता है। यहां क्लेश, कष्ट, अटपटा जैसा कुछ नही रहता।

इस स्थिति का वर्णन नही किया जा सकता। एक धुंधली-सी कल्पना कराई जा सकती है। सूर्य उगता है, पर उसके मन मे क्या कभी यह आता है कि मै अंधेरा मिटाऊंगा, पंखियों को उडने की प्रेरणा करूंगा, लोगों को कर्म करने मे प्रवृत्त करूंगा! वह जहां उगता है, वहीं खडा रहता है। उसका अस्तित्व-मात्र ही विश्व को गति देता है। परन्तु सूर्य को उसका पता नही। आप यदि सूर्य से कहेंगे—'सूर्यदेव,

आपके अनन्त उपकार है, आपने कितना अंधेरा दूर कर दिया।' तो वह चक्कर मे पड जायगा। कहेगा 'जरा-सा अंधेरा लाकर मुझे दिखाओ तो यदि उसे मै दूर कर सका तो मैं कहूंगा कि मैने कुछ किया।' तो अंधेरा क्या सूर्य के पास ले जाया जा सकेगा ? सूरज के अस्तित्व से यदि अंधकार दूर होता होगा तो उसके प्रकाश मे कोई सद्ग्रन्थ पढता होगा और कोई असद्ग्रन्थ भी पढ लेगा, कोई आग लगा देगा तो कोई किसी का भला कर रहा होगा। परन्तु इस पाप-पुण्य से सूर्य का क्या सरोकार ? सूर्य कहता है—"प्रकाश मेरा सहज धर्म है। मेरे पास यदि प्रकाश न होगा तो फिर होगा क्या ? मै जानता ही नही कि मैं प्रकाश दे रहा हूं। मेरा होना ही प्रकाश है। प्रकाश देने की क्रिया का कष्ट मै नही जानता। मुझे नही प्रतीत होता कि मै कुछ कर रहा हू।"

सूर्य का यह प्रकाश-दान जैसे स्वाभाविक है, वैसा ही हाल सन्तो का है। उनका जीवित रहना ही मानो प्रकाश देना है। आप यदि किसी ज्ञानी मनुष्य से कहे कि 'आप महान् सत्यवादी है' तो वह कहेगा—'मै यदि सत्य पर न चलूं तो करूंगा क्या ? मै ज्यादा क्या करता हूं ?' ज्ञानी पुरुष मे असत्यता हो ही नही सकती।

अकर्म की यह ऐसी भूमिका है। साधन इतने नैसर्गिक व स्वाभाविक हो जाते है कि उनका आना-जाना मालूम ही नही पडता। इन्द्रियां उनकी सहज आदी हो जाती है। 'सहज बोलना, हित उपदेश' वाली स्थिति हो जाती है। जब ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाती है तब कर्म अकर्म हो जाता है। ज्ञानी पुरुष के लिए सत्कर्म सहज हो जाते है। किलकिलाते रहना पंखियो का सहज धर्म है। मा की याद आना बच्चो का सहज धर्म है। इसी तरह ईश्वर का स्मरण होना सन्तो का सहज धर्म हो जाता है। सुबह होते ही 'कुकडूं कूं' करना मुर्गे का सहज धर्म है। स्वरो का ज्ञान कराते हुए भगवान् पाणिनि ने मुर्गे की ध्वनि का उदाहरण दिया है। पाणिनि के समय से आज तक मुर्गा सुबह बोलता है; पर क्या इसके लिए उसे किसीने मानपत्र अर्पण किया है ?

मुर्गे का वह सहज धर्म ही है। उसी तरह सच बोलना, भूतमात्र के प्रति दया, किसी का ऐब, खामी न देखना, सबकी सेवा-सुश्रूषा करना आदि सत्पुरुषो के कर्म सहज रूप से होते रहते हैं। उनके किये बिना वह जिन्दा ही नहीं रह सकते। भोजन करने के लिए हम क्या किसी का गौरव करते है? खाना, पीना, सोना जैसे सांसारिकों के सहज कर्म है वैसे ही सेवा-कर्म ज्ञानियो के लिए सहज कर्म हैं। उपकार करना उनका स्वभाव हो जाता है। वह यदि कहेगा कि मै उपकार नही करूंगा तो यह असम्भव है। ऐसे ज्ञानी पुरुष का वह कर्म अकर्म दशा को पहुंच गया है, ऐसा समझना चाहिए। इसी दशा को 'संन्यास' नामक अति पवित्र पदवी दी गई है। संन्यास यही परम धन्य अकर्म दशा है। इसी दशा को कर्मयोग भी कहना चाहिए। कर्म करता रहता है, अतः वह 'योग' है, परन्तु करते हुए भी वह करता है ऐसा मालूम नहीं होता, इसीलिए वही 'संन्यास' है। वह कुछ ऐसी युक्ति से कर्म करता है कि उसका लेप उसे नहीं लगता—इसलिए वह 'योग' है; व करके भी कुछ नहीं किया इसलिए वह 'संन्यास' है।

(३)

'संन्यास' की आखिर कल्पना क्या है? कुछ कर्म छोडना, कुछ कर्म करना, यह कल्पना है क्या? नही, ऐसी बात नहीं है। संन्यास की व्याख्या ही ऐसी है "सब कर्मों को छोडना"। सब कर्मों से होना,मुक्त कर्म जरा भी न करना संन्यास है। परंतु कर्म न करने का मतलब क्या? कर्म बडी विचित्र वस्तु है। सर्व-कर्म-संन्यास होगा कैसे? कर्म तो आगे-पीछे, अगल-बगल सब ओर व्याप्त हो रहा है। अजी बैठना भी तो क्रिया ही हुई न? 'बैठना' क्रिया है। केवल व्याकरण की दृष्टि से ही वह क्रिया नहीं हुई, परन्तु सृष्टि-शास्त्र मे भी 'बैठना' क्रिया ही है। और तो ठीक, सतत बैठे रहने से पैर दुखने लगते हैं। बैठने में भी श्रम तो है ही। जहां न करना तक भी कर्म सिद्ध होता है वहां कर्म-संन्यास होगा कैसे? भगवान् ने अर्जुन को विश्व-रूप दिखलाया। वह सर्वत्र फैला हुआ विश्व-रूप देख कर अर्जुन

डर गया व घबरा कर उसने आंखें मूंद ली। परन्तु आंखे मूंदने पर भी जब वह देखने लगा तो वह भीतर भी दिखाई देने लगा। अब आंखे मूंद लेने पर भी जो दीखता है उससे कैसे बचा जाय ? न करने से भी जो होता है उसे कैसे टाला जाय ?

एक शख्स की बात है। उसके पास सोने के बहुत बेश-कीमती गहने थे। वह उन्हे एक बडे सन्दूक मे बन्द करके रखना चाहता था। नौकर एक खासा बडा-सा लोहे का सन्दूक बनवा लाया। उसे देखकर उस शख्स ने कहा—'तू कैसा बेवकूफ है रे ! गवांर, तू सुन्दरता जैसी भी कोई चीज समझता है या नही ? ऐसे बेशकीमती जेवर रखना है तो क्या भद्दे मनहूस लोहे के सन्दूक मे रक्खे जायंगे ? जा, अच्छा सोने का सन्दूक बनाकर ला !' नौकर सोने का सन्दूक बनवा लाया। 'अब ताला भी सोने का ही ले आओ। सोने के सन्दूक मे सोने का ही ताला फबेगा।' वह शख्स गया था जेवर को छिपाने, उसे ढॉक कर रखने; लेकिन वह सोना छिपाता कैसे ? चोरो को ज़ेवर खोजने की जरूरत ही नहीं रही। सन्दूक उडाया और काम बन गया। मतलब यह है कि कर्म न करना भी कर्म करने का ही एक प्रकार हो जाता है। इतना व्यापक जो कर्म है उसका संन्यास किया कैसे जाय ?

ऐसे कर्मों का संन्यास करने की रीति ही यह है कि ऐसी तरकीब साधी जाय जिससे दुनिया भर के कर्म करते हुए भी वे सब गल कर बह जांय। जब ऐसा हो सकेगा तभी कह सकते है कि 'सन्यास-प्राप्ति' हुई। कर्म करके भी उन सबका 'गल जाना' यह बात आखिर है कैसी ? तो सूर्य के जैसी है। सूर्य रात-दिन कर्म कर रहा है। रात को भी वह कर्म करता ही है। उसका प्रकाश दूसरे गोलार्द्ध मे काम करता रहता है परन्तु इतने कर्म करते हुए भी, ऐसा कहा जाता है कि वह कुछ भी नही करता। इसीलिए चौथे अध्याय मे भगवान् कहते है—मैने यह योग पहले सूर्य को सिखाया, फिर सूर्य से विचार करने वाले, मनन करने वाले, मनु ने इसे सीखा। चौबीस घण्टे कर्म करते हुए भी सूर्य

लेश-मात्र कर्म नही करता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह स्थिति सचमुच अद्भुत् है।

(४)

परन्तु यह तो संन्यास का सिर्फ एक प्रकार हुआ। 'कर्म करके भी नहीं करता' यह स्थिति का एक पहलू हुआ। उसका दूसरा पहलू भी है। वह कुछ भी कर्म नहीं करता, फिर भी सारी दुनिया को कर्म करने मे प्रवृत्त करता है। इसमे अपरम्पार प्रेरक शक्ति है अकर्म की खूबी भी यही है। अकर्म मे अनंत कार्य के लिए आवश्यक शक्ति भरी रहती है। भाप को रोक कर रखिए तो कितना प्रचण्ड कार्य करती है। उस रोकी हुई भाप मे अपार शक्ति आ जाती है। वह बडे-बडे जहाज और रेलगाडियो को बात-की-बात मे खीच ले जाती है। सूर्य की भी ऐसी ही बात है। वह लेशमात्र भी कर्म नही करता, परन्तु चौबीस घण्टे एक-सा काम करता व करवाता है। उससे पूछेंगे तो वह कहेगा, 'मै कुछ नही करता'। रात-दिन कर्म करते हुए न करना-जैसे यह सूर्य का एक पहलू हुआ वैसे ही कुछ न करते हुए रात-दिन अनंत कर्म करना व कराना यह दूसरा पहलू हुआ। संन्यास इन दोनो प्रकारो से विभूषित है।

दोनो असाधारण हैं। एक प्रकार मे कर्म प्रकट होता है व अकर्मावस्था गुप्त रहती है। दूसरे प्रकार मे अकर्मावस्था प्रकट दिखाई देती है;परन्तु उसकी बदौलत अनंत कर्म होते रहते है। इस अवस्था में अकर्म मे कर्म लबालब भरा रहता है व उससे प्रचण्ड कार्य होता है। ऐसी अवस्था को प्राप्त व्यक्ति मे व किसी आलसी आदमी मे बडा अंतर है। आलसी मनुष्य थक जायगा, ऊब जायगा। लेकिन यह अकर्मी संन्यासी कर्म-शक्ति को रोक कर के रखता है। लेशमात्र भी कर्म नही करता। वह हाथ-पांव से, किसी इंद्रिय से कोई कर्म नही करता। परन्तु कुछ न करते हुए भी कर्म करता है।

किसी मनुष्य को गुस्सा आ गया। यदि हमारी किसी भूल से वह

गुस्सा हुआ है तो हम उसके पास जाते है। वह चुप रहता है, बोलता नही। अब उसके अबोल का, उस कर्मत्याग का कितना प्रचण्ड परिणाम होता है। दूसरा बड-बड बोलता चला जायगा। दोनो है तो गुस्से मे ही। परन्तु एक मौन है, दूसरा बडबडाता है। दोनो है गुस्से के ही नमूने। न बोलना भी है तो क्रोध का—ही एक रूप। पर उससे भी कार्य होता है। मां या वाप ने बच्चे से बोलना बन्द कर दिया तो उसका परिणाम कितना प्रचण्ड होता है। उस बोलने के कर्म को छोड देने से, उस कर्म को न करने से इतना प्रचण्ड परिणाम होता है कि प्रत्यक्ष कर्म करने पर भी उतना नही हो सकता था। उस अबोल का जो प्रभाव हुआ वह बोलने से नही हो सकता। ज्ञानी पुरुषो की ऐसी ही स्थिति होती है। उनका अकर्म ही, उनका खामोश बैठना ही प्रचण्ड कर्म करता है, प्रचण्ड सामर्थ्य उत्पन्न करता है। अकर्मी रहकर वह इतने कर्म करता है कि वे सब क्रिया के द्वारा प्रकट ही नहीं हो सकते। इस तरह यह सन्यास का दूसरा प्रकार है।

ऐसे संन्यास के सारे उद्योग, सारी मिहनत एक आसन पर आकर बैठ जाते है।

"उद्योग की दौड बैठी है सुस्थिर।
प्रभु के पंखो मे गठरी जैसा॥
चिन्ता गई सारी, हुआ है भरोसा।
अब गर्भवास छूटा मेरा॥
अपनी सत्ता से हूँ नहीं जीता।
यो अभिमान छीना प्रभु ने॥
तुका कहे जीता एक की सत्ता से।
हूँ मै खोखला खोखा जैसे॥"

तुकाराम कहते है—"मै अब खाली हो गया हूँ। गठरी होकर बैठ गया हूँ। सब उद्योग खत्म हो गए।" तुकाराम खाली अर्थात् खोखले हो गए। परन्तु उस खोखले खोखे मे प्रचण्ड प्रेरक शक्ति है। सूर्य

स्वतः आवाज नहीं लगाता, परन्तु उसके दीखते ही पंछी उड़ने लगते है, मेमने नाचने लगते है, बनिया महाजन दूकान खोलते है, किसान खेत पर जाते हैं, संसार के नाना व्यवहार शुरू हो जाते हैं। सूर्य जैसा है वैसा ही रहे तो काफी है। उतने ही से अनंत कर्म शुरू हो जाते हैं। इस अकर्मावस्था मे अनंन्त कर्मों की प्रेरणा भरी रहती है, सामर्थ्य ठसाठस भरा रहता है। ऐसा यह संन्यास का दूसरा प्रकार है।

(४)

पांचवे अध्याय में संन्यास के दो प्रकारों की तुलना की गई है। एक चौबीसों घटे कर्म करके भी कुछ नहीं करता और दूसरा एक क्षण भर भी कुछ न करके सब कुछ करता है। एक बोलकर न बोलने का प्रकार, तो दूसरा न बोलकर बोलने का प्रकार। इन दो प्रकारो की यहां तुलना की गई है। हम इन दो दिव्य प्रकारो का अवलोकन करें, इसमें अपूर्व आनंद है।

यह विषय ही अपूर्व व उदात्त है। सचमुच ही संन्यास की यह कल्पना ही पवित्र व भव्य है। जिस किसीने यह विचार—यह कल्पना पहले-पहल खोज निकाली उसे कितने धन्यवाद दिये जायं। यह बडी उज्ज्वल कल्पना है। मानवी बुद्धि ने, मानवीय विचार ने अब तक जो ऊंची उडानें मारी है उन सब मे ऊंची उडान संन्यास तक पहुँची है। इसके आगे अभी तक कोई उडान न मार सका। उडाने मारना तो जारी है। परंतु मै नही कह सकता विचार और अनुभव मे इतनी ऊंची उडान किसीने मारी हो। इन दो प्रकारो से युक्त संन्यास की कोरी कल्पना ही आंखो के सामने आने से अपूर्व आनन्द होता है। किन्तु भाषा और व्यवहार के इस जगत् में जब आते है तब वह आनन्द कम हो जाता है। जान पडता है, नीचे गिर रहे है। मैं अपने मित्रों से इसके विषय में हमेशा कहता रहता हूं। आज कितने ही वर्षों से मै इन दिव्य विचारों का मनन कर रहा हूँ। यहां भाषा लंगडी हो जाती है। शब्दों की कक्षा में यह आता ही नहीं।

न करके सब कुछ कर डाला, व सब कुछ करके भी लेशमात्र नही किया—कितनी उदात्त, रसमय व काव्यमय यह कल्पना है। अब काव्य और क्या बाकी रहा ? जो कुछ काव्य के नाम से प्रसिद्ध है वह सब इस काव्य के आगे फीका है। इस कल्पना मे जो आनन्द, जो उत्साह, जो स्फूर्ति व जो दिव्यता है वह किसी भी काव्य मे नही। इस तरह यह पांचवां अध्याय ऊंची—बड़ी ऊंची भूमिका पर प्रतिष्ठित किया गया है। चौथे अध्याय तक कर्म, विकर्म बताकर यहां खूब ही ऊंची उडान मारी है। यहां अकर्म दशा के दो प्रकारो की प्रत्यक्ष तुलना ही की है। यहां भाषा बेकार हो जाती है। कर्मयोगी श्रेष्ठ या कर्म-संन्यासी श्रेष्ठ—कर्म कौन ज्यादा करता है, यह कहा ही नही जा सकता। सब करके भी कुछ न करना व कुछ भी न करते हुए सब कुछ करना ये दोनो संन्यास है–योग हैं। परन्तु तुलना के लिए एक को योग कहा है, दूसरे को संन्यास।

(६)

तो अब इनकी तुलना कैसे की जाय ? इसके लिए उदाहरण से ही काम लेना पडेगा। जब उदाहरण देने जाते हैं तो प्रतीत होता है मानो नीचे गिर रहे है। परन्तु नीचे गिरना ही होगा। सच पूछिए तो पूर्ण कर्म-सन्यास अथवा पूर्ण कर्म-योग ये कल्पनाएं ऐसी है जो इस शरीर मे नही समा सकती। वे इस देह को फोड डालेगी। परन्तु जो महापुरुष इस कल्पना के नजदीक तक पहुंच गये है उनके उदाहरण से हमे काम चलाना होगा। उदाहरण तो सदा अधूरे ही रहने वाले है। परन्तु थोडी देर के लिए यही मान लेना होगा कि वे पूर्ण हैं।

रेखागणित में जैसा कहते है कि कल्पना करो–'सा' 'रे' 'ग'–एक त्रिकोण है। भला 'कल्पना' क्यों करे ? क्योंकि इस त्रिकोण की रेखाएं यथार्थ रेखाएं नही है। रेखा की तो व्याख्या ही यह है कि जिसमें लम्बाई है पर चौडाई नही। तो अब तख्ते पर बिना चौड़ाई के यह लम्बाई दिखाई कैसे जाय ? लम्बाई जहां खींची कि चौडाई आही जाती है।

जो भी रेखा हम खींचेंगे उसमें कुछ-न-कुछ चौड़ाई रहेगी ही। इसलिए भूमिति-शास्त्र मे रेखा 'माने' बिना काम ही नहीं चलता। भक्ति-शास्त्र मे भी ऐसी ही बात है। वहां भी भक्त कहता है—इस छोटी-सी शालग्राम की बट्टी मे अखिल ब्रह्माण्ड-नायक है, यह मानो। यदि कोई कहे—"यह क्या तमाशा लगाया है?" तो उससे कहो—"तुम्हारा यह भूमिति का क्या तमाशा है? बिलकुल स्पष्टत: मोटी रेखा दिखाई पड़ती है और कहते हो कि इसे बिना चौड़ाई की मानो, यह क्या मजाक है?" खुर्दबीन से देखोगे तो वह आधा इंच चौड़ी दिखाई देगी। जैसे तुम अपनी भूमिति मे मानते हो, वैसे ही भक्ति-शास्त्र कहता है कि—"मानो, इस शालग्राम मे परमेश्वर मानो।" अब कोई यदि यह कहे कि "परमेश्वर न टूटता है, न फूटता। तुम्हारा यह शालग्राम तो फूट जायगा, लगाऊं एक चोट?" तो यह समझदारी नहीं कही जायगी। क्योंकि जब भूमिति मे "मानो" चलता है तो फिर भक्ति-शास्त्र मे क्यों न चलना चाहिए? बिन्दु को कहते है 'मानो' और तख्ते पर बिन्दु (प्रत्यक्ष) निकालते है। बिन्दु भी क्या, एक खासा वर्तुल होता है। बिन्दु की व्याख्या क्या है, ब्रह्म की ही व्याख्या है। बिन्दु की न लम्बाई, न चौड़ाई, न मोटाई—कुछ भी नही। किन्तु व्याख्या तो ऐसी करते है व फिर उसे तख्ते पर बनाकर दिखाते है। पर बिन्दु तो वास्तव मे अस्तित्व मात्र है, त्रि-परिमाण रहित है। मतलब यह कि सच्चा त्रिकोण—सच्चा बिन्दु व्याख्या मे ही रहता है। परन्तु हमको उसे मानकर चलना पड़ता है। भक्ति-शास्त्र मे भी शालग्राम में न टूटने-फूटने वाला सर्व-व्यापी परमेश्वर मानना पड़ता है। हम भी ऐसे ही काल्पनिक दृष्टान्त लेकर इनकी तुलना करेंगे।

मीमांसकों ने एक बड़ा मजा किया है। परमेश्वर कहां है—इसकी मीमांसा करते हुए उन्होंने बड़ा सुन्दर विवरण किया है। वेदों मे इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि देवता आते हैं। इन देवताओं की मीमांसा का विचार करते हुए एक ऐसा प्रश्न पूछा जाता है—'यह इन्द्र कैसा है। इसका रूप क्या है? यह रहता कहां है?' मीमांसक उत्तर देते हैं—'इन्द्र'

शब्द ही इन्द्र का रूप है। 'इन्द्र' शब्द में ही वह रहता है। 'इ' व उस पर अनुस्वार, फिर 'द्र'—यही उसका स्वरूप है। वही उसकी मूर्ति, वही परिमाण। वरुण देवता कैसे? वैसे ही। पहले 'व' फिर 'रु', फिर 'ण'। व रु ण—यह वरुण का रूप। इसी तरह अग्नि आदि देवताओं के विषय मे समझिए। ये देवता अक्षर-रूप-धारी है। देवता सब अक्षर-मूर्ति है, इस कल्पना मे—इस विचार मे बडी मिठास है। देव की कल्पना—देव-वस्तु किसी आकार मे न समाने जैसी है। उस कल्पना को प्रदर्शित करने के लिए अक्षर जैसा चिन्ह ही काफी होगा। ईश्वर कैसा है? तो पहले 'ई' फिर 'श्व' फिर 'र'। आखिर मे 'ॐ' ने तो कमाल ही कर डाला। 'ॐ' अक्षर ही ईश्वर हो गया। ईश्वर के लिए वह एक सज्ञा हो बन गया। ऐसी संज्ञाएं बनानी पडती है। क्योंकि मूर्ति मे—आकार मे ये विशाल कल्पनाए समा ही नही सकती। परन्तु मनुष्य की इच्छा बडी जबरदस्त होती है। वह इन कल्पनाओं को मूर्ति मे प्रविष्ट करने का प्रयत्न किये बिना नही रहता।

(७)

सन्यास व योग ये बहुत ऊंची उडाने है। पूर्ण संन्यास व पूर्ण योग की कल्पना इस देह मे नहीं समा सकती। भले ही देह मे ये ध्येय न समा सकें, तो भी विचार मे जरूर समा जाते है। पूर्ण योगी और पूर्ण संन्यास तो व्याख्या मे ही रहने वाले हैं। ध्येयभूत और अप्राप्य ही रहेंगे। परन्तु उदाहरण के तौर पर ऐसे व्यक्ति लेने होगे जो इन कल्पनाओं के अधिक-से-अधिक नजदीक पहुच पाये होगे। और फिर भूमिति की तरह कहना होगा कि'इसे पूर्ण योगी और इसे पूर्ण सन्यासी''समझो'। शुक, याज्ञवल्क्य के नाम संन्यासियो मे गिनाये जाते हैं। इधर कर्मयोगी के रूप में जनक और श्रीकृष्ण का नाम खुद भगवद्गीता मे ही लिया गया है। लोकमान्य ने 'गीता-रहस्य' मे एक नामावली ही दे दी है। "जनक, श्रीकृष्ण आदि इस मार्ग से गए; शुक, याज्ञवल्क्य आदि उस मार्ग से गए।" परन्तु थोड़ा विचार करने से यह फेहरिस्त जैसी की तैसी मिटा

देनी पडेगी । याज्ञवल्क्य संन्यासी थे, जनक कर्मयोगी थे । इसका यह अर्थ हुआ कि संन्यासी याज्ञवल्क्य के कर्मयोगी जनक शिष्य थे । फिर उसी जनक के शिष्य शुकदेव संन्यासी हुए । याज्ञवल्क्य के शिष्य जनक और जनक के शिष्य शुक । संन्यासी, फिर कर्मयोगी, फिर संन्यासी— ऐसी यह मालिका बनती है। इससे योग और संन्यास एक–ही परम्परा मे आ जा जाते है ।

शुकदेव से व्यास ने कहा–"बेटा शुक, तुम ज्ञानी तो हो, परन्तु गुरु की मोहर (छाप) अभी तुम पर नही लगी । इसलिए तुम जनक के पास जाओ।" जनक तीसरे मंजिल पर अपने विशाल-भवन मे बैठे थे । शुक थे वनवासी ! नगर देखते-देखते चले । जनक ने शुकदेव से पूछा—"क्यों आये ?" शुक ने कहा—"ज्ञान पाने के लिए।" "किसने भेजा ?" "व्यासदेव ने।" "कहां से आए ?" "आश्रम से ।" "आते हुए बाजार मे क्या-क्या देखा ?" "चारो तरफ एक शकर की ही मिठाई सजी हुई दिखाई दी।" "और क्या देखा ?" "चलते-बोलते शकर के पुतले देखे।" "फिर क्या देखा ?" "यहां आते हुए शकर की सख्त सीढियां मिली।" "फिर क्या मिला ?" "शकर के चित्र यहां भी सर्वत्र देख रहा हूं।" "अब क्या दीख रहा है ?" "एक शकर का पुतला दूसरे शकर के पुतले से बात कर रहा है।" जनक ने कहा,"जाओ, तुमको सब ज्ञान मिल चुका।" जनक से उन्हे अभीष्ट प्रमाणपत्र मिल गया । मुद्दा यह कि कर्मयोगी जनक ने संन्यासी शुकदेव को शिष्य के रूप मे प्रमाण-पत्र दिया । शुक तो संन्यासी ही थे परन्तु प्रसंग कैसा मजेदार है ! परीक्षित को शाप मिला। सात दिन में तुम्हारी मौत आ जायगी। परीक्षित को मरने की तैयारी करनी थी । उसे ऐसा गुरु चाहिए था जो यह सिखाये कि मरे कैसे । उसने शुकाचार्य को बुलाया । शुकाचार्य आकर जो बैठे तो २४ × ७=१६८ घंटे पलथी मार कर भागवत सुनाते रहे । जो आसन जमाया तो फिर छोड़ा ही नही । एक-सी कथा कहते ही रहे ।' तो इसमें कौन बडी बात है ?' बड़ी बात यह कि सतत सात दिन तक उनको भारी श्रम करना

पडा। फिर भी वह उन्हे कुछ नहीं मालूम हुआ। सतत कर्म करते रह-कर भी मानो वह कर्म कर ही नही रहे थे। श्रम की भावना ही वहां नही थी। सार यह कि संन्यास और कर्म-योग ये दोनो भिन्न हैं ही नही।

इसलिए भगवान् कहते हैं—

"एकं साख्यं च योगं च य. पश्यति स पश्यति।"

संन्यास और योग मे जो एकरूपता देखेगा, कहना होगा कि उसी ने वास्तविक रहस्य समझा है। एक न करके करता है और दूसरा करके भी नही करता। जो सचमुच श्रेष्ठ संन्यासी है, जिसकी सदैव समाधि लगी रहती है, जो बिलकुल निर्विकार है, ऐसा संन्यासी पुरुष यदि दस दिन भी हमारे-आपके बीच आता रहे तो कितना प्रकाश, कितनी स्फूर्ति उससे मिलेगी! अनेक वर्षो तक काम का ढेर लगा कर भी जो नही हुआ वह केवल उसके दर्शन से—अस्तित्व मात्र से हो जायगा। फोटो देखकर यदि मन मे पावनता उत्पन्न होती है, मृत लोगो के चित्रो से यदि भक्ति प्रेम, पवित्रता हृदय मे उत्पन्न होती है तो जीवित संन्यासी के मिल जाने पर कितनी प्रेरणा प्राप्त होगी? सन्यासी और योगी दोनो ही लोक-संग्रह करते हैं। एक जगह यदि बाहर से कर्म-त्याग दिखाई दिया तो भी उस कर्म-त्याग मे कर्म लबालब भरा हुआ है। उसमे अनन्त स्फूर्ति भरी हुई है। ज्ञानी सन्यासी और ज्ञानी कर्म-योगी दोनो एक ही सिहासन पर बैठने वाले जीव है। उनकी संज्ञाएं भिन्न-भिन्न होने पर भी अर्थ एक ही है। एक ही तत्त्व के ये दो पहलू या प्रकार है। यंत्र जब वेग से घूमता है जो वह ऐसा दिखाई देता है मानो स्थिर है, घूम नहीं रहा है। सन्यासी की भी स्थिति ऐसी ही होती है। उसकी शांति मे से, स्थिरता मे से अनन्त शक्ति, अपार प्रेरणा निकलती है। महा-वीर, बुद्ध, निवृत्तिनाथ ऐसी ही विभूतियां थीं। संन्यासी के तमाम उद्योगो की दौड एक आसन पर आकर स्थिर हो जाय तो भी वह प्रचण्ड कर्म करता है। मतलब यह कि योगी ही संन्यासी है और संन्यासी ही योगी है। शब्द अलग-अलग है पर अर्थ एक ही है। पत्थर

के माने पाषाण और पाषाण के माने पत्थर जैसे है वैसे ही कर्मयोगी के माने संन्यासी और संन्यासी के माने कर्मयोगी है।

(८)

बात यद्यपि ऐसी है तो भी भगवान् ने एक तुर्रा लगा रखा है। भगवान् कहते है—संन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है। जब दोनो ही एक से है तो फिर भगवान् ऐसा क्यो कहते है? यह फिर क्या रहस्य है? जब भगवान् कहते है कि कर्मयोग श्रेष्ठ है तब वह साधक की दृष्टि से कहते है। बिलकुल कर्म न करते हुए सब कर्म करने की विधि एक सिद्ध के लिए शक्य है, साधक के लिए नही। परन्तु सब कर्म करके भी कुछ न करना—इसीमे थोडा-बहुत अनुकरण किया जा सकता है। एक विधि ऐसी है जो साधक के लिए शक्य नही, सिर्फ सिद्ध के ही लिए शक्य है। दूसरी ऐसी है जो साधक के लिए भी थोडी बहुत शक्य है। बिलकुल कर्म न करते हुए कर्म कैसे करना, यह साधक के लिए एक पहेली ही रहेगी। यह उसकी समझ मे नही आ सकता। कर्मयोग साधक के लिए एक मार्ग भी है व मुक़ाम—पडाव भी है; परन्तु संन्यास तो आख़िरी मंजिल पर ही है, मार्ग मे नही है। इसी कारण संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग साधक की दृष्टि से श्रेष्ठ है।

इसी न्याय से भगवान् ने आगे बारहवें अध्याय में निर्गुण की अपेक्षा सगुण को विशेष माना है। सगुण मे सब इन्द्रियो के लिए काम है; निर्गुण मे ऐसा नही है। निर्गुण मे हाथ बेकार, पांव बेकार, आंखें बेकार—सब इन्द्रियां कर्म-शून्य ही रहती हैं। साधक से यह सब नहीं सध सकता। परन्तु सगुण मे ऐसी बात नहीं है। आंखो से रूप देखते हैं, कानों से कीर्तन सुन सकते हैं, हाथ से पूजा कर सकते हैं, लोगों की सेवा की जा सकती है, पांव से तीर्थ-यात्रा होती है—इस तरह सब इन्द्रियों को काम देकर उनसे वैसा-वैसा काम कराते हुए धीरे-धीरे उन्हें हरिमय बना देना सगुण में शक्य रहता है। परन्तु निर्गुण में यह सब बन्द; जीभ बन्द, कान बन्द, हाथ-पैर बन्द। यह सारा 'बन्दी' प्रकार

देखकर बेचारा साधक घबरा जाता है ! उसके चित्त मे निर्गुण बैठेगा कैसे ? वह यदि खामोश बैठ रहेगा तो उसके चित्त मे अगट-शगट विचार आने लगेगे। इन्द्रियो का यह स्वभाव ही है कि उन्हे कहते हैं कि न करो तो वे जरूर करेगी। विज्ञापनो मे क्या ऐसा ही नहीं होता ? ऊपर लिखते है 'मत पढो।' तो पाठक मन मे कहता है यह जो न पढने को लिखा है तो पहले इसीको पढो न ! परन्तु यह कहना कि 'मत पढो' इसी उद्देश से होता है कि पाठक उसे जरूर पढे। मनुष्य अवश्य ही उसे जतन से पढता है। निर्गुण मे मन भटकता रहेगा। सगुण भक्ति की बात ऐसी नहीं। वहां आरती है, पूजा है, सेवा है, भूत-दया है, इन्द्रियो के लिए वहां काम है। इन इन्द्रियो को ठीक काम मे लगाकर फिर मन से कहो 'अब जाओ जहा जी चाहे।' परन्तु तब मन नही जाने का। वही रम रहेगा, अनजाने ही एकाग्र हो जायगा। परन्तु यदि उसे जान-बूझकर एक स्थान पर बैठाना चाहोगे तो वह भाग ही छूटेगा। भिन्न-भिन्न इन्द्रियो को उत्तम, सुन्दर, काम मे लगा दो, फिर मन को खुशी से भटकने के लिए कह दो। वह नही भटकेगा। उसे जाने की बिलकुल छुट्टी दे दो तो वह कहेगा—'लो मै यही बैठ गया।' यदि उसे हुक्म दिया कि 'चुप बैठो' तो कहेगा 'मै यह चला !'

देहधारी मनुष्य के लिए सुलभता की दृष्टि से निर्गुण की बनिस्बत सगुण श्रेष्ठ है। कर्म करते रहते भी उसे उडा देने की युक्ति कर्म न करते हुए कर्म करने की अपेक्षा श्रेष्ठ है। क्योकि उसमे आसानी होती है। कर्मयोग मे प्रयत्न, अभ्यास के लिए जगह है। सब इन्द्रियो को अपने अधीन बनाकर धीरे-धीरे सब उद्योगो से मन हटा लेने का अभ्यास कर्मयोग में किया जा सकता है। यह तरकीब आज न सधी तो कल सध सकती है। कर्मयोग अनुकरण-सुलभ है। संन्यास की अपेक्षा यही उसकी विशेषता है। परन्तु पूर्णावस्था में कर्मयोग व संन्यास दोनो एक ही से है। पूर्ण संन्यास व पूर्ण कर्मयोग दोनो एक ही है। नाम दो है, देखने मे अलग-अलग हैं, परन्तु असल में दोनो हैं एक ही। एक प्रकार

में कर्म का भूत बाहर नाचता हुआ दिखाई देता है, परन्तु भीतर शांति है। दूसरे प्रकार मे कुछ न करते हुए त्रिभुवन को हिला डालने की शक्ति है। जो दीख पडता है वह नही है—यह दोनो का स्वरूप है। पूर्ण कर्मयोग संन्यास है, तो पूर्ण संन्यास कर्मयोग है। कोई भेद नहीं। परन्तु साधक के लिए कर्मयोग सुलभ है। पूर्णावस्था मे दोनों एक ही है।

ज्ञानदेव को चांगदेव ने एक पत्र भेजा। वह सिर्फ कोरा कागद था। चांगदेव से ज्ञानदेव उम्र में छोटे थे। 'चिरंजीव' लिखते है तो ज्ञानदेव ज्ञान मे श्रेष्ठ थे, 'पूज्य' लिखे तो उम्र मे कम थे। अब मजमून भी क्या लिखें ? कुछ तय नहीं हो पाता था। अतः चांगदेव ने कोरा कागद ही भेज दिया। वह पहले निवृत्तिनाथ के हाथ मे पडा। उन्होंने उसे पढकर ज्ञानदेव को दे दिया। ज्ञानदेव ने पढा व मुक्ताबाई को दे दिया। मुक्ताबाई ने पढकर कहा—'चांगदेव, इतना बडा होगया है, पर है अभी कोरा-का-कोरा ही।' निवृत्तिनाथ ने और ही अर्थ पढा था। उन्होंने कहा—'चांगदेव कोरे है, शुद्ध है, निर्मल है, उपदेश देने के योग्य है।' फिर ज्ञानदेव से कहा तुम अपना उत्तर सुनाओ। ज्ञानदेव ने ६५ ओवियों[1] का पत्र भेजा। उसे 'ज्ञानदेव पासष्ठी' कहते है। इस पत्र की ऐसी मनोरंजक कथा है। लिखा हुआ पढना सरल है, परन्तु न लिखा हुआ पढना कठिन है। उसका पढना कभी खतम ही नहीं होता। इसी तरह संन्यासी रीता, कोरा दिखाई दिया तो भी उसमे अपरम्पार कर्म भरा रहता है।

संन्यास व कर्मयोग—पूर्ण रूप मे दोनों की कीमत एक-सी है; परन्तु कर्मयोगी की व्यावहारिक कीमत और ज्यादा है। एक नोट की कीमत पाच रुपये है। सोने का सिक्का भी पांच रुपये का होता है। जब तक सरकार स्थिर है तब तक दोनो की कीमत एक-सी है; परतु यदि सरकार बदल गई तो फिर व्यवहार मे उस नोट की कीमत एक पैसा भी नहीं मिलता। मगर सोने के सिक्के की कीमत जरूर कुछ-न-

[1] एक मराठी प्रचलित छन्द

कुछ मिल जायगी। क्योंकि आखिर वह सोना है। पूर्णावस्था मे कर्म-त्याग व कर्मयोग दोनो की कीमत एक-सी है; क्योंकि ज्ञान दोनों मे समान है। ज्ञान की कीमत अनन्त है। अनन्त मे कुछ मिलाओ तो कीमत अनन्त ही रहती है। गणित-शास्त्र का यह सिद्धांत है। कर्म-त्याग व कर्मयोग जब परिपूर्ण ज्ञान मे मिल जाते है तो दोनो की कीमत बराबर हो जाती है। परन्तु ज्ञान को यदि दोनो ओर से हटा लिया तो फिर कर्म-त्याग की अपेक्षा कर्मयोग ही साधक के लिए श्रेष्ठ सिद्ध होगा। ठोस शुद्ध ज्ञान दोनों ओर लिया जाय तो कीमत एक-सी है। मंजिल पर पहुँच जाने पर ज्ञान + कर्म=ज्ञान + कर्माभाव। परन्तु ज्ञान को दोनो ओर से घटा दीजिए तो फिर कर्म के अभाव की अपेक्षा कर्म ही साधक के लिए श्रेष्ठ ठहरेगा। न करके करना साधक की समझ मे ही नही आ सकता। करके न करना वह समझ सकता है। कर्मयोग मार्ग मे भी है और मुकाम पर भी है, परन्तु संन्यास सिर्फ मुकाम पर ही है, मार्ग मे नहीं। यदि यही बात शास्त्र की भाषा मे कहनी हो तो कर्मयोग साधन भी है, व निष्ठा भी है; परन्तु संन्यास सिर्फ निष्ठा है। निष्ठा का अर्थ है अंतिम अवस्था।

छठा अध्याय

रविवार, २७-३-३२

(१)

पांचवे अध्याय मे हम कल्पना और विचार के द्वारा देख सके कि मनुष्य ऊंची-से-ऊंची उडान कहां तक मार सकता है। कर्म, विकर्म, अकर्म मिलकर सारी साधना पूर्ण होती है। कर्म स्थूल वस्तु है। जो-जो स्वधर्म-कर्म हम करे उनमे हमारे मन का सहयोग होना चाहिए। मानसिक शिक्षण के लिए जो कर्म किया जाय वह विकर्म, विशेष कर्म अथवा सूक्ष्म कर्म है। जरूरत कर्म और विकर्म दोनो की ही है। इन दोनो का प्रयोग करते करते अकर्म की भूमिका तैयार होती है। हमने पिछले अध्याय मे देख लिया कि इस भूमिका मे कर्म व संन्यास दोनो एक-रूप ही हो जाते हैं। अब छठे अध्याय के आरंभ मे फिर कहा है कि कर्मयोग की भूमिका संन्यासी की भूमिका से अलग दिखाई देने पर भी अक्षरशः एक-रूप है। सिर्फ दृष्टि का फर्क है। पांचवे अध्याय मे जिस अवस्था का वर्णन किया गया है उसके साधन खोजना इस छठे अध्याय का विषय है।

एक भ्रामक कल्पना कितने ही लोगों की है कि परमार्थ, गीता आदि ग्रन्थ, साधुओ के लिए हैं। एक सज्जन ने कहा—'मै कोई साधु नहीं हूं' इसका अर्थ यह हुआ कि साधु नाम के कोई जीव है, जिनमे से ये सज्जन नहीं है। जैसे घोडे, सिंह, भालू, गाय आदि प्राणी है वैसे ही साधु नाम के भी कोई जीव है और परमार्थ सिर्फ उन्हींके लिए सुरक्षित

है। शेष जो व्यावहारिक जगत् मे रहते हैं वे मानो किसी और जाति के है। उनके विचार अलग, आचार अलग ! इस कल्पना ने साधु-सन्त और व्यावहारिक लोग ऐसी दो अलग-अलग जातियां बना दी है। गीता रहस्य, मे तिलक महाराज ने एक बात की ओर हमारा ध्यान खीचा है। वह यह कि गीता-ग्रन्थ सर्व-साधारण व्यावहारिक लोगो के लिए है। उनका यह कथन मैं अक्षरशः सही मानता हूं। भगवद्गीता सारे संसार के लिए है। परमार्थ-विषयक समस्त साधन प्रत्येक व्यावहारिक मनुष्य के लिए है। परमार्थ सिखाता है कि अपना व्यवहार शुद्ध और निर्मल रखकर मन का सामाधान और शान्ति कैसे प्राप्त की जाय ? व्यवहार शुद्ध कैसे किया जाय—यह बताने के लिए यह गीता आई है। अतः जहा-जहां तुम व्यवहार करते हो वहां-वहां गीता आती ही है। परन्तु वहां वह आपको सिर्फ रखना ही नही चाहती बल्कि आपका हाथ पकडकर अन्तिम मंजिल तक ले जायगी। एक मशहूर कहावत है न कि 'पर्वत यदि मुहम्मद के पास न आवे तो मुहम्मद पर्वत के पास जायगा।' मुहम्मद को यह चिन्ता है कि मेरा सन्देश जड़ पर्वत तक भी पहुँचे। पर्वत जड है, इसलिए मुहम्मद उसके आने की बाट नही जोहता रहेगा। यही बात गीता-ग्रन्थ की है। कैसा ही दीन-दुर्बल हो, गंवार हो, गीता उसके पास पहुंच जायगी। परन्तु इसलिए नही कि उसे जहां-का-तहां रख दे, बल्कि इसलिए कि उसे हाथ पकड कर ऊपर ले जाय। गीता चाहती है कि मनुष्य अपना व्यवहार शुद्ध करे, परमोच्च स्थिति को प्राप्त करे। इसीके लिए गीता का जन्म हुआ है।

अतएव "मैं जड हूं, व्यवहारी हूँ, सांसारिक जीव हूँ"—ऐसा कहकर अपने आस-पास बाड मत लगाओ। मत कहो कि "मेरे हाथो से क्या होगा ? इस साढे तीन हाथ के शरीर मे ही मेरा सार-सर्वस्व है।" तुम पशु मत बनो। ऐसे बन्धनो व दीवारो को अपने आस-पास खडे करके बन्दी बना रहना पशु को ही शोभा देता है। तुम तो आगे बढने की—ऊपर चढने की हिम्मत रखो।

"उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्"

ऐसी हिम्मत रखो कि मै अपनेको अवश्य ऊपर चढा ले जाऊंगा। यह मान कर कि मै क्षुद्र सांसारिक जीव हूं, मन की शक्ति को मार मत डालो। कल्पना के पंख काट मत डालो। अपनी कल्पना को विशाल बनाओ। चंडूल का उदाहरण अपने सामने रखो। प्रातःकाल सूर्य को देख कर चंडूल कहता है कि मै सूर्य तक उडकर जाऊंगा। ऐसा-ही उच्च आदर्श हमें रखना चाहिए। अपने दुर्बल पंखो से चंडूल बेचारा कितना ही उडे तो भी वह सूर्य तक कैसे पहुंचेगा? परन्तु अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा वह जरूर सूर्य को पा सकता है। हमारा आचरण इससे उलटा होता है। हम जितने ऊंचे जा सकते हैं उतने भी न जाकर अपनी कल्पना और भावनाओ को बन्धन मे डाल अपनेको और नीचे गिरा लेते हैं। जो शक्ति प्राप्त है उसे भी अपनी हीन भावना से नष्ट कर लेते है। जहां कल्पना के ही पांव टूट गये तो फिर नीचे गिरने के सिवाय क्या गति होगी? अतः कल्पना का रुख हमेशा ऊपर की ओर होना चाहिए। कल्पना की सहायता से मनुष्य आगे बढता है, अतः कल्पना को सिकोड मत डालो।

"स्थूलमार्ग को तजो नही।
पडे जगत मे रहो न इत-उत भटको भैय्या व्यर्थ कहीं।"

ऐसा रोना मत रोते रहो। आत्मा का अपमान मत किया करो। साधक के पास यदि विशाल कल्पना होगी, आत्म-विश्वास होगा तो वह टिक सकेगा। इसीसे उसका उद्धार होगा। परन्तु धर्म तो साधु-संतों के लिए ही है, साधु-सन्तो के पास गये भी तो यह प्रशस्ति-पत्र लेने के लिए कि 'तुम जिस स्थिति में हो उसमे यही व्यवहार उचित है' इस किस्म के ख्याल छोड़ दो। ऐसी भेदात्मक कल्पनाएं कर-करके अपनेको बन्धन में मत डालो। यदि तुम उच्च आकांक्षा नहीं रखोगे तो एक कदम भी आगे नहीं बढ सकोगे।

यह दृष्टि, यह आकांक्षा और ऐसी भावना यदि हो तब तो साधनों

का जोड-तोड आवश्यक है, नहीं तो फिर किस्सा ही खतम। बाह्य कर्म की सहायता के लिए मानसिक साधन-रूपी विकर्म बताया गया है। कर्म की मदद के लिए विकर्म निरंतर चाहिए। इन दोनों की सहायता से अकर्म नामक जो दिव्य स्थिति प्राप्त होती है वह और उसके प्रकार पांचवे अध्याय में वताये गये। इस छठे अध्याय में विकर्म के प्रकार वताये गये है। मानसिक साधना बताई गई है। इस मानसिक साधना को समझाने से पहले गीता कहती है—

"भय्या जीव, तुम देव हो सकते हो। तुम ऐसी ही दिव्य आकांक्षा रखो। मन को विशाल व मुक्त बनाकर उसके पंखो को सुदृढ़ बनाओ। साधना के, विकर्म के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। भक्ति-योग, ध्यान, ज्ञान-विज्ञान, गुण-विकास, आत्मानात्म-विवेक आदि नाना प्रकार हैं।"

छठे अध्याय मे ध्यान-योग नामक साधन-प्रकार बताया गया है।

(२)

ध्यान-योग में तीन बाते मुख्य हैं (१) चित्त की एकाग्रता (२) चित्त की एकाग्रता के लिए उपयुक्त जीवन की परिमितता और (३) साम्य-दशा या सम-दृष्टि। इन तीन बातो के बिना वास्तविक साधना नहीं हो सकती। चित्त की एकाग्रता का अर्थ है चित्त की चंचलता पर अंकुश। जीवन की परिमितता का अर्थ है सब क्रियाओं का नाप-तौल कर होना। समदृष्टि का अर्थ हैं विश्व की ओर देखने की उदार दृष्टि। इन तीन बातों को लेकर ध्यान-योग बनजाता है। इन तीन साधनो के भी फिर और साधन हैं। वे हैं अभ्यास और वैराग्य। इन पांच बातों की थोडी-सी चर्चा हम यहां करें।

पहले चित्त की एकाग्रता को लीजिए। प्रत्येक काम में चित्त की एकाग्रता आवश्यक है। व्यावहारिक बातो में भी चित्त की एकाग्रता चाहिए। यह बात नहीं कि व्यवहार में अलग गुणों की जरूरत है और पर-मार्थ में अलग। व्यवहार को शुद्ध करने का ही अर्थ है परमार्थ। कहीं का, कैसा ही व्यवहार हो उसका यशापयश-सफलता-विफलता आपकी

एकाग्रता पर अवलंबित है। व्यापार, व्यवहार, शास्त्र-शोधन, राजनीति, कूट-नीति किसीको ले लीजिए, इनमे जो कुछ यश मिलेगा वह उन पुरुषो के चित्त की एकाग्रता के अनुसार मिलेगा। नेपोलियन के लिए कहा जाता है कि युद्ध की व्यवस्था जहां एक बार ठीक-ठाक लगा दी कि फिर समर-भूमि में वह गणित के सिद्धान्त हल किया करता था। डेरों तम्बुओं पर गोले बरसते, सैनिक मरते, परंतु नेपोलियन का चित्त अपने गणित मे ही मग्न रहता। मै यह नही कहता कि नेपोलियन की एकाग्रता बहुत बढी हुई थी। उससे भी ऊंचे दरजे की एकाग्रता के उदाहरण दिये जा सकेगे। खलीफा उमर की भी ऐसी ही बात कही जाती है। भर लडाई मे जब नमाज का समय हो जाता तो वह वहीं समर-भूमि में चित्त एकाग्र करके घुटने टेक कर नमाज पढने लगता और उसका चित्त इतना एकाग्र हो जाता कि उसे यह होश भी नही रहता कि किधर कितने आदमी कट मर रहे है। शुरू के मुसलमानो की इस परमेश्वर-निष्ठा की ही बदौलत—इस एकाग्रता की ही बदौलत—इस्लाम-धर्म इतना फैला था।

उस दिन मैने एक कहानी सुनी। एक फकीर था। उसके शरीर में तीर चुभ गया। इससे उसे बडी वेदना हो रही थी। तीर खींचने की कोशिश करते तो वेदना और बढ जाती थी। इससे वह तीर भी नही खींचा जा सकता था। क्लोरोफोर्म जैसी बेहोश करने की दवा उस समय थी नही। बडी समस्या खडी हो गई। कुछ लोग उस फकीर को जानते थे। वे आगे बढ़कर बोले—'तीर अभी मत निकालो। यह नमाज पढने बैठेगा तब निकाल लेगे।' शाम की नमाज का वक्त हुआ। फकीर नमाज पढने लगा। पल भर मे ही उसका चित्त इतना एकाग्र हो गया कि तीर उसके बदन से निकाल लिया तो भी उसे मालूम नही हुआ। कैसी जबरदस्त है यह एकाग्रता!

सारांश यह कि व्यवहार हो या परमार्थ, चित्त की एकाग्रता के बिना उसमें सफलता मिलना कठिन है। यदि चित्त एकाग्र रहेगा तो फिर

सामर्थ्य की कभी कमी न पडेगी। साठ वर्ष के बूढे होने पर भी किसी नौजवान की तरह तुममे उत्साह और सामर्थ्य दीख पड़ेगा। मनुष्य ज्यो-ज्यो बुढापे की तरफ जाता है त्यो-त्यो उसका मन अधिक मजबूत होता जाना चाहिए। फल को ही देखिए न ? पहले वह हरा होता है, फिर पकता है, फिर सडता है और मिट जाता हैं, परन्तु त्यो-त्यो भीतर का बीज अधिकाधिक सख्त होता जाता है। यह बाहरी शरीर तो सड जायगा, गिर जायगा; परन्तु बाहरी शरीर ही फल का सार-सर्वस्व नहीं है। उसका सार-सर्वस्व, उसकी आत्मा तो है बीज। यही बात शरीर की है। शरीर भले ही बूढा होता चला जाय, परन्तु स्मरण-शक्ति तो बढती ही रहनी चाहिए, बुद्धि तेजस्वी होनी चाहिए। परन्तु ऐसा होता नही। मनुष्य कहता है—"आजकल मेरी याददारत कम होगई।" "क्यो ?" "अब बुढापा आगया है।" किन्तु सच तो यह है कि तुम्हारा जो ज्ञान, विद्या या स्मृति है वह तुम्हारा बीज है। शरीर ज्यो-ज्यो बूढा होता जायगा त्यो-त्यो ढीला पडता जायगा। परन्तु त्यो ही त्यों आत्मा बलवान होती जानी चाहिए। और यह विना एकाग्रता के नही हो सकता।

(३)

अब एकाग्रता तो होनी चाहिए, पर वह हो कैसे ? उसके लिए क्या करना चाहिए ? भगवान् कहते है—

आत्म मे मन को रोक
चिन्तना न करे कुछ ॥

परन्तु यह सधे कैसे ? मन को रोकना, शान्त रखना बहुत टेढी खीर है। विचारो के चक्र को जोर से रोके विना एकाग्रता कैसे होगी ? बाहरी चक्र तो किसी तरह रोक भी लिया जाय परन्तु भीतरी चक्र तो चलता ही रहता है। चित्त की एकाग्रता के लिए ये बाहरी साधन जैसे-जैसे काम मे लाये जायं वैसे-वैसे भीतर के चक्र अधिक वेग मे चलने लगते हैं। आप आसन जमाकर तनकर बैठ जाइए, आखें स्थिर कर लीजिए।

परन्तु इतने से मन एकाग्र नहीं हो सकेगा। मुख्य बात यह है कि मन का चक्र चलना बन्द होना चाहिए।

बात यह है कि बाहर का यह अपरंपार संसार जो हमारे मन मे भरा रहता है, उसको बंद किये बिना एकाग्रता अशक्य है। अपने आत्मा की अपार ज्ञान-शक्ति हम बाह्य क्षुद्र वस्तुओ में खर्च कर डालते है, ऐसा नहीं होना चाहिए। जिस तरह दूसरे को न लूटते हुए भी खुद अपने प्रयत्न से धनी हो जानेवाला पुरुष बिना जरूरत खर्च नही करता, उसी तरह हमें भी अपने आत्मा की ज्ञान-शक्ति क्षुद्र बातों के चिन्तन में खर्च नहीं करनी चाहिए। यह ज्ञान-शक्ति हमारी अमूल्य थाती है, परन्तु हम उसे स्थूल विषयो मे खर्च कर डालते है। यह साग अच्छा नही बना, इसमें नमक कम पडा, हलुआ अधिक मीठा होगया, ऐसे महान् विचारो मे ही हमारा ज्ञान खर्च हो जाता है! बच्चों को पाठशाला की चारदीवारी के अन्दर ही घेर कर पढाते है, क्योंकि, कहते है कि यदि पेड के नीचे पढायेंगे तो कौवे, कोयल और चिडियां देखकर उनका मन एकाग्र नही होगा। बच्चे ही जो ठहरे, कौवे, चिडियां नहीं दिखाई दीं तो होगई एकाग्रता। परंतु अब हम हो गये है घोडे के बराबर, हमारे अब सींग निकल आये हैं। यदि हमे सात-सात दीवारो के अन्दर भी किसीने बंद कर दिया तो भी हमारे मन की एकाग्रता नहीं हो सकती। क्योंकि हमारी आदत दुनिया मे हर छोटी-बडी चीज की चर्चा करने की पड गई है। जो ज्ञान परमेश्वर को प्राप्त करा सकता है, उसे हम साग-सब्जी के जायके की चर्चा करने मे खो देते है, और उसमें कृतार्थता मानते हैं!

दिन-रात ऐसा यह भयानक संसार हमारे चारो ओर भीतर-बाहर धू-धू करता रहता है। प्रार्थना अथवा भजन करने मे भी हमारा हेतु बाहरी ही रहता है। परमेश्वर से तन्मय होकर एक क्षण के लिए भी ससार को भुलाने की भावना ही नहीं रहती। प्रार्थना के रूप मे जहां दिखावा हो, और प्रार्थना जहां किसी खास के हक की वस्तु समझी जाती हो वहां आसन जमाकर बैठना और आंख मूंदना सब व्यर्थ है। मन की

दौड निरंतर बाहर ही होते रहने से मनुष्य का सारा सामर्थ्य नष्ट हो जाता है। किसी भी प्रकार की व्यवस्था, नियन्त्रण-शक्ति मनुष्य मे नही रहती। इसका अनुभव आज हमारे देश मे कदम-कदम पर हो रहा है। भारतवर्ष तो परमार्थ-भूमि है। यहां के लोग पहले ही, ऊंची हवा मे उडने वाले समझे जाते है। पर ऐसे देश मे हमारी आपकी क्या दशा है? बहुत-कुछ बातो की इतनी चिन्ता के साथ चर्चा व पिष्टपेषण करते है कि जिसे देखकर दु.ख होता है। क्षुद्र विषयो मे ही हमारा चित्त डूबा रहता है।

कथा-पुराण-श्रवण मे मीठी नींद सदा आ जाती है।
पडते ही बिस्तर पै किन्तु चिन्ता मन को खाती है।
कर्म की गति ऐसी गहना। उसे रोने से क्या पाना?

कथा-पुराण सुनने के लिए जाते है, वहां नीद आ घेरती है, और नीद लेने जाते है, तो वहां चिता और विचार-चक्र शुरू हो जाता है। एक ओर शून्याग्रता तो दूसरी ओर अनेकाग्रता। एकाग्रता का कही पता नही। इतना यह मनुष्य इन्द्रियो का गुलाम हो गया है। एक वार किसीने पूछा—'आंखे अधमुंदी क्यो रखनी चाहिए,' मैने कहा—सरल ही उत्तर देता हूं। आंखे बिलकुल मूंद ले तो नीद लग जाती है। खुली रखे तो चारो ओर दृष्टि जाकर एकाग्रता नही होगी। आंखे मूंदने से नीद लग जाती है, यह तमोगुण हुआ। खुली रखने से दृष्टि सब जगह जाती है, यह रजोगुण आ गया। इसलिए बीच की स्थिति अच्छी है। तात्पर्य यह है कि मन की स्थिति बदले विना एकाग्रता नही हो सकती। मन की स्थिति ठीक शुद्ध होनी चाहिए। केवल आसन जमाकर बैठने से वह नही प्राप्त हो सकती। इसके लिए हमारे सब व्यवहार शुद्ध होने चाहिए। व्यवहार शुद्ध करने के लिए उसका उद्देश्य बदलना चाहिए। व्यवहार हमे व्यक्तिगत लाभ के लिए, वासना-तृप्ति के लिए, अथवा बाहरी बातो के लिए नहीं करना है।

व्यवहार तो हम दिन भर करते रहते हैं, आखिर दिनभर की इस

उधेड़बुन का हेतु क्या है ?

इसी हेतु मेरा सारा परिश्रम।
अन्त की ये घड़ी होवे मीठी॥

सारी उधेड़-बुन, सारी दौड़-धूप इसीलिए न -कि हमारा अंतिम दिवस मधुर हो जाय ? जिन्दगी भर कड़वा विष क्यो पचाया जाय ? इसलिए कि अंतिम घडी, हमारा मरण, पवित्र हो जाय। दिन की अंतिम घडी शाम को आती है। आज के दिन का सारा काम यदि पवित्र भाव से किया गया तो रात की प्रार्थना उतनी ही मधुर होगी। वह दिन का अंतिम क्षण यदि मधुर हो गया तो दिन का सारा कर्म सफल समझो। तब मन एकाग्र हो जायगा।

एकाग्रता के लिए ऐसी जीवन-दृष्टि की जरूरत है। बाह्य वस्तुओं का चिन्तन छूटना चाहिए। मनुष्य की आयु बहुत नही है, परन्तु इस थोडी सी भी आयु मे परमेश्वरीय सुख के स्वाद लेने का सामर्थ्य है। दो मनुष्य बिलकुल एक ही सांचे मे ढले, एक-सी छाप लगे हुए, दो आंखें, उनके बीच एक नाक और उस नाक मे दो नासा-पुट। इस तरह बिलकुल एक से होकर भी एक मनुष्य देव-तुल्य होता है तो दूसरा पशु-तुल्य। ऐसा क्यो होता है ? एक ही परमेश्वर के बालबच्चे—

'सब एक ही खानि के'

फिर यह फर्क क्यो पडता है ? इन दो व्यक्तियो की जाति एक है ऐसा यकीन नही होता। एक नर का नारायण है तो दूसरा नर का वानर।

मनुष्य कितना ऊंचा उठ सकता है, इसका नमूना दिखाने वाले लोग पहले भी हो गये है, और आज भी हमारे अन्दर है। यह अनुभव की बात है। इस नर-देह में कितनी शक्ति है, इसको दिखाने वाले संतमार्ग पहले निकले हैं और आज भी हैं। इस देह में रहकर यदि मनुष्य ऐसी अद्भुत करनी कर सकता है तो फिर भला मैं क्यों न कर सकूंगा ? मै अपनी कल्पना को मर्यादा में क्यों बांध लूं ? जिस नर-देह में रहकर दूसरे नर-वीर हो गये, वही नर-देह मुझे भी मिला है, फिर मेरी ऐसी दशा क्यो ? कहीं

न कहीं मुझसे भूल हो रही है। बात यह है कि चित्त सदैव बाहर जाता रहता है। दूसरे के गुण-दोष देखने मे वह बहुत उदार हो गया है। परन्तु मुझे दूसरे के गुण-दोष देखने की जरूरत क्या है?

कहां गुण-दोष पराये के देखूं।
कमी क्या मुझ मे दोषो की है?

खुद मुझमे क्या दोष कम है! यदि मै सदैव दूसरो की छोटी-छोटी बातें देखने मे ही तल्लीन रहा तो फिर मेरे चित्त की एकाग्रता हो भी कैसे? उस दशा मे मेरी स्थिति दो ही प्रकार की हो सकती है, एक तो शून्य अवस्था अर्थात् नीद, और दूसरी अनेकाग्रता। तमोगुण और रजोगुण मे ही मै उलझता रहूंगा।

भगवान् ने यह जरूर कहा है कि चित्त की एकाग्रता के लिए इस तरह बैठो, इस तरह आंखे रखो, इस तरह आसन जमाओ, आदि—परन्तु इन सबसे फायदा तभी होगा, जब पहले चित्त की एकाग्रता के हम कायल हो। पहले यह निश्चय होना जरूरी है कि चित्त की एकाग्रता आवश्यक है, फिर तो मनुष्य खुद ही उसकी साधना और मार्ग ढूंढ लेगा।

(४)

चित्त की इस एकाग्रता मे सहायक दूसरी बात है जीवन की परिमितता। हमारा सब काम नपा-तुला होना चाहिए। गणित-शास्त्र का यह रहस्य हमारी सब क्रियाओं मे आ जाना चाहिए। औषध जैसे नाप-तौल कर ली जाती है वैसे ही आहार-निद्रा भी नपी-तुली होनी चाहिए। जीवन मे सब जगह चारों तरफ नाप-तौल करनी चाहिए। प्रत्येक इन्द्रिय पर पहरा बिठाना चाहिए। मै ज्यादा तो नही न खाता हूं, अधिक तो नहीं न सोता, फजूल तो नहीं न देखता या बोलता हूं,—चिन्ता व बारीकी से ऐसा ध्यान रखना चाहिए।

एक साहब किसी शख्स के लिए कह रहे थे कि वे किसीके कमरे में गये तो एक मिनिट में उनकी निगाह मे आ जाता था कि उसमें कहां क्या रक्खा है? मैंने मन मे कहा—'भगवन्, यह महिमा मुझे न

प्राप्त हो।' क्या मै उसका मन्त्री हूं जो पांच-पचास चीजो की सूची मन में रक्खूं ? यहां क्या मुझे चोरी करनी है ? साबुन यहां था, घडी वहां थी, इससे मुझे क्या करना है ? इस ज्ञान की मुझे क्या जरूरत ? आंखो की यह फजूलियत मुझे छोड देना चाहिए। उसी प्रकार कान पर भी पहरा रक्खो। बाज लोग समझते है, यदि कुत्तो की तरह हमारे कान होते तो कितना अच्छा रहता ! जिधर चाहते उधर उन्हे हिलाया करते। मनुष्य के कान मे परमात्मा ने यह कसर ही रख दी। परन्तु कान की फजूल शक्ति हमे न चाहिए। वैसे यह मन भी जबरदस्त है। जरा कही खटका हुआ, आहट हुई कि गया उधर ध्यान। अतः जीवन मे परिमितता लाओ। खराब चीज नही देखे। खराब किताब नही पढे। निन्दास्तुति न सुने। सदोष वस्तु तो दूर, निर्दोष वस्तुओ का भी फिजूल सेवन न करे। लोलुपता किसी भी प्रकार की न होनी चाहिए। शराब, पकौडी, रसगुल्ले, तो ठीक, सन्तरे, केले, मौसमी भी बहुत नहीं चाहिए। फल-आहार यो शुद्ध आहार है; परन्तु वह भी अनाप-शनाप नही होना चाहिए। जीभ का स्वेच्छाचार भीतरी मालिक को सहन न होना चाहिए। इन्द्रियो पर यह धाक रहनी चाहिए कि यदि हम ऊट-पटाग करेगे तो भीतर का मालिक हमे जरूर सजा देगा। नियमित आचरण को ही जीवन की परिमितता कहते हैं।

(५)

तीसरी बात है समदृष्टि होना। समदृष्टि का ही अर्थ है—शुभ दृष्टि। शुभ दृष्टि प्राप्त हुए बिना चित्त एकाग्र नहीं हो सकता। सिह इतना बडा वनराज है, परन्तु चार कदम चलकर पीछे देखता है। उस हिसक सिह को एकाग्रता कैसे प्राप्त होगी ? शेर, कौवे, बिल्ली, इनकी आंखे हमेशा फिरती रहती है। निगाह उनकी चौकन्नी-घबराई हुई होती है। हिस्र प्राणियों का ऐसा ही हाल रहेगा। तो साम्य दृष्टि आनी चाहिए। यह सारी सृष्टि मंगलमय मालूम होनी चाहिए। जैसा मुझे खुद अपने पर विश्वास है वैसा ही सारी सृष्टि पर मेरा विश्वास होना चाहिए।

यहां डरने की बात ही क्या है ? सब कुछ शुद्ध और पवित्र है।

"विश्वं तद् भद्रं यदवन्ति देवा"

यह विश्व मंगल-मय है, क्योकि परमेश्वर उसकी देख-भाल करता है। अंग्रेज कवि ब्राउनिंग ने भी ऐसा ही कहा है।

"ईश्वर आकाश मे विराजमान है। और संसार सब ठीक तरह से चल रहा है।"

संसार मे कुछ भी बुराई नही है। अगर बुराई कही है तो वह है मेरी दृष्टि मे। जैसी मेरी दृष्टि वैसी ही यह सृष्टि। यदि मैं लाल रंग का चश्मा चढा लूंगा तो सारी ही सृष्टि लाल दिखाई देगी—जलती हुई दिखाई देगी।

रामदास रामायण लिखते जाते व शिष्यो को पढकर बताते जाते थे। हनूमान भी उसे सुनने के लिए आकर बैठते थे। समर्थ ने लिखा था—"हनूमान अशोक-बन मे गये। वहां उन्होने सफेद फूल देखे।" यह सुनते ही वहां झट से हनूमान प्रकट हो गये और बोले—"मैने सफेद फूल नहीं देखे, लाल देखे थे। तुमने गलत लिखा है। उसे सुधार लो।" समर्थ ने कहा—"मैने ठीक लिखा है। तुमने सफेद ही फूल देखे थे" हनूमान ने कहा—"मै खुद वहां गया था और मै ही झूठा ?" अन्त मे झगडा रामचन्द्रजी के पास गया। उन्होने कहा—"फूल तो सफेद ही थे। परन्तु हनूमान की आखे क्रोध से लाल हो रही थी इसलिए वे शुभ्र फूल उन्हे लाल दिखाई दिये।" इस मधुर कथा का आशय यह है कि संसार की ओर देखने की जैसी हमारी दृष्टि होगी, संसार भी हमे वैसा ही दिखाई देगा।

यदि हमारे मन को इस बात का निश्चय न हो कि यह सृष्टि शुभ है तो चित्त की एकाग्रता नही हो सकती। जब तक मै यह समझता रहूंगा कि सृष्टि बुरी है—अशुभ है, तबतक मैं सशंक दृष्टि से चारो ओर देखता रहूंगा। कवि पंछियो की स्वतंत्रता के गान गाते हैं। जरा एक बार पंछी होकर देखो तो। फिर उनकी आजादी की सही कीमत मालूम हो जायगी। पक्षियो की गर्दन बराबर आगे-पीछे एक-सी नाचती

रहती है। उन्हे सतत दूसरो का भय लगा रहता है। चिडिया को आसन पर ला बिठाओ। क्या वह एकाग्र हो जायगी ? मेरे जरा निकट जाते ही वह फुर्र से उड जायगी। वह डरेगी कि मुझे मारने तो नही आ रहा है। जिनके दिमाग मे ऐसी अमंगल कल्पना है कि यह सारी दुनिया भक्षक है—संहारक है, उन्हे शान्ति कहां ? जब तक यह खयाल दिमाग से न निकलेगा कि मेरा रक्षक मै अकेला ही हूं, बाकी सब भक्षक है, तब तक एकाग्रता नही हो सकती, सम-दृष्टि की भावना करना ही उसका एक-मात्र मार्ग है। आप सर्वत्र मांगल्य देखने लग जाइए, चित्त अपने आप शान्त हो जायगा।

किसी दुखी मनुष्य को छल-छल बहने वाली उस नदी के किनारे ले जाइए। उसके स्वच्छ शान्त प्रवाह को देखकर उसकी बेचैनी कम हो जायगी। वह अपना दुःख भूल जायगा। उस झरने मे,उस प्रवाह मे, इतनी शक्ति कहां से आगई ? परमेश्वर की शुभ-शक्ति उससे प्रकट हुई है। वेदो में झरनो का बडा ही सुन्दर वर्णन है—

"अतिष्ठन्तीनाम् अनिवेशनानाम्"

यह झरने का गुण है। झरना अखण्ड बहता है, उसका अपना कोई घर-बार नही,वह संन्यासी है। ऐसा पवित्र झरना एक क्षण मे मेरे मन को एकाग्र बना देता है। ऐसे सुन्दर झरने को देख कर प्रेम का, ज्ञान का स्रोत मेरे मन मे क्यो न उमडना चाहिए ?

यह बाहर का जड पानी यदि मेरे मन को इतनी शान्ति प्रदान कर सकता है तो फिर मेरी मानस-दरी मे यदि भक्ति और ज्ञान का चिन्मय झरना बहने लगे तो मेरे मन को कितनी शान्ति प्राप्त होगी ! मेरे एक मित्र पहले हिमालय, मे—काश्मीर मे घूम रहे थे। वहां के पवित्र पर्वतो के, सुन्दर जल-प्रवाहो के वर्णन लिख-लिख कर मुझे भेजते थे। मैंने उन्हे उत्तर दिया कि जो जल-स्त्रोत, जो पर्वत-माला, जो शुभ समीर तुमको अनुपम आनन्द देते है उन सबका अनुभव मुझे अपने हृदय मे हो सकता है। अपनी अन्तःसृष्टि में मैं नित्य उन सब

रमणीय दृश्यो को देखता हूं। अतः तुम्हारे बुलाने पर भी मैं अपने हृदय के इस भव्य दिव्य हिमालय को छोडकर नही आऊंगा।

"स्थिरो मे मै हिमालय"

स्थिरता की मूर्ति के रूप मे जिस हिमालय की उपासना स्थिरता लाने के लिए करनी है उसका वर्णन सुनकर यदि मैंने अपना कर्त्तव्य छोड दिया तो यह उलटी ही बात होगी।

सारांश, चित्त को जरा शांत कीजिए। सृष्टि को मंगल-दृष्टि से देखिए। तो फिर आपके हृदय मे अनन्त झरने बहने लगेगे। कल्पनाओ के दिव्य तारे हृदयाकाश मे चमकने लगेगे। पत्थर और मट्टी की शुभ वस्तु देखकर यदि चित्त शान्त हो जाता है तो फिर अन्तःसृष्टि के दृश्य देखकर क्यो न होगा? एक बार मै त्रावणकोर गया था। एक दिन समुद्र किनारे बैठा था। वह अपार समुद्र, उसकी धूं-धूं गर्जना, सांयकाल का समय, मै स्तब्ध, निश्चेष्ट बैठा था। मेरे एक मित्र ने वही समुद्र-किनारे कुछ फल वगैरह खाने के लिए ला दिये। उस समय वह सात्विक आहार भी मुझे जहर की तरह लगा। समुद्र की वह ॐ ॐ गर्जना मुझे—"मामनुस्त्मर युद्धय च" इस गीता-वचन की याद दिला रही थी। समुद्र सतत स्मरण कर रहा था और कर्म भी कर रहा था। एक लहर आई, वह गई और दूसरी आई। उसे एक क्षण के लिए विश्रान्ति नही। यह दृश्य देख कर मेरी भूख-प्यास उड गई थी। आखिर उस समुद्र में ऐसा क्या था! उस खारे पानी की लहरों को उछलते हुए देखकर यदि मेरा हृदय उछलने लगता था तो फिर ज्ञान और प्रेम के अथाह सागर के हृदय मे हिलोरे मारने पर मै कितना नाच उठूंगा! वैदिक ऋषि के हृदय में ऐसा ही समुद्र हिलोरे मारता था—

"अन्तः समुद्रे हृदि अन्तरायुषि
घृतस्य धारा अभिचाकशीमि
समुद्रादूर्मिर्मधुमानुदारत्"

इस दिव्य भाषा पर भाष्य लिखते हुए बेचारे भाष्यकारो की भी

फजीहत होने की नौबत आगई । अहा हा, कैसी वह घृत की धारा !! कहां की वह मधु की धारा !! क्या मेरे अन्तःसमुद्र में वे खारी लहरें उठाएंगी ? नहीं नही, मेरे हृदय मे तो दूध, मधु और घी की लहरें हिलोरे मार रही है ।

(६)

अपने हृदय के इस समुद्र को निहारना सीखो । बाहर के निरभ्र नील आकाश को देखकर चित्त को भी निर्मल और निर्लेप बनाओ । सच पूछो तो चित्त की एकाग्रता एक खेल है; मामूली बात है । चित्त की व्यग्रता ही अस्वाभाविक और अनैसर्गिक है । छोटे बच्चो की आंखों की ओर टक लगा कर देखो । छोटा बच्चा एक-सा टक लगा कर देखता है । लेकिन तुम दस बार पलक भांजोगे। बच्चो का मन तुरन्त एकाग्र हो जाता है। चार-पांच महीने के बच्चे को बाहर हरी-भरी सृष्टि दिखलाओ। वह एक-सा देखता रहेगा । स्त्रियो का तो ऐसा ख्याल है कि बाहर की हरियाली को देख कर उसकी विष्ठा भी हरे रंग की हो जाती है। मानों सब इन्द्रियो की आंखे बनाकर वह देखता है । छोटे बच्चे के मन पर किसी भी घटना का बड़ा प्रभाव पडता है । शिक्षा-शास्त्री कहते हैं—शुरू के ही दोचार सालो मे जो शिक्षा बालको को मिल जाती है वही वास्तविक शिक्षा समझो । आप कितने ही विद्यापीठ, पाठशाला, संघ कायम कीजिए । शुरू मे जो शिक्षा मिली है वह फिर कभी नही मिल सकती । शिक्षा-विषय से मेरा खासा सम्बन्ध है । दिन-दिन मुझे यह निश्चय होता जारहा है कि इस बाहरी शिक्षा का परिणाम शून्यवत् है । आरम्भिक संस्कार वज्रवत् हो जाते हैं । बाद के शिक्षण को बाहरी रंग, ऊपरी झिल्ली, समझो । साबुन लगाने से ऊपर का दाग, मैल निकल जाता है, परन्तु चमडे का काला रग कैसे चला जायगा ? उसी तरह जो संस्कार आदि मे पड जाते है उनका मिटना कठिन हो जाता है ।

तो ये आदि के संस्कार बलवान् क्यो ? बाद के संस्कार कमजोर

क्यो ? इसलिए कि बचपन मे चित्त की एकाग्रता नैसर्गिक रहती है। एकाग्रता होने के कारण जो संस्कार पडते है वे फिर नही मिलते। चित्त की एकाग्रता की इतनी महिमा है। जिसे यह एकाग्रता प्राप्त होगई उसके लिए संसार मे क्या अशक्य है ?

हमारा सारा जीवन आज कृत्रिम हो गया है। हमारी बाल-वृत्ति मर गई है, नष्ट होगई है। जीवन मे वास्तविक सरलता नही, वह शुष्क होगया है। हम ऊट-पटांग, जैसे-तैसे,चल रहे है। डारविन साहब नही, बल्कि हम खुद अपनी कृति से यह सिद्ध कर रहे है कि मनुष्य के पूर्वज बन्दर थे।

छोटा बच्चा विश्वास-शील होता है। मां जो कहे वह उसके लिए प्रमाण। जो कहानियां उसे कही जाती हैं वे उसे असत्य नही मालूम होती। तोता बोला, मैना बोली, यह सब उसे सच मालूम होता है। बच्चो की इस मंगल-वृत्ति के कारण उनकी एकाग्रता जल्दी हो जाती है।

तात्पर्य यह कि ध्यानयोग के लिए चित्त की एकाग्रता, जीवन की परिमितता व शुभ-साम्य-दृष्टि की जरूरत है। इसके सिवा और भी एक दो साधन बताये है—वैराग्य और अभ्यास। एक है विध्वसक और दूसरा है विधायक। खेत से घास उखाड कर फेकना विध्वंसक काम हुआ। इसीको वैराग्य कहते है। उसमे बीज बोना विधायक काम है। मन मे सद्-विचारो का पुन.-पुनः चिन्तन करना अभ्यास कहलाता है। वैराग्य विध्वंसक क्रिया है, अभ्यास विधायक क्रिया। अब वैराग्य आये कैसे ? हम कहते है—आम मीठा है, परन्तु क्या यह मिठास अकेले आम मे है ? नही, अकेले आम मे नही है। हम अपनी आत्मा की मिठास वस्तु मे डालते है और फिर वह वस्तु मीठी लगती है। अत· भीतरी मिठास को चखना सीखो। केवल बाह्य वस्तु मे मधुरता नही है। बल्कि वह "रसानां रसतमः" माधुर्य-सागर आत्मा मेरे निकट है, उसीकी बदौलत मीठी वस्तुओ को मिठास मिली है, ऐसी भावना करते रहने से मन मे वैराग्य का संचार होता है।

सीता माता ने हनूमान को मोतियो का हार इनाम मे दिया। हनूमान मोतियो को चबाता, देखता और फेंक देता। उनमे उसे कहीं 'राम' दिखाई नही देता था। राम तो था उसके हृदय मे; लेकिन उन्हीं मोतियो के लिए मूर्ख लोग लाख रुपये भी दे देते।

इस ध्यान-योग का वर्णन करते हुए भगवान् ने एक बहुत ही महत्त्व की बात शुरू मे ही बता दी है। वह यह कि मनुष्य को ऐसा दृढ संकल्प करना चाहिए कि मुझे स्वत: अपना उद्धार करना है। मैं आगे बढ़ूंगा। मै ऊंची उडान मारूंगा। इस नर-देह मे मैं ज्यों-का-त्यों पडा नहीं रहूंगा। मै परमेश्वर के पास जाने का साहस करूंगा और ऐसा प्रयत्न भी करूंगा।'

यह सब सुनकर अर्जुन के मन मे शंका उठी कि 'भगवन्, अब तो हमारी उमर बीत गई। कुछ दिनो मे हम मर जायंगे तो फिर यह साधना क्या काम आयगी।' भगवान् ने कहा—'मृत्यु का अर्थ तो है लम्बी नींद। रोज काम करके हम सात-आठ घंटे सोते है। इस नींद से कोई डरता है? बल्कि नीद न आये तो फिक्र पड जाती है। जैसे नींद जरूरी, वैसे ही मौत भी जरूरी है। जैसे नींद से उठकर फिर हम अपना काम प्रारम्भ कर देते है वैसे ही मरण के बाद भी पहले की यह सारी साधना हमारे काम आ जायगी। ज्ञानदेव ने नीचे लिखी ओवियो में मानो अपना आत्म-चरित्र ही लिख दिया हो—

"शैशव मे ही सर्वज्ञता। वरती है उन्हे।"
"सकल शास्त्र स्वयं ही। मुख से निकले।"

आदि चरणों मे यही दिखाई देता है। पूर्व-जन्म का अभ्यास हमें खींच लेता है। किसी का चित्त विषयों की ओर जाता ही नही। वह जानता ही नहीं कि मोह कैसा होता है। क्योकि पूर्वजन्म में वह उनकी साधना कर चुका है।

"शुभकारी कभी कोई
पाता कुगति को नहीं।"

जो मनुष्य कल्याण-मार्ग पर चलता है उसका जरा भी श्रम व्यर्थ नहीं जाता। अन्त में इस तरह की श्रद्धा बताई गई है, जो कुछ अपूर्ण है वह अन्त को पूरा होकर रहेगा। भगवान् के इस उपदेश का सार ग्रहण करो और अपने जीवन को सार्थक करो।

सातवां अध्याय

रविवार ३-४-३२

(१)

भाइयो,अर्जुन के सामने जब स्वधर्म-पालन का प्रश्न उपस्थित हुआ तो उसके मन में स्वकीय व परकीय का मोह उत्पन्न होगया। और वह स्वधर्माचरण से बचने की तद्बीर करने लगा। उसका यह वृथा मोह पहले अध्याय मे दिखाया गया। इस मोह को मिटाने की तजवीज-से दूसरा अध्याय शुरू हुआ। उसमें ये तीन सिद्धान्त बताये गये (१) आत्मा अमर है और वह सर्वत्र व्याप्त है (२) देह नाशवान् है और (३)स्वधर्म का त्याग कभी न करना चाहिए। साथ ही कर्मफल-त्याग रूपी वह खूबी भी बतलाई जिससे उन सिद्धान्तो पर अमल करने की कुंजी हाथ लग जाय। इस कर्मयोग का विवरण करते हुए उसमे से कर्म, विकर्म और अकर्म ये तीन चीजे पैदा हुईं। कर्म-विकर्म के सगम से उत्पन्न होने वाले दो प्रकार के अकर्म पांचवे अध्याय मे हमने देख लिये। छठे अध्याय से भिन्न-भिन्न निष्कर्ष बताने की शुरूआत की गई। छठे अध्याय मे साधना के लिए आवश्यक एकाग्रता का महत्त्व बताया गया।

आज सातवां अध्याय है। इस अध्याय मे विकर्म का एक नवीन भव्य-भवन खोल दिया गया है। सृष्टि-देवी के मन्दिर मे,किसी विशाल वन मे, हम जिस तरह नाना प्रकार के मनोहर दृश्य देखते है वैसा ही अनुभव गीता-ग्रन्थ मे होता है। छठे अध्याय मे एकाग्रता का अव-लोकन किया, अब हम जरा दूसरे भवन मे प्रवेश करें।

उस भवन का द्वार खोलने के पहले भगवान् ने इस मोहकारिणी जगत्-रचना का रहस्य समझा दिया है। एक ही प्रकार के कागद पर एक ही कूंची से चित्रकार नानाविध चित्र निकालता है। कोई सितारी सात सुरो से ही अनेक राग निकालता हैं। वाङ्मय मे ५२ अक्षरों की सहायता से हम नाना प्रकार के विचार व भाव प्रकट करते है। वैसे ही इस सृष्टि को भी समझो। इस सृष्टि मे अनन्त वस्तुएं और अनन्त वृत्तियां दिखाई देती है। परन्तु यह सारी अन्तर्बाह्य सृष्टि एक ही अखण्ड आत्मा व अष्ट-धा प्रकृति इस दुहेरे मसाले से बनी हुई है। क्रोधी मनुष्य का क्रोध, प्रेमी मनुष्य का प्रेम, दुःखित का क्रन्दन, आनंदी का हर्ष, आलसी का नीद की ओर झुकाव, उद्योगी का कर्म-स्फुरण—ये सब एक ही चैतन्य-शक्ति के खेल है। इन परस्पर-विरुद्ध भावो के मूल मे एक ही चैतन्य यहां से वहां तक भरा हुआ है। भीतरी चैतन्य सब मे एक ही है। उसी तरह बाह्य आवरण का भी स्वरूप एक-सा ही है। चैतन्य मय आत्मा व जड प्रकृति इस दुहेरे मसाले से सारी सृष्टि बनी हैं, जन्मी है—यह आरम्भ मे ही भगवान् ने बता दिया है।

आत्मा व देह, परा व अपरा प्रकृति, सर्वत्र एक ही या वही वह है, फिर भी मनुष्य मोह मे क्यो पड जाता है, भेद क्यो दिखाई देता है? प्रेमी मनुष्य का चेहरा मधुर मालूम होता है। इसके विपरीत किसी दूसरे को देखकर तबियत हटती है। एक से मिलने की व दूसरे से परहेज करने की तबियत क्यो होती है? एक ही पेन्सिल, एक ही कागज, एक ही चित्रकार। परन्तु नाना चित्रों से नाना भाव प्रकट होते है। चित्रकार की यही कुशलता है। चित्रकार की कूँची में, सितारी की उंगलियो मे ऐसी कुशलता है कि वे हमे रुला देते हैं, हंसा देते है। यह सारी खूबी उनकी उन उंगलियों मे हैं।

यह नजदीक रहे, वह दूर रहे, यह मेरा, वह पराया; ऐसे जो विचार मन में आते है और जिनकी वजह से कभी-कभी कर्त्तव्य से पीछे हटने की भी प्रवृत्ति होने लगती है, उसका कारण मोह है। इस

मोह से बचना हो तो उस सृष्टि-निर्माता की उंगली की करामात का रहस्य समझ लेना चाहिए। बृहदारण्यक उपनिषद् में नगारे का दृष्टान्त दिया गया है। एक ही नक्कारे से भिन्न-भिन्न नाद निकलते हैं। कुछ नादों से मै भयभीत हो जाता हूं, कुछ को सुनकर नाच उठता हूं। इन सब भावों को यदि जीत लेना है तो नक्कारा बजाने वाले को पकड़ लेना चाहिए। उसके पकड़ मे आते ही सारे नाद पकड़ मे आ जाते है। भगवान् एक ही वाक्य मे कहते है—'जो माया को तैर जाना चाहते है वे मेरी शरण मे आवे।'

यहां वही सहज तरे, जो मेरी शरण गहे,
वे यहीं भस्म करें, माया-जाल ॥

तो यह माया क्या है? माया कहते है परमेश्वर की शक्ति को, उसकी कला—कुशलता को। आत्मा के प्रकृति—अथवा जैन-परिभाषा मे कहे तो जीव व अजीव—रूपी इस मसाले से जिसने यह अनंत रंगो वाली सृष्टि रची है उसकी शक्ति अथवा कला ही माया है। जेलखाने में जिस तरह एक अनाज की सब रोटियां और एक ही सर्व-रसी दाल होती है वैसे ही एक ही अखण्ड आत्मा व एक ही अष्ट-धा शरीर समझो। इससे परमेश्वर तरह-तरह की चीजें बनाता रहता है। हम इन चीजो को देखकर भिन्न-भिन्न परस्पर विरोधी अच्छे-बुरे भावों का अनुभव करते हैं। इसके परे जाकर यदि हम सच्ची शान्ति पाना चाहते है तो फिर इन वस्तुओ के निर्माता को जा पकड़ना चाहिए। उससे परिचय कर लेना चाहिए। उससे जान-पहचान होने पर ही इस भेद-जनक आसक्ति-जनक मोह से बचा जा सकेगा।

उस परमेश्वर को समझ लेने का एक महान् साधन—एक महान् विकर्म—बताने के लिए सातवे अध्याय मे भक्ति का भव्य भवन खुला कर दिया है। चित्त शुद्धि के लिए यज्ञ-दान, जप-तप, ध्यान-धारणा, इत्यादि अनेक विकर्म बताये जाते हैं। परन्तु इन साधनों को मै सोडा, साबुन, अरीठा—इनकी उपमा दूंगा। लेकिन भक्ति को पानी कहूंगा।

सोडा, साबुन; अरीठा सफाई लाते है, परन्तु पानी के बिना काम नहीं चल सकता। पानी न हो तो कोरे अरीठे क्या काम देंगे ? इसके विपरीत यदि सोडा, साबुन, अरीठा न हो पर केवल पानी ही हो तो निर्मलता जरूर आ सकती है। उस पानी के साथ यदि ये पदार्थ भी हो तो 'अधिकस्य अधिकं फलम्' हो जायगा, दूध में शकर पडने जैसा हो जायगा। अत यज्ञ,याग,ध्यान,तप, इन सब में यदि हार्दिकता न हो तो फिर चित्त-शुद्धि होगी कैसे ? हार्दिकता का ही अर्थ है भक्ति।

सब प्रकार के साधनो को भक्ति की जरूरत है। भक्ति एक सार्वभौम उपाय है। कोई सेवा-शास्त्र का जानकार, उपचारो से भलीभांति परिचित मनुष्य किसी रोगी की सेवा-शुश्रूषा के लिए जाता है, पर यदि उसके मन मे सेवा की व्याकुलता न हो तो बताओ सच्ची सेवा कैसे बनेगी ? बैल भले ही खासा मोटा-ताजा हो पर यदि गाडी खीचने की इच्छा ही उसे न हो तो वह कन्धा डालकर बैठ जायगा—और सम्भव है कि गाडी को किसी खड्डे मे भी गिरा दे। अत· जिस कार्य मे हार्दिकता नही है उससे न तुष्टि मिल सकती है, न पुष्टि।

(२)

यदि यह भक्ति हम मे आजाय या हो तो उस महान् चित्रकार की कला को हम देख सकेंगे। उसके हाथ की वह अनूठी कलम हम देख सकेंगे। जहां एक बार उस उगम के झरने को व वहां के अपूर्व मधुर रस को चख लिया तो फिर बाकी के सब रस तुच्छ व नीरस मालूम होगे। जिसने वास्तविक केले खा लिये उसने लकडी या मिट्टी के रंगीन केले हाथ मे लिये भी तो उनकी सुन्दरता देखकर एक ओर रख देगा। असली केलों का स्वाद मिल जाने के कारण उसे इन नकली केलों के प्रति कोई उत्साह नही रहेगा। इसी तरह जिसे असली झरने की मिठास का मजा आगया है, वह होटल के गुलाब-शर्बत के चक्कर मे नही पडेगा।

एक दार्शनिक-तत्त्वज्ञानी को लोगों ने कहा—'महाराज चलिए शहर मे आज बडी आराइश की गई है।' दार्शनिक ने पूछा—'भाई

यह आराइश क्या होती है ? एक दिया,इसके बाद दूसरा, फिर तीसरा इस तरह दस लाख, करोड, जितने चाहे गिन लो, इनकी एक पांति ही न ? तो मैने आराइश देख ली।' गणित श्रेढी में होती है १ + २ + ३ इस तरह अनंत तक संख्या। संख्या मे जो अन्तर रखना हो, वह यदि मालूम हो जाय तो फिर सारी संख्या लिखने की जरूरत नही रहती। उसी तरह वे दिये एक के बाद एक रख दिये। इसमे इतने आश्चर्य व आनन्द की कौनसी बात है ? परन्तु मनुष्य को ऐसे आनन्द प्रिय होते है। वह नीबू लायेगा, शकर लायेगा, पानी में उसे घोलेगा और फिर बडे स्वाद से पीकर रहेगा—'वाह क्या बढिया शिकंजी बनी है।' जबान को जायका लेने के सिवा और काम ही क्या है ? यह इसमे मिलाओ, वह उसमें मिलाओ। ऐसी चाट खाने मे ही उसे सारा मजा। बचपन मे एक बार मै सिनेमा देखने गया था। साथ में एक टाट का टुकडा ले गया था। मतलब यह कि नीद आने लगे तो सो जाऊं। परदे पर आंखो को चौंधिया देनेवाली वह आग मै देखने लगा। दो ही चार मिनट मे उन अग्नि-चित्रो को देखकर मेरी आंखे थकने लगीं। मैं अपने टाट पर सो गया व कहा कि जब खतम हो जाय तो जगा लेना। रात को बाहर खुली हवा मे आकाश के चांद-तारे देखना छोडकर, शान्त सृष्टि का वह पवित्र आनन्द छोडकर, उस कुन्द थिएटर मे आग की पुतलियो को नाचता देखकर हम तालियां पीटते है ! मेरी समझ मे यह सब-कुछ नही बैठता।

मनुष्य ऐसा निरानन्द कैसे ? उन निर्जीव पुतलियो को देखकर बेचारा किसी तरह थोडा आनन्द प्राप्त कर लेता है। जीवन मे जबकि आनन्द नही है तो फिर ऐसे कृत्रिम आनन्द खोजते हैं। एक बार हमारे पडौस में 'टमटम' बजना शुरू हुआ। मैने पूछा—'यह बाजा क्यों ?' तो कहा गया—'लडका हुआ है !' तो दुनिया मे क्या एक तुम्हारे ही लडका हुआ है ? जो 'टमटम' बजाकर दुनिया को कहता है कि मेरे यहां लड़का हुआ है। नाच, गान, खेल होते हैं—इसलिए कि लडका

हुआ है। यह सब बच्चो का खेल नही तो क्या है ? मानो आनन्द का अकाल ही पड गया है। अकाल के दिनो मे जैसे कही अनाज का दाना दिखते ही लोग टूट पडते है उसी तरह जहां लडका हुआ, सरकस आया, सिनेमा आया कि ये आनन्द के भूखे-प्यासे बेचारे टिड्डी की तरह टूट पडते हैं।

क्या यह सच्चा आनन्द है ? गाना कानो मे घुसकर उसकी लहरे दिमाग को हलका-सा धक्का पहुँचाती है। आंखो मे रूप घुस कर दिमाग को धक्का देता है। इस धक्के लगने मे ही बेचारो का वह आनंद समाया रहता है। कोई तमाखू कूटकर उसे नाक मे घुसेडता है, कोई बीडी बनाकर मुंह मे खोसता है। उस सुंघनी का या उस धुएं का धक्का लगा तो मानो दुनिया भर का आनन्द मिल गया। बीडी का ठूंठ मिलते ही उनके आनन्द की सीमा नही रहती। टाल्स्टाय लिखते है—'उस सिगरेट की खुमारी मे वह कभी किसी का खून भी कर डाले तो आश्चर्य नही।' एक प्रकार का नशा ही समझो न !

ऐसे आनन्द मे मनुष्य क्यो मस्त हो जाता है ? क्योकि उसे वास्तविक आनन्द का पता नही है। मनुष्य परछाई मे ही पागल हो रहा है। आज तो वह पांच ज्ञानेन्द्रियो का ही आनन्द ले रहा है। यदि आंख-इन्द्रिय उसके न होती तो वह चार ही इन्द्रियो का आनन्द संसार मे मानता। कल को यदि मगल ग्रह से कोई छः इन्द्रिय वाला मनुष्य नीचे उतर आये तो ये बेचारे पांच इन्द्रियो वाले रोने लग जायगे व कहेगे कि 'इसके मुकाबले मे हम कितने दीन-हीन है।'

सोचने की बात है कि सृष्टि का सारा अर्थ इन पांच इन्द्रियो को कैसे मालूम होगा ? इन पांच विषयो मे भी फिर वह चुनाव करता है और उनमे रमता रहता है। गधे का रेकना उसके कानो में गया तो कहता है कहां से यह अशुभ आवाज आगई। तो क्या तुम्हारा दर्शन होने से उस गधे का कुछ अशुभ नही होगा ? तुम्ही को अलबत्ते उससे नुकसान होता है ! दूसरो का तुमसे कुछ नहीं बिगडता ? हमने मान

लिया है कि गधे का रेकना अशुभ है। एक बार बड़ौदा कालेज मे रहते हुए कुछ यूरोपियन गायक आये। थे तो वे उत्तम गवैये। अपनी तरफ से कमाल कर रहे थे। परन्तु मै सोच रहा था कि कब यहां से भाग छूटूं, क्योकि मुझे वैसा गाना सुनने की आदत नही थी। मैने उन्हे फेल कर दिया। हमारी तरफ के गवैये यदि उधर गये तो कदाचित् वे वहां फेल समझे जायंगे। इस तरह सगीत से एक को आनन्द होता है तो दूसरे को नही। तो इसे सच्चा आनन्द नहीं कह सकते। यह मायावी आनन्द है। जब तक वास्तविक आनन्द का दर्शन न होगा तब तक इस झूठे, धोखादेह आनन्द मे ही झूलते रहेगे। जब तक असली दूध नही मिला था तब तक आटे का बनाया दूध ही अश्वत्थामा दूध की जगह पीता था। इस तरह जब आप सच्चा स्वरूप समझ लेगे, उसका आनंद चख लेगे तो फिर दूसरी सब चीजे फीकी लगेगी।

इस आनन्द का पता लगाने के लिए उत्कृष्ट मार्ग है भक्ति। इस रास्ते चलते-चलते परमेश्वरी कुशलता मालूम हो जायगी। उस कल्पना के होते ही या आते ही दूसरी सब कल्पनाएं अपने-आप विलीन हो जायंगी। फिर क्षुद्र बातों से आकर्षण नही रह जायगा। फिर ससार में एक ही आनन्द भरा हुआ दिखाई देगा। मिठाई की दूकाने भले ही सैकडो हो, परन्तु मिठाइयो का प्रकार सब मे एक-सा होता है। सो जब तक असली चीज हाथ न लगेगी तब तक हम चञ्चल चिडिया की तरह एक चीज यहां की खायंगे, एक वहां की। सुबह मै तुलसी रामायण पढ रहा था। दिये के पास कीडे जमा हो रहे थे। इतने मे वहां एक छिपकली आई। उसे मेरी रामायण से तो क्या लेना-देना था? कीडे देखकर उसे कितना आनन्द हो रहा होगा! वह कीडो पर झपटने वाली थी कि मैने जरा हाथ हिलाया व वह भाग गई। परन्तु उसका ध्यान एक-सा था कीडे की ओर। मैने अपने मन से कहा—"तू इस कीडे को खा लेगा? तेरी जबान मे लार टपकती भी है?" मेरी जबान मे लार नहीं टपकी। परन्तु जिस रस का आनन्द मै लूट रहा था, उसका उस

बेचारी छिपकली को क्या पता ? वह रामायण का रस नही चख सकती थी। इस छिपकली की तरह हमारी दशा है। हम नाना रसो मे मस्त है। परन्तु यदि सच्चा रस मिल जाय तो क्या बहार हो ? भगवान् भक्ति-रूपी एक साधन दिखा रहे हैं, जिससे हम उस असली रस को पा व चख सके।

(३)

भगवान् ने भक्त के तीन प्रकार बतलाये है—(१) सकाम भक्ति करने वाला (२) निष्काम परन्तु एकांगी भक्ति करने वाला, (३) ज्ञानी अर्थात् सोलहो आना भक्ति करने वाला। निष्काम परन्तु एकागी भक्ति करने वालो के फिर तीन प्रकार है—(१) आर्त्त, (२) जिज्ञासु, (३) अर्थार्थी। भक्ति-वृक्ष की ये शाखा-प्रशाखाएं है।

तो सकाम भक्त का अर्थ क्या ? कुछ इच्छा मन मे रख कर भगवान् के पास जाने वाला। मैं उसकी यह कह कर निन्दा न करूगा कि यह भक्ति निकृष्ट प्रकार की है। कई लोग सार्वजनिक सेवा-क्षेत्र मे इसी लिए कूदते है कि मान-सम्मान मिले। इसमे नुकसान क्या है ? आप उन्हे मान दीजिए। उनका खूब सम्मान कीजिए। इस सम्मान से कुछ बिगाड न होगा। ऐसा मान मिलते रहने से फिर आगे चल कर सार्वजनिक सेवा मे वे सुस्थिर हो जायंगे। फिर उसी काम मे उन्हे आनंद मालूम होने लगेगा। मान पाने की जो इच्छा होती है उसका भी अर्थ आखिर क्या है ? यही कि उस सम्मान से हमे यह निश्चय, विश्वास हो जाता है कि जो काम हम करते है वह उत्तम है। मेरी सेवा अच्छी है या बुरी यह समझने के लिए उसके पास कोई आन्तरिक साधन नही है। अत. वह इस बाह्य साधन का अवलम्बन लेता है। मां ने बच्चे की पीठ ठोक कर कहा शाबाश, तो उसकी तबीयत होती है कि मा का काम और भी करे। यही बात सकाम भक्ति की है। सकाम भक्त परमेश्वर के पास जाकर कहेगा—'दो'। परमेश्वर से अच्छी बात मांगने की प्रवृत्ति होना कोई मामूली बात नही। यह असाधारण बात है।

ज्ञानदेव ने नामदेव से पूछा—'तीर्थयात्रा को चलोगे न ?' नामदेव ने पूछा—'किसलिए ?' ज्ञानदेव ने जवाब दिया—'साधु-सन्तो का समागम होगा।' नामदेव ने कहा—'तो भगवान् से पूछ आता हूं।' नामदेव मन्दिर मे जाकर भगवान के सामने खडे हो गये। उनकी आंखो से आंसू बहने लगे। भगवान् के उन समचरणो की ओर ही वह देखते रहे। अन्त को रोते-रोते उन्होने पूछा—'प्रभो, क्या मै जाऊँ ?' ज्ञानदेव पास ही थे। इस नामदेव को क्या आप पागल कहेगे ? ऐसे लोग कम नही है जो स्त्री के न होने या न रहने पर रोते है। परन्तु परमेश्वर के समीप रोने वाला भक्त फिर वह भले सकाम ही क्यो न हो, असाधारण है। अब यह उसका अज्ञान समझना चाहिए कि जो वस्तु सचमुच मांगने योग्य है उसे वह नही मांगता। परन्तु इतने के लिए उसकी सकाम भक्ति त्याज्य नही मानी जा सकती।

स्त्रियॉ सुबह उठकर नाना प्रकार के व्रत आदि करती है, आरती करती है, दीपक दिखाती है, तुलसी की प्रदक्षिणा करती है। किसलिए ? मरने के बाद परमेश्वर का अनुग्रह प्राप्त हो। उनके मन की ऐसी धारणा हो सकती है। परन्तु उसके लिए वे व्रत, जप, उपवास आदि अनुष्ठान करती है। ऐसे व्रत-शील परिवार मे महापुरुषो का जन्म होता है। तुलसीदास के कुल मे रामतीर्थ उत्पन्न हुए। रामतीर्थ फारसी भाषा के ज्ञाता थे। किसी ने कह दिया—'तुलसीदास के कुल मे जन्मे हो और तुम संस्कृत नही जानते हो ?' रामतीर्थ को यह बात चुभ गई। इससे प्रेरित होकर वे संस्कृत के अध्ययन मे जुट पडे। कुल-स्मृति का यह कितना सामर्थ्य ! अत. स्त्रियॉ जो भक्ति-भाव रखती है उसकी दिल्लगी न उडानी चाहिए। जहाँ भक्ति का ऐसा एक-एक कण संचित होता है वहां तेजस्वी सन्तति उत्पन्न होती है। इसीलिए भगवान् कहते हैं—मेरा भक्त सकाम होगा तो भी मै उसकी भक्ति को दृढ करूंगा। उसके मन मे गोलमाल नहीं होने दूंगा। यदि वह मुझसे सच्चे हृदय से प्रार्थना करेगा कि मेरा रोग दूर कर दो तो मै उसके आरोग्य की भावना

को पुष्ट करके उसका रोग दूर कर दूंगा। किसी भी निमित्त से क्यों न हो, वह मेरे पास आवेगा तो मैं उसकी पीठ पर हाथ फेर कर उसको अवश्य अपनाऊंगा।" ध्रुव का ही उदाहरण लीजिए। पिताजी की गोदी मे बैठने न पाया कि उसकी मां ने कहा, ईश्वर से वह स्थान मागा। वह उपासना मे जुट पडा। भगवान् ने उसे अचल स्थान दे दिया। मन यदि निष्काम न हो तो भी क्या हुआ ? असल बात यह है कि मनुष्य जाता किसके पास है, मांगता किससे है ? ससार के सामने हाथ न पसार कर, घुटने न टेक कर, ईश्वर को मनाने की वृत्ति का महत्त्व कम न आंकना चाहिए।

निमित्त कुछ भी हो, तुम भक्ति-मंदिर मे जाओ तो। शुरू मे यदि कामना लेकर भी आये होगे तो आगे चलकर निष्काम हो जाओगे। प्रदर्शिनियां की जाती है। उनके सञ्चालक कहते हैं— "अजी आप आकर तो देखिए, कैसी बढ़िया, रंगीन, महीन खादी बनने लगी है। जरा नमूना तो देखिए।" गाहक आता है, व प्रभावित होता है। यही बात भक्ति की है। भक्ति-मन्दिर मे एक बार प्रवेश तो करो, फिर वहां का सौंदर्य व सामर्थ्य अपने-आप मालूम हो जायगा। स्वर्ग जाते हुए धर्मराज के साथ अन्त को एक कुत्ता ही रह गया। भीम, अर्जुन सब रास्ते मे गल गये। स्वर्ग-द्वार के पास धर्म से कहा गया—'तुम आ सकते हो, परन्तु यह कुत्ता नहीं जा सकता।' धर्म ने कहा—'अगर मेरा कुत्ता नही जा सकता तो मै भी नही जा सकता।' कुत्ता वैसे नीच प्राणी समझा जाता है, भले ही यह अनन्य सेवा करने वाला हो। परन्तु दूसरे 'मै-मै' करने वालो से तो वह श्रेष्ठ ही है। और वह भीम-अर्जुन से भी श्रेष्ठ साबित हुआ। परमेश्वर की ओर जाने वाला भले ही एक कीडा क्यो न हो, यह परमेश्वर की ओर न जाने वाले बडे-से-बडे व्यक्ति से श्रेष्ठ व महान् है। मन्दिर में कछुए व नन्दी की मूर्तियाँ होती है, परन्तु उस बैल को भी सब नमस्कार करते है। क्योकि वह साधारण बैल नही है। वह भगवान् के सामने रहता है। बैल होने पर भी

यह नहीं भूल सकते कि वह परमेश्वर का है। बड़े-बड़े बुद्धिमानो की अपेक्षा वह श्रेष्ठ है। एक बावला जीव भी क्यो न हो, वह यदि भगवान् का स्मरण करता है तो विश्व-वन्द्य हो जाता है।

एक बार मैं रेल में जा रहा था। यमुना के पुल पर गाडी आई। पास से एक आदमी ने बडे पुलकित हृदय से उसमे एक धेला डाल दिया। पडौस में एक आलोचक महाशय बैठे थे। कहने लगे—"देश पहले ही कंगाल हो रहा है। और ये लोग यो व्यर्थ पैसा फेकते है।" मैने कहा—"आपने उसके हेतु पर ध्यान नही दिया। उसे पहचाना ही नही। जिस भावना से उसने धेला-पैसा फेंका उसकी कीमत दो-चार पैसे भी हो सकती है या नही? यदि दूसरे सत्कार्य के लिए ये पैसे दिये होते तो यह दान और भी अच्छा हुआ होता, किन्तु इस बात का विचार पीछे करेगे। परन्तु उस भावनाशील मनुष्य ने तो इसी भावना से प्रेरित होकर यह त्याग किया है कि यह नदी क्या, ईश्वर की करुणा ही बह रही है। इस भावना के लिए आपके अर्थ-शास्त्र मे कोई स्थान है क्या? देश की एक नदी को देखकर उसका अन्त.करण द्रवित हो उठा। यदि इस भावना की आप कद्र कर सके तो मै आपकी देश-भक्ति को परखूंगा। देश-भक्ति का अर्थ क्या रोटी है? देश की एक महान् नदी को देखकर यदि यह भावना मन मे जगती है कि अपनी सारी सम्पत्ति इस मे डुबो दूं, उसके चरणो मे अर्पण कर दूं, तो यह कितनी बडी देश-भक्ति है? वह सारी धन-दौलत, वे सब हरे-पीले पत्थर, कीडो की विष्टा से बने मोती व कोयले से बने हीरे—इन सब की कीमत पानी मे डुबो देने लायक ही है। परमेश्वर के चरणो के आगे ये सब तुच्छ व धूल-मिट्टी समझो। आप कहेगे कि नदी का व परमेश्वर के चरणो का क्या सम्बन्ध? तो मै पूछता हूं—आपकी सृष्टि मे पर-मात्मा का कुछ स्थान या सम्बन्ध है भी? नदी है आक्सिजन व हाइ-ड्रोजन। सूर्य है गैस की बत्ती का एक बडा-सा नमूना–प्रकार। उसे नमस्कार क्या करे? नमस्कार करना होगा सिर्फ आपकी रोटी को। तो

ऐसी रोटी मे भी भला क्या खूबी है ? वह भी तो आखिर एक सफेद मिट्टी ही है । उस के लिए क्यों इतनी लार टपकाते हो ? इतना बडा यह सूर्य उगा है, ऐसी यह सुन्दर नदी बह रही है–इन मे यदि परमेश्वर का अनुभव न होगा तो फिर होगा कहां ?" अंग्रेज कवि वर्ड्स्वर्थ बडे दु.ख से कहता है—"पहले जब मै इन्द्र-धनुष देखता था, मै नाच उठता था। हृदय हिलोरें मारने लगता था,पर आज मै क्यो नही नाच उठता ? पहले की जीवन-माधुरी खोकर कही मैं पत्थर तो नहीं हो गया ?"

मतलब यह कि सकाम भक्ति अथवा गंवार मनुष्य की भावना का भी बडा महत्त्व, बहुत मूल्य होता है। अन्त मे इससे महान् सामर्थ्य पैदा होता है। जीवधारी कोई भी व कैसा ही हो वह जब एक बार परमेश्वर के दरबार मे आजाता है तो फिर मान्य हो जाता है। आग में किसी भा लकड़ी को डालिए, वह जल ही उठेगी। अत. परमेश्वर की भक्ति एक अपूर्व साधना है। परमेश्वर सकाम भक्ति की भी कद्र करेगा। क्योंकि आगे जाकर वह भक्ति निष्कामता व पूर्णता की ओर चली जायगी।

(४)

यह सकाम भक्तो का प्रकार हुआ। अब निष्काम भक्ति करने वालो से मिले। इनमे पहले आते है आर्त्त भक्त। आर्त्त मे फिर एकांगी और पूर्ण और एकांगी मे फिर तीन प्रकार। आर्त्त होता है दया-प्रार्थी, भगवान् के लिए रोने-चिल्लाने व छटपटाने वाला जैसे नामदेव। वह इस बात के लिए उत्सुक, व्याकुल, अधीर, आतुर रहता है कि कब भगवान् के प्रेम-रस का पान करूंगा, कब उससे गले लिपट कर जीवन को कृतार्थ करूंगा, कब उसके चरणों में अपने को डाल कर धन्य होऊंगा। प्रत्येक कार्य मे वह यह देखेगा कि सच्चाई, हार्दिकता, व्याकुलता, प्रेम है या नही ? दूसरा प्रकार है, जिज्ञासुओं का। फिलहाल अपने देश मे इस श्रेणी के भक्त बहुत नही है। इस कोटि के भक्त कोई गौरीशंकर

पर बार-बार चढेंगे व मरेंगे,कोई उत्तर ध्रुवकी खोज मे निकलेंगे और अपनी खोज के फल कागद पर लिख कर उन्हे बोतल मे बन्द करके पानी में छोड़ कर मर जायंगे, कोई ज्वालामुखी के उदर मे उतरेंगे। अभी तो हिन्दुस्तानियो के लिए मौत एक हौआ हो बैठी है। और कुटुम्ब-परिवार के भरण-पोषण से बढ कर कोई पुरुषार्थ ही नहीं रहा है ! किन्तु जिज्ञासु भक्त के पास अदम्य जिज्ञासा होती है। वह प्रत्येक वस्तु के गुण-धर्म की खोज करता है। मनुष्य जैसे नदी-मुख के द्वारा अन्त में समुद्र को पा जाता है उसी तरह यह जिज्ञासु भी अन्त को परमेश्वर तक पहुंच जायगा। तीसरा वर्ग है अर्थार्थियो का। अर्थार्थी का अर्थ है प्रत्येक बात मे अर्थ देखने वाला। 'अर्थ' का अर्थ यहां रुपया-पैसा नही, बल्कि हित, कल्याण। किसी भी बात की जांच करते समय वह उसे इस कसौटी पर कसेगा—इस के द्वारा समाज का क्या कल्याण होगा ? वह देखेगा कि मै जो कुछ कहता, लिखता, करता हूं उससे संसार का मंगल होगा या नही ? निरुपयोगी, अहितकर क्रिया उसे मंजूर न होगी। उसे संसार के हित मे लीन महात्मा ही समझो। जगत् का कल्याण ही उसका आनन्द है। थोडे मे कहे तो जो प्रेम की दृष्टि से समस्त क्रियाओं को—व्यापारो को देखता है वह आर्त, ज्ञान की दृष्टि से देखता है वह जिज्ञासु व सबके कल्याण की दृष्टिसे देखता है वह अर्थार्थी।

ये तीनो भक्त है तो निष्काम,परन्तु एकांगी है। एक प्रधानतः कर्म के द्वारा, दूसरा हृदय के द्वारा, तीसरा बुद्धि के द्वारा ईश्वर के पास पहुंचता है ! अब रहे बाकी पूर्ण भक्त। इन्हीं को ज्ञानी भी कह सकते है। इस भक्त को जो कुछ दीखता है सो सब परमेश्वर का ही रूप। कुरूप-सुरूप, राव-रंक,स्त्री-पुरुप, पशु-पक्षी सर्वत्र परमात्मा के ही पावन दर्शन।

नर नारी बच्चे सबही नारायण।
ऐसा मेरा मन बना प्रभु॥

सन्त तुकाराम की ऐसी प्रार्थना है। हिन्दू-धर्म में जैसे नाग-पूजा,

हाथी की सूंड रखने वाले देवता की पूजा,पेडो की पूजा–ये जैसे पागलपन के नमूने हैं उनसे भी अधिक पागलपन की कमाल ज्ञानी भक्तो के यहां हुई दीखती है। उनसे कोई भी क्यो न मिले, उन्हें चींटी से लेकर चन्द्र-सूर्य तक सर्वत्र एक ही परमात्मा दीखता है और उसका हृदय आनन्द से हिलोरें मारने लगता है।

फिर उनका सुख अनन्त–अपार।
आनन्द–सागर हिलोरता॥

ऐसा यह दिव्य व भव्य दर्शन है। भले ही आप चाहे तो उसे भ्रम कहे। परन्तु यह भ्रम सौख्य की राशी है,आनन्द का स्थान–निधि है। गंभीर सागर में उसे परमेश्वर का विलास दिखाई देता है, गो-माता मे उसे ईश्वर का वात्सल्य नजर आता है। पृथ्वी में उसकी क्षमता दीख पडती है, निरभ्र आकाश मे उसकी निर्मलता, रवि–चन्द्र–तारों मे उसका तेज व भव्यता दीखती है। फूल में उसकी कोमलता, दुर्जनो में अपनी परीक्षा करने वाला परमेश्वर दीखता है। इस तरह 'एक ही परमात्मा सर्वत्र रम रहा है'—यह देखने का अभ्यास ज्ञानी भक्त किया करते है। ऐसा करते हुए वह–ज्ञानी भक्त–एक दिन ईश्वर मे ही मिल जाता है।

आठवां अध्याय

रविवार, १०-४-३२

(१)

मनुष्य का जीवन अनेक संस्कारो से युक्त होता है। हमसे असंख्य क्रियाएं होती रहती है। यदि हम उनका हिसाब लगाने लगें तो उसका अन्त ही नहीं आ सकता। यदि मोटे तौर पर ही हम चौबीस घण्टों की क्रियाओ को देखने लगे तो उनकी गिनती कठिन हो जायगी। खाना, पीना, बैठना, सोना, चलना, फिरना, काम करना, लिखना, बोलना, पढ़ना—इनके अलावा नाना प्रकार के स्वप्न, राग-द्वेष, मानापमान, सुख-दु:ख आदि अनंत प्रकार उनके दिखाई देंगे। इन सब के संस्कार हमारे मन पर होते रहते है। अतः अगर कोई मुझसे पूछे कि जीवन किसे कहते है,—तो मै उसकी व्याख्या करूंगा—संस्कार-संचय।

संस्कार दोनो प्रकार के होते है—अच्छे भी और बुरे भी। दोनों का प्रभाव मनुष्य के जीवन पर पडता रहता है। बचपन की क्रियाओं की तो हमे याद भी नही रहती। सारा बालपन इस तरह पुंछ जाता है जैसे स्लेट पर लिखकर पोछ दिया हो। पूर्व-जन्म के संस्कार तो बिलकुल ही साफ पोंछ दिये-जैसे हो जाते है—यहां तक कि इस बात की भी शंका हो उठती है कि पूर्व-जन्म कोई था भी या नही। जब इस जन्म का ही बचपन भूल जाता है तो फिर पूर्व-जन्म की तो बात ही क्या? पूर्व-जन्म को जाने दीजिए, हम इसी जन्म का विचार करें। जितनी क्रियाएं हमें याद रहती है उतनी ही होती हैं—सो बात नहीं। क्रियाए भी अनेक होती है और ज्ञान भी अनेक। परन्तु ये क्रियाएँ

व ज्ञान तो मर जाते हैं—अन्त मे कुछ संस्कार शेष रह जाते हैं। रात को सोते समय दिन की सब क्रियाओ को यदि हम याद करने लगे तो भी याद नही आती। याद भी कौन-कौन सी क्रियाएं आती है ? वे ही क्रियायें हमारी आंखो के सामने आ जाती है जो बहुत स्पष्ट व प्रभावकारी होती हैं। यदि हमारा बहुत लडाई-झगडा किसी से हुआ हो तो वह याद रहता है। क्योंकि उस दिन की वही मुख्य कमाई होती है। मुख्य व स्पष्ट क्रियाओ के संस्कार मन पर बडे गहरे हो जाते है। मुख्य क्रिया याद रहती है, शेष सब फीकी पड जाती है। यदि हम रोजनामचा लिखने बैठे तो दो ही चार बातें लिख लेते है। यदि प्रतिदिन के ऐसे सस्कार को लेकर एक हफ्ते का हिसाब लगाने लगें तो और भी कई बाते इसमे से निकल जायंगी व सप्ताह की मुख्य घटनाएं ही कायम रह जायंगी। फिर महीने भर बाद हम अपने पिछले कामो का हिसाब लगाने बैठे तो उतनी ही बाते हमारे सामने आती रहेंगी जो उस मास मे वहुत मुख्य-मुख्य रही होगी। इसी तरह फिर छः महीना, साल, पांच साल का हिसाब लगावें तो बहुत ही थोडी बाते शेष रहेगी व बहुत महत्त्वपूर्ण व मुख्य बाते ही स्मृति मे आवेंगी और उन्हीके संस्कार शेष रहेगे। असंख्य क्रियाओ व अनंत ज्ञानो के हो जाने पर भी अन्त को मन के पास बहुत थोडी बाते बाकी बच रहती है। वे विभिन्न कर्म व ज्ञान आये व अपना काम करके मर गये। उन सब कर्मों के पांच-दस दृढ संस्कार ही शेष रह जाते है। ये संस्कार ही हमारी पूंजी है। हम जीवन-रूपी व्यापार करके भी सिर्फ संस्कार-रूपी सम्पत्ति जोडते हैं। जीवन का हाल एक व्यापारी की तरह है। जैसे व्यापारी रोज का, महीने का, व साल-भर का जमा-खर्च करके अन्त मे नफे-टोटे का एक तल-पट निकालता है वैसे ही जीवन का हाल होता है। अनेक संस्कारो का जमा-नामे होते-होते अन्त को एक ठोस, सारभूत, निचोड जैसी चीज बाकी बच रहती है।

जब जीवन की अन्तिम घडी आती है तब जीवन की आखिरी

रोकड़ बाकी—आत्मा—याद आने लगता है। जन्म भर मे क्या-क्या किया—इसकी जब याद करते है तो सारी कमाई के रूप में दो-चार बातें ही नजर आती है। इसका यह अर्थ नहीं कि वे सब कर्म व ज्ञान व्यर्थ चले गये। उनका काम पूरा हो गया—इतना ही। हजारों तरह के उखाड़-पखाड़ करने के बाद अखीर में कुल पांच-चार हज़ार का नफा या १०-२० हजार का घाटा इतना ही सार व्यापारी के हाथ लगता है। नुकसान हुआ तो छाती बैठ जाती है, फायदा रहा तो दिल उछलने लगता है।

हमारे जीवन की भी ऐसी ही बात है। मरने के समय यदि खाने की वासना हुई तो समझो कि सारी जिन्दगी भर सुस्वादु भोजन करने का ही अभ्यास करते रहे। भोजन या स्वाद की वासना ही हमारी जिन्दगी भर की कमाई समझनी चाहिए। किसी माता को मरते समय यदि बेटे की याद हो आई तो उसका पुत्र-सम्बन्धी संस्कार ही बलवान् मानना चाहिए। बाकी जो असंख्य कर्म किये वे गौण सिद्ध हो गये। अंकगणित मे अपूर्णांक के सवाल होते हैं। कितनी बड़ी-बड़ी संख्याएं। परन्तु संक्षेप बनाते-बनाते अन्त को एक अथवा शून्य-ऐसा उत्तर आता है। इसी तरह जीवन मे संस्कारों की अनेक संख्याएं चली जाकर अन्त में एक बलवान् संस्कार ही सार-रूप मे रह जाता है। जीवन-रूपी सवाल का यही उत्तर होता है। अन्तकालीन स्मरण ही सारे जीवन का फलित होता है।

जीवन का यह अन्तिम सार मधुर होना चाहिए। अन्त की यह घड़ी मधुर हो—इसी दृष्टि से सारे जीवन के उद्योग होने चाहिए। जिसका अन्त मधुर उसका सारा जीवन मधुर। अन्त भला सो भला। उस अन्तिम उत्तर पर ध्यान रखकर सारे जीवन का सवाल हल करना चाहिए। इस ध्येय को दृष्टि के सामने रखकर सारे जीवन की योजना बनाओ। जब कोई सवाल हल करते हो तो जो खास प्रश्न पूछा गया है उसीको सामने रखकर उत्तर लाते हैं, उसी तरह की रीति से काम

लेना पडता है। अतः मरने के समय क्या संस्कार दृढ रहे, या उठें– इस इच्छा को जानकर उसके अनुसार ही सारे जीवन का प्रवाह मोडना चाहिए। दिन-रात उसीकी तरफ हमारा झुकाव रहना चाहिए।

(२)

इस आठवें अध्याय मे यह सिद्धांत बताया गया है कि जो विचार मरते समय प्रबल रहता है वही अगले जन्म मे बलवत्तर साबित होता है। इस पाथेय को साथ लेकर जीव आगे यात्रा के लिए निकलता है। आज दिन की कमाई लेकर, नीद के बाद हम कल का दिन शुरू करते है। उसी तरह इस जन्म की जमा-पूंजी लेकर मरण-रूपी नीद के बाद फिर हमारी यात्रा शुरू होती है। इस जन्म का जो अन्त है वही अगले जन्म की शुरूआत होती है। अत सदैव मरण का स्मरण रखकर चलो।

मरण का स्मरण रखने की जरूरत और भी इसलिए है कि मृत्यु की भयानकता का मुकाबला किया जा सके। उसका रास्ता निकाला जा सके। एकनाथ महाराज की एक बात सुनो। एक सज्जन ने उनसे पूछा—"महाराज आपका जीवन कितना सीधा सादा, कितना निष्पाप। हमारा जीवन ऐसा क्यों नही ? आप कभी किसी पर गुस्सा नही होते ? किसी से लडाई-झगडा नहीं, टंटा-बखेडा नही। कितना शांत, कितना प्रेम-पूर्ण, कितना पवित्र है आपका स्वभाव।" एकनाथ ने कहा—"फिलहाल मेरी बात रहने दो। तुम्हारे सम्बन्ध मे मुझे एक बात मालूम हुई है। आज से सातवें दिन तुम्हारी मौत आ जायगी।" अब एकनाथ की कही बात को झूठ कौन मानता ? सात दिन मे मृत्यु। सिर्फ १६८ ही घण्टे बाकी रहे। हे भगवन्, यह क्या अनर्थ ! वह मनुष्य जल्दी-जल्दी घर दौड गया। कुछ सूझ नही पडता था। आखिरी समय की, सब कुछ समेट लेने की बाते कर रहा था। अब बीमार हो गया। बिस्तर पर पड गया। छः दिन बीत गये—सातवें दिन एकनाथ उससे मिलने आये। उसने अन्तिम भाव से नमस्कार किया।

एकनाथ ने पूछा— 'क्या हाल है ?' उसने कहा—'बस, अब चला"
नाथजी ने पूछा—'इन छः दिनों में कितना पाप किया ?—पाप के
कितने विचार मन में आये ?' वह आसन्न-मरण व्यक्ति बोला—
"नाथजी, पाप का विचार करने की तो बिलकुल फुरसत ही नहीं मिली।
मौत एक-सी आंखो के सामने खडी रहती है।" नाथजी ने कहा—
"मेरा जीवन इतना निष्पाप क्यो है—इसका उत्तर अब मिल गया न ?
मरण-रूपी शेर सदैव सामने खडा रहे तो फिर पाप सूझेगा किसे ?
पाप करने के लिए भी निश्चिन्तता चाहिए। अत. मरण का सदैव
स्मरण रखना पाप से मुक्त होने का उपाय है। यदि मौत सामने दीखती
रहे तो फिर मनुष्य किस बल पर पाप करेगा ?"

परन्तु मनुष्य मरण का स्मरण नहीं चाहता। पास्कल नामक एक
फ्रेंच दार्शनिक हो गया है। उसकी एक पुस्तक है—'पांसे।' 'पांसे' का
अर्थ है 'विचार'। उसने इस पुस्तक मे भिन्न-भिन्न स्फुट विचार दिये
हैं। उसमें वह एक जगह कहता है—"मौत सदा पीछे खडी है; परन्तु
मनुष्य का यह प्रयत्न सतत चल रहा है कि उसे भूले कैसे ? किन्तु वह
यह बात अपने सामने नही रखता कि मृत्यु को याद रख कर कैसे चलें ?"
मनुष्य को मरण शब्द तक बरदाश्त नही होता। खाते समय यदि मौत
का नाम किसी ने ले दिया तो कहते हैं—'क्या अशुभ बात मुंह से निका-
लते हो ?' परन्तु इतना होते हुए भी हमारा एक-एक कदम मौत की तरफ
जा ही रहा है। बम्बई का टिकट कटाकर जब एक बार हम रेल मे बैठ
गये तो हम भले ही बैठे रहे, परन्तु गाडी हमें बम्बई ले जाकर छोड देगी।
जन्म होते ही हमने मौत का टिकट कटा रखा है। अब आप बैठे रहिए
या दौडते रहिए। बैठ रहेगे तो भी मौत आवेगी, दौडते रहेंगे तो भी
आवेगी। आप मौत का विचार करें या न करें, वह आये बिना न रहेगी।
मरण निश्चित है, और बातें भले ही अनिश्चित हो। सूर्य अस्ताचल की
ओर गया कि हमारी आयु का एक अंश वह खा जाता है। जीवन के
भाग यों कटते जा रहे हैं, जीवन छीज रहा है, एक-एक बूंद घट रहा

है। तो भी मनुष्य को उसका कुछ सोच नही होता। ज्ञानेश्वर कहते है—'आश्चर्य दीखता है।' ज्ञानदेव को आश्चर्य होता है कि मनुष्य क्यों इतनी निश्चिन्तता अनुभव करता है। मनुष्य को मरण का इतना भय मालूम होता है कि उसे मरण का विचार तक सहन नही होता। वह सदा उसके विचार व खयाल तक से बचना चाहता है। आंखों पर पर्दा डाल कर बैठ जाता है। लडाई मे जाने वाले सैनिक, मरण का खयाल न आने पावे इसलिए खेलते है, नाचते गाते है, सिगरेट पीते है। पास्कल कहता है कि "मरण सर्वत्र प्रत्यक्ष दीखते हुए भी यह टामी, यह सिपाही उसे भूलने के लिए खाने-पीने से व गान-तान मे मस्त हो रहेगा।"

हम सब इस टामी की तरह है। चेहरे को गोल हँसमुख बनाने का प्रयत्न करना, सूखा हो तो तेल, पाउडर लगाना, बाल सफेद हो गये हों तो खिजाब लगाना—आदि प्रयत्न इसी कोटि के है। छाती पर मौत नाच रही है—फिर भी हम टामी की तरह उसे भूलने का अक्षय प्रयत्न कर रहे है। और चाहे कुछ भी बातें करो, पर मौत की बात मत निकालो। यदि मैट्रिक वाले लडके से पूछो कि 'अब आगे क्या इरादा है।' तो कहता है—'अभी मत पूछो, अभी तो फर्स्टईयर मे हूँ।' दूसरे साल फिर पूछोगे तो कहेगा—'पहले इंटर तो हो जाने दो, फिर देखेंगे।' यही सिलसिला चलता है। जो आगे होने वाला है उसका पहले से विचार क्या नहीं करना चाहिए? अगले कदम के बारे मे पहले से सोच लेना चाहिए, नहीं तो वह खड्डे मे गिरा सकता है। परन्तु विद्यार्थी इसको टालता है। बेचारे की शिक्षा ही इतनी अंधकार-मय होती है कि उससे उसे उस पार का भविष्य दिखाई ही नही देता। अत आगे का सवाल ही वह सामने नहीं आने देता। क्योंकि उसे चारो ओर अंधकार ही दिखाई देता है। परन्तु सच पूछो तो भविष्य टाला ही नही जा सकता वह तो सिर पर आकर सवार होता ही है।

कालेज में अध्यापक तर्क-शास्त्र पढाते है—"मनुष्य मर्त्य है, सुकरात मनुष्य है, अतः सुकरात मरेगा।" इस तरह अनुमान करना वे सिखाते

है—वे सुकरात का उदाहरण देते हैं—खुद अपना क्यो नहीं देते? अध्यापक भी तो मर्त्य ही है। किन्तु वह यो नही सिखावेगा—कि 'सब मनुष्य मर्त्य हैं, अतः मैं अध्यापक भी और तुम शिष्य भी मर्त्य हो।' वह उस मरण को सुकरात पर ढकेल देता है। क्योंकि सुकरात तो मर चुका है। वह आपसे लडने आवेगा नही। शिष्य व गुरु दोनो सुकरात को मरण सौंप कर अपने लिए 'तेरी भी चुप वा मेरी भी चुप' ऐसा फैसला कर लेते है। मानो वे यह समझे बैठे है कि हम तो बहुत सुरक्षित है।

इस तरह मृत्यु को भूलने का यह प्रयत्न सर्वत्र जान-बूझकर हो रहा है। परन्तु इससे मृत्यु कही टल सकती है? कल मां मर गई तो मौत सामने आ गई। मनुष्य निर्भयता-पूर्वक मरण का विचार करके यह प्रयत्न ही नही करता कि उसमे से रास्ता कैसे निकाला जाय? किसी हिरण का पीछा एक शेर कर रहा है। चपल होने से हिरन खूब चौकडी भरता है, परन्तु उसकी शक्ति कम पडती जाती है व अखीर मे वह थकता है; अब भी वह शेर—मृत्यु दौडा आ ही रहा है। उस समय उस हिरण की क्या दशा होती है? वह उस शेर की ओर देख भी नहीं सकता। वह मिट्टी मे सीग व मुँह घुसेड कर खडा हो जाता है—मानो निराधार होकर कहता है—'ले अब आ व मुझे हडप जा।' इसी तरह हम भी मरण को अपने सामने नहीं देख सकते। उससे बचने के लिए हम हजारों तरकीब निकालेंगे। तो भी अन्त मे वह हमारी गर्दन धर ही दबाता है।

और फिर जब मौत आती है तब मनुष्य अपने जीवन की रोकड बाकी देखता है। प्रश्न-पत्र को सामने रखकर बैठा हुआ आलसी-मंद परीक्षार्थी दावात मे कलम डुबोता है, बाहर निकालता है, परन्तु सफेद पर काला करने की हिम्मत नही होती। अरे भाई, लिखोगे या नहीं कुछ भी, सरस्वती आकर थोड़े ही जवाब लिख जायगी? तीन घण्टे खतम होजाते हैं—वह कोरा कागद दे देता है या अखीर मे कुछ-न कुछ घिस-घिसा कर दे जाता है। सवाल को हल करना, जवाब लिखना सूझता नहीं!

इधर देखता है, उधर देखता है और बस ! ऐसा ही हमारा हाल समझो। अतः हमे चाहिए कि हम इस बात को याद रखकर कि जीवन का सिरा मौत की ओर गया हुआ है, अन्तिम क्षण को पुण्य-मय, अत्यन्त पावन व मधुर बनाने का अभ्यास जीवन भर करते रहे। आज से ही इस बात का विचार करते रहना चाहिए कि मन पर ऊँचे से ऊँचे सुन्दर-से-सुन्दर संस्कार कैसे पडे। परन्तु अच्छे संस्कारो के अभ्यास की पडी किसे है ? इसका उलटा, बुरी बातो का अभ्यास अलबत्ते दिन-रात होता रहता है। जीभ,आँख व कान को हम चटोरापन सिखा रहे है। अत. चित्त को इससे भिन्न अभ्यास मे लगाना चाहिए। अच्छी बातो की ओर चित्त लगाना चाहिए। उसमे उसे रंग जाना चाहिए। जहां ऐसा प्रतीत होने लगे कि कही भूल हुई है वही से उसे सुधारने मे व्यस्त होजाना चाहिए। भूल मालूम होजाने पर भी क्या हम फिर वैसा का वैसा ही करते रहेगे ? जिस क्षण हमे अपनी भूल मालूम हुई उसी क्षण हमारा पुनर्जन्म हुआ। उसे अपना नवीन बचपन, अपने जीवन का नवीन प्रभात, समझो। अब तुम सचमुच मे जगे हो। अब दिन-रात जीवन की जांच-परताल करते रहो व सावधान रहो। ऐसा न करोगे तो फिर फिसलोगे,फिर बुरी बात का चस्का लग जायगा।

बहुत दिन पहले मै अपनी दादी से मिलने गया था। बहुत बूढी हो गई थीं। मुझसे कहती—'विन्या, इधर-इधर मुझे याद नही रहता। घी की दोहनी लेने जाती हूं और वैसे ही लौट आती हूं।' परन्तु ५० साल पहले की गहनो की एक बात मुझसे कहा करती। पांच मिनट पहले की बात याद नही रहती; मगर ५० साल पहले के बलवान् संस्कार अखीर तक सतेज थे। इसका कारण क्या ? वह गहने वाली बात उसने कइयो से कही होगी। उस बात का सतत उच्चार होता रहा। अत. वह जीवन से चिपक कर बैठ गई। जीवन के साथ एक-रूप होगई। मैंने मन मे कहा—भगवान करे, दादी को मरते समय उन गहनो की याद न आये तो भर पाये।

जिस बात का हम रात-दिन अभ्यास करते हैं वह हम से क्यों चिपकी न रहेगी ? उस अजामिल की कथा पढकर भ्रम मे न पड जाना। वह ऊपर से पापी था। परन्तु उसके जीवन के भीतर से पुण्य की धारा बह रही थी। वह पुण्य अन्तकाल मे जग उठा। सदा-सर्वदा पाप-करके अन्त में राम-नाम अचूक याद आ जायगा—इस धोखे मे मत रह जाना। बचपन से ही मन लगा कर अभ्यास करो। ऐसी चिन्ता रखो कि हमेशा अच्छे ही सस्कार संगृहीत हो। ऐसा न कहो कि इससे क्या होगा, व उससे क्या होगा ? चार बजे ही क्यो उठे ? सात बजे उठे तो उससे क्या बिगडा ? ऐसा कहने से काम नही चलेगा। यदि मन को बराबर ऐसी छुट्टी—आजादी-देते चले गये तो अखीर मे फस जाओगे। संस्कार अंकित नहीं होने पावेगे। एक-एक कण बीन कर लक्ष्मी—सम्पत्ति जुटाना पडती है। एक-एक क्षण को व्यर्थ न जाने देते हुए विद्यार्जन मे लगाना पडता है। इस बात का ध्यान रक्खो कि प्रत्येक क्षण संस्कार अच्छा हो पड़ रहा है न ? खराब बात कही,तो पड गया उसी समय बुरा सस्कार। हमारी प्रत्येक कृति छीनी बनकर हमारे जीवन-रूपी पत्थर को आकार देती है। दिन अच्छी तरह बीत गया तो भी सपने मे बुरे खयाल आ जाते है। दस-पांच दिन के ही विचार सपने मे आते हो सो बात नही। कितने ही बुरे संस्कार गफलत मे भी पड जाते है। नहीं कह सकते वे कब जग पडेगे। इसलिए छोटी-से-छोटी बातो मे भी सजग रहना चाहिए। डूबते को तिनके का भी सहारा लग जाता है। हम संसार-सागर मे डूब रहे हैं। यदि हम थोडा भी अच्छा बोले तो वह भी हमारे लिए आधार बन जाता है। भला किया व्यर्थ नही जाता। वह अपने को तार देगा। अतः लेश-मात्र भी बुरे संस्कार न होने चाहिए। सर्वदा ऐसा ही उद्योग करो जिससे आंखें पवित्र रहे, कान निन्दा न सुनें, अच्छा बोले। यदि ऐसी दक्षता—सावधानी रखोगे तो आखिरी समय पर हुक्मी पासा पडेगा। हम अपने जीवन-मरण के स्वामी हो रहेंगे।

पवित्र संस्कार डालने के लिए उदात्त विचार मन मे दौड़ते रहने

चाहिए। हाथ पवित्र कर्म करने मे लगे रहे। भीतर से ईश्वर का स्मरण व बाहर से स्वधर्माचरण। हाथो से सेवा-रूपी कर्म, मन मे विकर्म। ऐसा नित्य करते रहना चाहिए। गांधीजी को देखो, रोज चरखा चलाते है। वे रोज कातने पर भी जोर देते है। तो रोज क्यो काते? कपडे के लिए कभी-कभी कात लिया करे तो क्या काम नही चलेगा? परन्तु यह तो हुआ व्यवहार। रोज कातने मे आध्यात्मिकता है। देश के लिए मुझे कुछ न कुछ करना है, इस बात का वह चिन्तन है। वह सूत हमे नित्य दरिद्रनारायण से जोडता है। वह संस्कार दृढ होता है।

डाक्टर ने रोज दवा पीने के लिए कहा, पर हम सारी दवा एक ही रोज क्यो न पी ले? तो वह बेतुकी बात हो जायगी। औषध का उद्देश्य उससे सफल न होगा। रोज-ब-रोज दवा का संस्कार पड कर प्रकृति की विकृति दूर करनी चाहिए। ऐसी ही बात जीवन की भी है। शंकर पर धीरे-धीरे ही अभिषेक करना पडता है। मेरा यह प्रिय दृष्टांत है। बचपन मे मैं नित्य इस क्रिया को देखता था। चौबीस घण्टे मिलाकर बहुत हुआ तो वह पानी दो बाल्टी होता होगा। फिर एक साथ दो बाल्टी शिवजी पर एक दम क्यो न उँडेल दी जाय? इसका उत्तर बचपन मे ही मुझे मिल गया। पानी एकदम उंडेल देने से वह कर्म सफल नहीं हो सकता। एक-एक बूंद-धारा सतत पडना ही उपासना है। समान संस्कारो की सतत धारा लगनी चाहिए। जो संस्कार सुबह, वही दोपहर को, वही शाम को, वही दिन मे, वही रात-मे, वही कल, वही आज, व जो आज वही कल, जो इस साल वही अगले साल, जो इस जन्म मे वही अगले जन्म मे, जो जीवन मे वही मरण में—ऐसी एक-एक सत्संस्कार की दिव्य-धारा सारे जीवन मे सतत बहती रहनी चाहिए। ऐसा प्रवाह अखड चालू रहेगा तो ही हम अन्त मे जीत सकेगे। तभी हम जाकर मुकाम पर अपना झण्डा गाड सकेगे। सस्कारो का प्रवाह एक ही दिशा में बहना चाहिए। नही तो पहाड पर गिरा पानी यदि बारह दिशाओ मे वह निकला तो फिर उससे नदी नही बन सकती।

इसके विपरीत अगर सारा पानी एक ही दिशा में बहेगा तो वह सोते से धारा, धारा से प्रवाह प्रवाह से नदी, नदी से गंगा बनकर ठेठ समुद्र तक जा पहुंचेगी। जो पानी एक ही दिशा मे बहा वह जाकर समुद्र मे मिल गया, परन्तु जो चारो दिशाओ मे बहा वह कही आगे जाकर खतम हो गया। यही बात संस्कारो की है। संस्कार यदि आते गये व जाते गये तो क्या फायदा ? यदि जीवन मे संस्कारो का पवित्र प्रवाह सतत बहता रहा तो ही अन्त में मरण महा-आनन्द का निधान मालूम पडेगा। जो यात्री रास्ते मे ज्यादा न ठहरते हुए, रास्ते के मोह व प्रलोभन से बचते हुए कठिन चढाई कदम जमा-जमा कर चढता हुआ शिखर तक पहुच गया,व ऊपर पहुंचकर दिल का सारा बोझ व बन्धन हटा कर वह वहां की खुली हवा का अनुभव करने लगा उसके आनन्द का क्या अन्दाज दूसरे लोग लगा सकेगे ? पर जो मुसाफिर रास्ते में ही अटक गया, उसके लिए सूर्य कही रुक नही जाता।

सार यह है कि वाहर से सतत स्वधर्माचरण व भीतर से हरि-स्मरण-रूपी चित्त-शुद्धि की क्रिया इस तरह जब ये अन्तर्बाह्य कर्म-विकर्म के प्रवाह काम करेगे तब मरण आनन्द-दायी मालूम होगा। इसीलिए भगवान् कहते है—

"अतः सदा मुझे याद करके जूझते रहो।"

मेरा अखण्ड स्मरण करो, व लडते रहो। "उसी मे रंग रहा सदा।" सदा ईश्वर मे लीन रहो। ईश्वरी प्रेम से जब अन्तर्वाह्य रंग जाओगे तो वह रंग सारे जीवन भर न मिटेगा,तभी पवित्र वातो मे सदैव आनंद मालूम होने लगेगा। तव बुरी वृत्तियाँ सामने आकर खडी ही न रहेगी। सुन्दर,बढ़िया मनोरथो के अंकुर मन मे उगने लगेगे। अच्छे कर्म अपने-आप होने लगेंगे।

यह तो ठीक है कि ईश्वर-स्मरण से अच्छे कर्म सहज भाव से होने लगेंगे; परन्तु भगवान् की यह भी आज्ञा है—सतत लडते रहो। तुका-राम महाराज कहते हैं—

"दिन रात हमे युद्ध की ही धुन।
अन्तर्बाह्य जग और मन॥"

भीतर व बाहर अनंत सृष्टि व्याप्त है। इस सृष्टि से मन का सतत झगडा जारी रहता है। इस झगडे मे हर बार जय ही होगी, यह नहीं कह सकते। जो अन्त को पा लेगा, वही सच्चा विजयी। अन्त में जो फैसला हो वही सही। कई बार यश मिलेगा तो कई बार अपयश। अपयश—असफलता मिली तो निराश होने का कोई कारण नहीं है। पत्थर पर उन्नीस बार चोट लगाने से यदि नही फूटा तो बीसवी बार की चोट से जरूर फूट जायगा। तो फिर क्या वे उन्नीस चोटे फिजूल ही गई? बात सच यह है कि उस बीसवी चोट की सफलता की तैयारी वे उन्नीस चोटे कर रही थी।

निराश होने का अर्थ है नास्तिक होना। विश्वास रखो कि परमेश्वर हमारा रक्षक है। बच्चे की हिम्मत बढाने के लिए माँ उसे इधर-उधर जाने देती है, परन्तु वह उसे गिरने नही देती। जहाँ गिरने लगा कि झट आकर धीरे से सहारा लगा देती है। ईश्वर भी तुम पर सतत निगाह रखता है। तुम्हारे जीवन-रूपी पतंग की डोरी उसके हाथ मे है। कभी वह डोर खीच लेता है, कभी ढीली छोड देता है। परन्तु यह विश्वास रखो कि डोर है उसके हाथ मे। गंगा के घाट पर तैरना सिखाते है। डोरी या सांकल कमर से बाँधकर पानी मे आदमी को छोड देते है। परन्तु सिखाने वाले उस्ताद पानी मे रोज ही रहते है। वह नौसिखिया पहले तो दो-चार बार डूबता-उतराता है, परन्तु अंत मे वह तैरने की कला सीख जाता है। इसी तरह परमेश्वर हमे जीवन की कला सिखा रहा है।

(९)

अत. परमेश्वर पर श्रद्धा रखकर यदि काया-वाचा-मन से दिन-रात लडते रहोगे तो अन्त की घडी अतिशय उत्तम हो जायगी। उस समय सब देवता अनुकूल हो जायँगे। यही बात इस अध्याय के अन्त मे एक

रूपक के द्वारा बताई गई है। इस रूपक को आप लोग समझ लीजिए। जिसके मरण के समय आग जल रही है, सूर्य चमक रहा है, शुक्ल-पक्ष का चन्द्र बढ रहा है, उत्तरायण मे निरभ्र व सुन्दर आकाश फैला हुआ है, वह ब्रह्म मे विलीन होता है। और जिसकी मृत्यु के समय धुआं फैल रहा हो, भीतर-बाहर अँधेरा हो रहा हो, कृष्ण-पक्ष हो व चन्द्रमा क्षीण हो रहा हो, दक्षिणायन मे मलिन व अभ्राच्छादित आकाश फैल रहा हो तो वह फिर से जन्म-मरण के फेरे मे पडेगा।

बहुत-से लोग इस रूपक को पढ़ कर चक्कर मे पड जाते है। यदि यह चाहते हो कि पुण्य मरण हो तो अग्नि, सूर्य, चन्द्र, आकाश इन देवताओ की कृपा रहनी चाहिए। अग्नि कर्म का चिन्ह है, यज्ञ का चिन्ह है। अन्त समय में भी यज्ञ की ज्वाला जलती रहनी चाहिए। न्यायमूर्ति रानडे कहते थे—'सतत कर्त्तव्य का पालन करते हुए यदि मौत आजाय तो वह धन्य है। कुछ न कुछ पढ रहे हैं, लिख रहे है, कोई काम कर रहे है—ऐसी हालत मे मै मरूं तो भरपाया।' 'आग जल रही है' इसका यह अर्थ है। मरण समय मे भी कर्म करते रहें—यह अग्नि की कृपा है। सूर्य की कृपा का अर्थ यह है कि बुद्धि की प्रभा अन्त तक चमकती रहनी चाहिए। चन्द्र की कृपा का मतलब यह है कि मौत के समय पवित्र भावना सतत बढती रहनी चाहिए। चन्द्र मन का–भावना का–देवता है। शुक्ल-पक्ष के चन्द्र की तरह मन के प्रेम, भक्ति, उत्साह, परोपकार, दया इत्यादि शुद्ध भावनाओ का पूर्ण विकास होना चाहिए। आकाश की कृपा से अभिप्राय है कि हृदयाकाश मे आसक्ति-रूपी बादल बिलकुल न रहने चाहिए। एक बार गांधीजी ने कहा—'मै दिन-रात चरखा-चरखा चिल्ला रहा हूँ। क्योकि चरखे को बडी पवित्र वस्तु मानता हूँ। परन्तु अन्त समय मे उसकी भी वासना न रहनी चाहिए। जिसने मुझे चरखे की प्रेरणा की है, वह खुद चरखे की चिन्ता करने मे पूर्ण समर्थ है। चरखा अब दूसरे भले-भले लोगो के हाथो मे चला गया है। चरखे की चिन्ता छोडकर मुझे परमात्मा के दर्शन की तैयारी करनी चाहिए।'

मतलब यह कि उत्तरायण का अर्थ है हृदय मे आसक्ति-रूपी बादल न रहने चाहिए।

आखिरी सांस तक हाथ से कोई-न-कोई सेवा-कार्य हो रहा है, भावना की पूर्णिमा चमक रही है, हृदयाकाश मे जरा भी आसक्ति नही है। बुद्धि सतेज है--इस तरह जिसकी मृत्यु होगी वह परमात्मा मे जा मिलेगा। ऐसा परम मंगल-मय अन्त लाने के लिए रात-दिन साव-धान व दक्ष रहकर लडते रहना चाहिए। एक क्षण के लिए भी मन पर अशुभ संस्कार न पडने दीजिए। और ऐसा बल मिलता रहे, इसके लिए परमात्मा से सतत प्रार्थना करते रहना चाहिए। नाम-स्मरण, तत्त्व-स्मरण पुन.-पुनः करते रहना चाहिए।

नवां अध्याय

रविवार १७-४-३२

(१)

आज मेरे गले मे दर्द है। मुझे सन्देह है कि मेरी आवाज आप तक पहुंच सकेगी या नही ? इस समय साधुचरित बडे माधवराव पेशवा के अन्त समय की बात याद आ रही है। वह महापुरुष मरण-शय्या पर पडा हुआ था। कफ बहुत बढ गया था। कफ का अतिसार मे पर्यवसान किया जा सकता है। अतः माधवराव ने वैद्य से कहा—'कोई ऐसी तजवीज कीजिए जिससे मेरा कफ हट जाय और उसकी जगह अतिसार हो जाय। इससे मुंह खुल जायगा व मै राम-नाम ले सकूंगा।' मैं भी आज परमेश्वर से प्रार्थना कर रहा था। भगवान् ने कहा—'जैसा गला हो वैसा ही बोलता रह। मै जो यहां गीता सुना रहा हूं वह किसीको उपदेश देने के लिए नही। जो उससे लाभ उठाना चाहते है उन्हे अवश्य उससे लाभ होगा। परन्तु मै तो गीता राम-नाम समझ कर सुना रहा हूं। गीता का प्रवचन करते हुए मेरी भावना 'हरि-नाम' की रहती है।

मैं जो यह कह रहा हूं उसका आज के नवे अध्याय से सम्बन्ध है। इस अध्याय मे हरि-नाम की अपूर्व महिमा बताई गई है। यह अध्याय गीता के मध्य-भाग में खडा है। सारे महाभारत के मध्य मे गीता, व गीता के मध्य मे यह नवां अध्याय है। अनेक कारणों से इस अध्याय को पावनता प्राप्त हो गई है। कहते है कि ज्ञानदेव ने जब अन्तिम समाधि ली तो उन्होंने इस अध्याय का जप करते हुए प्राण

छोडा था। इस अध्याय के स्मरण-मात्र से मेरी आंखे छल-छलाने लगती है व दिल भर आता है। व्यासदेव का यह कितना बडा उपकार है। केवल भारतवर्ष पर ही नही, सारी मनुष्य-जाति पर उनका यह उपकार है। जो अपूर्व बात भगवान् ने अर्जुन को बताई वह शब्दो द्वारा प्रकट करने योग्य न थी। परन्तु दयाभाव से प्रेरित होकर व्यास जी ने इसे संस्कृत-भाषा द्वारा प्रकट किया। गुप्त वस्तु को वाणी का रूप दिया। इस अध्याय के शब्दो मे भगवान् कहते है—

"राज-विद्या महागुह्य उत्तमोत्तम पावन।"

यह जो राज-विद्या है, यह जो अपूर्व वस्तु है, वह प्रत्यक्ष अनुभव करने की है। भगवान् उसे—'प्रत्यक्षावगम' कहते है। शब्दो में न समाने वाली परन्तु प्रत्यक्ष अनुभव की कसौटी पर कसी हुई यह बात इस अध्याय मे बताई गई है। इससे यह बहुत मधुर हो गया है। तुलसीदासजी ने कहा है—

को जाने को जैहे जम-पुर को सुर-पुर पर-धाम को,
तुलसिहि बहुत भलो लागत जग जीवन राम-गुलाम को॥

मरने के बाद मिलने वाले स्वर्ग व उसकी कथाओ से यहां क्या काम चलेगा? कौन कह सकता है कि स्वर्ग मे कौन जाता है व यम-पुर को कौन जाता है? यदि ससार मे चार दिन रहना है तो राम का गुलाम बनकर ही रहने मे मुझे आनन्द है। राम का गुलाम होकर रहने का मजा इस अध्याय मे है। प्रत्यक्ष इसी देह मे, इन्ही आंखो से अनुभूत होने वाला फल, जीते-जी अनुभव की जानेवाली बाते इस अध्याय मे बताई गई हैं। जब गुड खाते है तो उसकी मिठास प्रत्यक्ष मालूम होती है। उसी तरह राम का गुलाम होकर रहने का मजा यहा है। ऐसी इस मृत्यु-लोक के जीवन का मजा प्रत्यक्ष दिखाने वाली राज-विद्या इस अध्याय मे कही गई है। वह वैसे गूढ है, परन्तु भगवान् उसे सब के लिए सुलभ व खोल कर रख रहे है।

(२)

गीता जिस धर्म का सार है उसे वैदिक धर्म कहते हैं। वैदिक धर्म का अर्थ है वेदों से निकला हुआ धर्म। इस जगतीतल पर जितने अति प्राचीन लेख हैं उनमे वेद सबसे पहले लेख माने जाते हैं। इसी कारण भावुक लोग उन्हें अनादि मनाते है। इसीसे वेद पूज्यता को प्राप्त हुए और यदि इतिहास की दृष्टि से देखा जाय तो भी वह हमारे समाज की प्राचीन भावनाओ के प्राचीनतम चिन्ह है। ताम्रपट, शिला-लेख, सिक्के, बरतन, प्राणियो के अवशेष—इत्यादि से भी यह लेखी साधन बहुत ही महत्त्व-पूर्ण है। संसार मे पहला ऐतिहासिक प्रमाण अगर कोई है तो वह वेद है। इन वेदो मे जो धर्म बीज-रूप मे था वह वृक्ष होते-होते अन्त मे गीता मे जाकर उसे मीठे फल लगे। फल के सिवा पेड का हम खावे भी क्या? जब वृक्ष में फल लगते है तभी हमारे खाने की चीज उससे हमे मिल सकती है। वेद-धर्म के सार का महासार यह गीता है।

जो वेद-धर्म प्राचीन काल से रूढ था उसमे नाना यज्ञयाग, क्रिया-कलाप, विविध तपश्चर्या, अनेक साधना बतलाई गई। यह जो सारा कर्मकाण्ड है सो निरुपयोगी नही—तो भी उसके लिए अधिकार चाहिए। कर्म-काण्ड सब के लिए सुलभ न था। ऊँचे नारियल पर चढकर फल कौन तोडे, कौन छीले व कौन फोडे? मै चाहे कितना ही भूखा होऊं, पर ऊँचे पेड से नारियल तोड पाऊँ कैसे? मैं नीचे से उसकी ओर देखता हूं, ऊपर से नारियल मुझे देखता है। परन्तु इससे पेट की ज्वाला कैसे बुझेगी? जब तक वह नारियल मेरे हाथ मे न पडे तबतक सब फिजूल। वेदो की इन नाना क्रियाओ मे फिर बडे बारीक विचार रहते थे। जन-साधारण को उनका ज्ञान कैसे हो? एक ओर वेद-मार्ग के सिवा मोक्ष का विधान नही, परन्तु दूसरी ओर वेदो का अधिकार नहीं। तब दूसरो का काम कैसे चले? अतः कृपासागर सन्त लोग आगे बढे और कहा—'आओ, हम इन वेदो का रस निकाल लें। वेदो का

सार थोडे में निकाल कर संसार को दें।' इसीलिए तुकाराम महाराज कहते हैं—

'वेद कहा है अनन्त—अर्थ इतना ही,हे सन्त !'

वह अर्थ क्या है ? तो हरिनाम। हरिनाम वेदो का सार है। राम-नाम से मोक्ष निश्चित। स्त्रियां, बच्चे, शूद्र, वैश्य, गंवार, दीन,दुर्बल,रोगी, पंगु, सबके लिए मोक्ष सुलभ हो गया। वेदो की अलमारी मे बन्द मोक्ष को भगवान् ने चौराहे पर लाकर रख दिया। मोक्ष की यह कितनी सीधी-सादी सरल तरकीब ? जिसका जैसा सीधा-सादा जीवन है,जो कुछ स्वधर्म-कर्म है, सेवाकर्म है, उसीको यज्ञरूप बना दो न ! फिर दूसरे यज्ञ-याग की जरूरत ही क्या है ? तुम्हारा नित्य का जो सेवा-कर्म है उसीको यज्ञ-रूप बना दो, बस। यही मोक्ष का राज-मार्ग है।

यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ॥

इस मार्ग से यदि आंखे मूंदकर दौडते चले जाओ तो भी गिरने या ठोकर खाने का भय नही। दूसरा मार्ग है —'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया'—तलवार की धार की तरह। तलवार की धार एक बार भोठी हो सकती है, परन्तु यह वैदिक-मार्ग उससे भी विकट है। इसकी अपेक्षा राम का गुलाम होकर रहने का मार्ग अधिक सुलभ है। एक इंजीनियर रास्ते की ऊंचाई धीरे-धीरे बढाता हुआ ऊपर ले जाता है और हमको ऊंचे शिखर पर ला बिठाता है। हमको सहसा पता भी नही लगता कि इतने ऊंचे चढ रहे है। इंजीनियर की इस खूबी की तरह ही इस राज-मार्ग की खूबी है। मनुष्य जिस जगह कर्म करते हुए खडा है वही, उस सादे कर्म से ही, इस मार्ग के द्वारा वह परमात्मा को प्राप्त कर सकता है।

परमेश्वर क्या कहीं छिपकर बैठा है ? किसी खोह मे, किसी गली मे, किसी नदी मे, या किसी स्वर्ग मे वह लुककर बैठ गया है ? लाल-नीलम, चांदी-सोना पृथ्वी के पेट मे छिपा रहता है। मोती-मूंगा

रत्नाकर समुद्र में छिपे रहते है। उसी तरह क्या यह परमेश्वर-रूपी 'लाल रतन' भी कहीं छिपा हुआ है ? भगवान् को कहीं से खोदकर थोडे ही बाहर निकालना है ? वह तो हमेशा हम सबके सामने और सर्वत्र खडा ही है। ये जितने लोग है सब परमात्मा की ही तो मूर्तियां है। भगवान् कहते है—"इस मानव-रूप मे प्रकटित हरि-मूर्ति का अपमान मत करो।" ईश्वर ही सब चराचर-रूप में प्रकट हो रहा है। उसको खोजने के लिए कृत्रिम उपायो की क्या जरूरत ? उपाय तो सीधा सरल है। तुम जो कुछ सेवा-कार्य करो उन सब का सम्बन्ध भगवान् से जोड दो, बस काम बन गया। तुम राम के गुलाम हो जाओ। यह कठिन वेद-मार्ग, यह यज्ञ, ये स्वाहा, ये स्वधा, ये श्राद्ध, यह तर्पण सब हमें मोक्ष की ओर ले जायंगे। परन्तु इसमे अधिकारी और अनधिकारी के भेद का टंटा जबरदस्त है। हमे उसकी जरूरत नही। सिर्फ इतना ही करो कि जो कुछ करते हो वह ईश्वर के अर्पण कर दो। अपनी प्रत्येक कृति का सम्बन्ध ईश्वर से जोड दो। इस नवें अध्याय की यही शिक्षा है। इसलिए वह भक्तो को बहुत प्रिय है।

कृष्ण के सारे जीवन मे उसका बचपन बहुत ही मधुर है। बालकृष्ण की ही विशेष उपासना की जाती हैं। वह ग्वाल-बालो के साथ गायें चराने जाता, उनके साथ खाता-पीता और हँसता-बोलता। इन्द्र की पूजा करने के लिए जब ग्वाल-बाल निकले तो उसने उनसे कहा—'इन्द्र को किसने देखा है ? उसने हम पर उपकार भी ऐसा क्या किया है ? लेकिन यह गोवर्धन पर्वत हमे प्रत्यक्ष दिखाई देता है। यहां गाये चरती हैं। इसमे पानी के सोते निकलते है। अत· तुम इसीकी पूजा करो।" ऐसी बातें वह उन्हें सिखाया करता। जिन गोपालको मे खेला, जिन गोपियों से हँसा-बोला, जिन गाय-बछडों के साथ रहा उन सबके लिए उस ने मोक्ष का द्वार खुला कर दिया। कृष्ण परमात्मा ने अपने अनुभव से यह सरल मार्ग बतलाया है। बचपन में उसका काम गाय-बछडो से पडा। बडे होने पर घोडों से। मुरली की ध्वनि सुनते ही गायें तन्मय व गद्गद्

हो जातीं और कृष्ण के हाथ फेरते ही घोडे फुरफुराने लगते। वे गाय-बछडे और वे रथ के घोडे कृष्णमय हो जाते थे। पाप-योनि माने गये उन पशुओं को भी मानो मोक्ष मिल जाता था। मोक्ष पर केवल मनुष्य का ही अधिकार नही, बल्कि पशु-पक्षी का भी है—यह बात श्रीकृष्ण ने साफ कर दी है। अपने जीवन मे उन्होने इस बात का अनुभव किया था।

जो अनुभव भगवान् को हुआ वही व्यास जी को भी। कृष्ण और व्यास दोनो एक रूप ही है। दोनो के जीवन का सार भी एक ही। मोक्ष न विद्वत्ता पर अवलम्बित है न कर्म करने पर। उसके लिए तो सीधी-सादी भक्ति ही काफी है। मै-मै कहने वाले ज्ञानी पीछे ही रखे रहे व भोली-भावुक स्त्रियां उनसे आगे बढ गई हैं। यदि मन पवित्र हो और सीधा-भोला पवित्र भाव हो तो फिर मोक्ष कठिन नही है। महाभारत मे 'जनक-सुलभा-संवाद' नामक एक प्रकरण है। उसमे व्यास ने एक प्रसंग की रचना की है जिसमे जनक राजा ज्ञान-प्राप्ति के लिए एक स्त्री के पास गये। आप लोग भले ही बहस करते रहे कि स्त्रियो को वेदो का अधिकार है या नही ? परन्तु सुलभा तो यहां प्रत्यक्ष जनकराज को ब्रह्म-विद्या सिखा रही है। वह थी एक मामूली स्त्री। किन्तु जनक कितना बडा सम्राट्! कितनी विद्याओं से सम्पन्न। पर उस महाज्ञानी जनक को भी मोक्ष नहीं मिल रहा था। इसलिए व्यासदेव ने उसे सुलभा के चरणो मे गिरने के लिए भेजा है। ऐसी ही बात उस तुलाधार वैश्य की है। जाजलि ब्राह्मण उसके पास ज्ञान पाने के लिए जाता है। तुलाधार कहता है "तराजू की डंडी सीधी रखने मे ही मेरा सारा ज्ञान समाया हुआ है।" वैसी ही कथा व्याध की है। व्याध था कसाई। पशुओ को मारकर वह समाज की सेवा करता था। एक अहकारी ब्राह्मण को उसके गुरु ने उस व्याध के पास जाने के लिए कहा। ब्राह्मण को आश्चर्य हुआ कि यह कसाई मुझे क्या सिखायेगा ? लेकिन वह व्याध के यहा गया। व्याध क्या कर रहा था ? मांस काट रहा था, धो रहा था। और साफ करके उसे बिक्री के लिए

जमा कर रहा था। उसने ब्राह्मण से कहा "देखो, मेरा यह कर्म जितना धर्म-मय किया जा सकता है उतना मैं करता हूं। अपनी आत्मा जितनी इस कर्म मे उंडेली जा सकती है उतनी उंडेल कर मै यह कर्म करता हूं और अपने मां-बाप की सेवा करता हूं।"

महाभारत में यह जो स्त्रियां, वैश्य, शूद्र आदि की कथाएं आई है, उनका उद्देश्य यह है कि सब को यह साफ-साफ दीख जाय कि मोक्ष का द्वार सब के लिए खुला हुआ है। उन कथाओ का तत्व इस नवे अध्याय मे बतलाया गया है। उन कथाओ पर इस अध्याय मे मुहर लगाई गई है। राम का गुलाम होकर रहने मे जो मजा है वही इस व्याध के जीवन मे है। सन्त तुकाराम अहिंसक थे, परन्तु उन्होने बडे अभिमान के साथ यह वर्णन किया है कि सजना कसाई ने कसाई का काम करके भी मोक्ष प्राप्त कर लिया। तुकाराम ने पूछा है—भगवन्, पशुओ का वध करने वालो की क्या गति होगी? 'सजना कसाई बेचता है मांस' यह चरण कहकर उन्होने कहा है कि भगवान सजना कसाई की मदद करते हैं। नरसी मेहता की हुण्डी सिकारने वाला, एकनाथ के यहां कांवर भरके लाने वाला, दामाजी के लिए महार होने वाला, महाराष्ट्र की प्रिय जनाबाई को कूटने-पीसने में मदद करने वाला भगवान् सजना कसाई की भी उतने ही प्रेम से मदद करता था, ऐसा तुकाराम कहते है। सारांश यह कि अपने सब कृत्यो का सम्बन्ध परमेश्वर से जोड़ना चाहिए। कर्म यदि शुद्ध भावना से पूर्ण और सेवा-मय हो तो वह यज्ञ-रूप ही है।

नवे अध्याय मे यही विशेष बात कही गई है। इसमे कर्म-योग और भक्ति-योग का मधुर मिलाप है। कर्म-योग का अर्थ है कर्म तो करना, परन्तु फल का त्याग कर देना। कर्म ऐसी खूबी से करो कि फल की वासना का पता न लगे। यह अखरोट के पेड लगाने जैसा है। अखरोट के वृक्ष में २५ वर्ष मे जाकर फल लगते है। एक व्यक्ति को अपने जीवन मे शायद ही उसके फल चखने को मिलें। फिर

भी पेड लगाते है। और उसे बहुत प्रेम से पानी पिलाते है।
कर्म-योग का अर्थ पेड लगाना परन्तु फल की इच्छा न रखना।
और भक्ति-योग किसे कहते है? भाव-पूर्वक ईश्वर के साथ जुड जाने
का अर्थ है भक्ति-योग। राज-योग मे कर्म-योग और भक्ति-योग दोनो
एकत्रित हो जाते है। राज-योग की कई लोगो ने कई व्याख्याएं की
हैं। परन्तु उसकी मेरी बनाई व्याख्या है सक्षेप मे कर्म-योग व भक्ति-
योग का मधुर मिश्रण।

हम कर्म तो करे परन्तु फल छोडे नही, बल्कि उसे परमात्मा के
अर्पण कर दे। जब यह कहते है कि फल छोड दो तो उसका अर्थ हो
जाता है फल का निषेध, किन्तु अर्पण मे ऐसा नही होता। कितनी
सुन्दर व्यवस्था है यह! बहुत स्वाद है इसमे। फल छोडने का यह अर्थ
नही कि फल कोई भी ग्रहण न करे, किसी को भी वह मिलेगा नही।
तो वह फल अवश्य पहुंचेगा और कोई-न-कोई उसे अवश्य ग्रहण करेगा।
तब फिर यह तर्क खडा हो सकता है कि जो इस फल को पायेगा वह
उसका अधिकारी भी है या नही! कोई भिखारी घर आ जाता है तो
हम कहते है—"आया निकम्मा कही का। शरम नही आती भीख
मागते। दूसरा घर देखो।" हम इस बात का विचार करते है कि उसका
भीख मांगना उचित था या नही? भिखारी बेचारा शर्मिन्दा हो जाता
है। हमारे नजदीक उसके लिए सहानुभूति का पूर्ण अभाव हो जाता है।
तो हम यह कैसे ठहरायेगे कि उसे भीख मांगने का अधिकार है या नही?
मैने बचपन मे एक बार अपनी मां से भिखारियो के बारे मे सवाल किया
था, तो उसने जो उत्तर दिया वह अभी तक मेरे कानो मे गूंज रहा है।
मैंने उससे पूछा—"यह भिखारी तो हट्टा कट्टा है। इसको भिक्षा देने से
इसका व्यसन और आलस्य ही तो बढेगा।" गीता का "देशे काले च
पात्रे च" यह श्लोक भी मैंने उसे सुनाया। उसने जवाब दिया—"अरे
वह भिखारी नही परमेश्वर था। अब करो पात्रापात्रता का विचार।
भगवान् को क्या अपात्र कहोगे? पात्रापात्रता के विचार करने का तुम्हे

च मुझे क्या अधिकार है ? ज्यादा विचार करने की जरूरत ही नहीं मालूम हुई। मेरे लिए वह भगवान् ही है।" मां के इस जवाब का कोई माकूल जवाब मुझे अभी तक नहीं सूझ रहा है। दूसरों को भोजन कराते समय मै उसकी पात्रापात्रता का विचार करता हूं। परन्तु अपने पेट में रोटी डालते समय मुझे यह खयाल तक नहीं होता कि मुझे भी इसका कोई अधिकार है या नहीं ? जो हमारे दरवाजे आ जाता है उसे अभद्र भिखारी ही क्यो समझा जाय ? जिसे हम देते है वह उसका अधिकारी ही है—ऐसा हमें समझ लेना चाहिए। राजयोग कहता है–"तुम्हारे कर्म का फल किसी-न-किसी को तो मिलेगा ही न ? तो उसे भगवान् को ही दे डालो। उसीके अर्पण कर दो।" राजयोग अपने अर्पण का उचित स्थान तुम्हें बता देता है। न तो यहाँ फल-त्यागरूपी निषेधात्मक कर्म ही है और न पात्रापात्रता का प्रश्न ही रहता है, क्योकि सब कुछ भगवान् के ही अर्पण करना है। भगवान् को जो दान दिया गया है वह सर्वदा शुद्ध ही है। तुम्हारे कर्म मे यदि दोष भी रहा हो तो उसके हाथों मे पडते ही वह पवित्र हो जायगा। हम दोष दूर करने का कितना ही उपाय करे तो भी दोष बाकी रह जाता है। अतः जितना शुद्ध होकर हम कर सके उतना करना चाहिए। बुद्धि ईश्वर की देन है। उसको जितना शुद्ध-रूप मे हो सके काम मे लेना हमारा कर्त्तव्य ही है। ऐसा न करना अपराध होगा।

फल का विनियोग करने मे चित्त-शुद्धि से काम लेना चाहिए। जो काम जैसा हो जाय वैसा ही उसे भगवान् के अर्पण कर दो। प्रत्यच क्रिया जैसे-जैसे होती जाय वैसे-ही-वैसे उसे भगवान् के अर्पण करके मन-तुष्टि प्राप्त करते रहना चाहिए। फल को छोडना नही है, उसे भगवान् के अर्पण कर देना है। यदि कर्म इस कामना से किया जाय कि इनका फल मुझे भगवान् के अर्पण करना है तो भी यह कहना कठिन है कि वह संयमपूर्वक ही होगा। इसलिए यह अच्छा है कि हम अपने मन के काम-क्रोधादि भी परमेश्वर के अर्पण कर दे और छुट्टी पावें।

"काम-क्रोध मेरे अर्पण प्रभू के ।"

इसमें न तो संयमाग्नि मे जलना है न झुलसना। अर्पण किया और तमाम झंझटो से छूटे। न कोई खटखट न झंझट।

"जो गुड दीन्हे ते मरे माहुर काहे देय ।"

इन्द्रियां भी तो आखिर साधन ही है। उन्हे भी ईश्वरार्पण कर दो। कहते है—कान हमारी नही सुनते। तो फिर क्या सुनना ही बन्द कर दे? नही, सुनो जरूर; पर हरि-कथा सुनो। न सुनना बडा कठिन है। परन्तु हरि-कथा-रूपी श्रवण का विषय देकर कान का उपयोग करना अधिक रुचिकर व हितकर है। अपने कान तुम राम को दे दो। मुख से राम-नाम लेते रहो। इन्द्रियां हमारी शत्रु नही है। वे है भी अच्छी। उनके सामर्थ्य का ठिकाना नही। अतः ईश्वरार्पण-बुद्धि से प्रत्येक इन्द्रिय से काम लेना—यही राज-मार्ग है। इसीको राजयोग कहते है। यह बात नही कि हम कोई खास क्रिया ही भगवान् के अर्पण करे। कर्म-मात्र उसे सौप दो। शवरी के उन बेरो की तरह। राम ने उन्हे कितने स्वाद से चखा! परमेश्वर की पूजा करने के लिए गुफा मे जाकर बैठने की जरूरत नही है। तुम जहां जो भी कर्म करो वह परमेश्वर के अर्पण करो। मा बच्चे को संभालती है—मानो भगवान् को ही सँभालती हो न? बच्चे को नहलाती क्या हैं, परमेश्वर पर रुद्राभिषेक ही करती है। बालक परमेश्वरी कृपा की देन है। ऐसा मानकर माँ को चाहिए कि वह परमेश्वर-भावना से बच्चे का लालन-पालन करे। कौशल्या राम की व यशोदा कृष्ण की चिन्ता कितने दुलार से करती थी। उसका वर्णन करते हुए शुक, वाल्मीकि, तुलसीदास ने अपनेको धन्य माना। उस क्रिया मे उन्हे अपार कौतुक मालूम होता है। माता की वह सेवा-संगोपन-क्रिया महान् उच्च है। वह बालक, परमेश्वर की वह मूर्ति, उस मूर्ति की सेवा से बढ़कर सद्भाग्य क्या हो सकता है? यदि हम एक-दूसरे की सेवा करते समय ऐसी ही भावना को स्थान दें तो हमारे कर्मों मे कितना परिवर्तन हो जाय? जिसको जो सेवा मिल

गई, वह ईश्वर की ही सेवा है। ऐसी भावना करते रहना चाहिए।

किसान बैल की सेवा करता है। उस बैल को क्या तुच्छ समझना चाहिए? नही, वेदो मे वामदेव ने शक्ति-रूप से विश्व मे व्याप्त जिस बैल का वर्णन किया है वही उस किसान के बैल मे भी मौजूद है—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्ता सो अस्य
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्या आविवेश।

जिसके चार सींग है, तीन पैर है, दो सिर है, सात हाथ है, जो तीन जगह बंधा हुआ है, जो महान् तेजस्वी होकर सब मर्त्य वस्तुओं में व्याप्त है उसी गर्जना करनेवाले विश्व-व्यापी बैल की पूजा किसान करता है। टीकाकारो ने इस एक ही ऋचा के पांच-सात भिन्न-भिन्न अर्थ दिये है। यह बैल है भी विचित्र! आकाश मे गर्जना करके जो बैल पानी बरसाता है वही मल-मूत्र की वृष्टि करके खेत मे फसल पैदा करनेवाले इस किसान के बैल मे मौजूद है। यदि किसान इस उच्च भावना से अपने बैलो की सेवा-चाकरी करेगा तो उसकी यह मामूली सेवा भी ईश्वर के अर्पण हो जायगी।

इसी तरह हमारे घर की गृह-लक्ष्मी जो चौका लगाकर रसोई-घर को साफ-सुथरा रखती है, चूल्हा जलाती है, स्वच्छ और सात्विक भोजन बनाती है और यह इच्छा रखती है कि यह रसोई मेरे घर के सब लोगो को पुष्टि-तुष्टि-दायक हो तो उसका यह सारा कर्म यज्ञ-रूप ही है। चूल्हा क्या, मानो उस माता ने एक छोटा-सा यज्ञ ही आरम्भ किया है। परमेश्वर को तृप्त करने की भावना मन में रखकर जो भोजन तैयार किया जायगा वह कितना स्वच्छ और पवित्र होगा जरा इसकी कल्पना कीजिए। यदि उस गृह-लक्ष्मी के मन मे ऐसी उच्च भावना हो तो उसे फिर भागवत् की ऋषि-पत्नियों की ही समतौल रखना होगा। ऐसी कितनी ही माताएं सेवा करके तर गई होंगी और "मैं-मैं" करने

वाले पंडित और ज्ञानी कोने मे ही पड़ रहे होगे।

(६)

हमारा दैनिक जीवन, क्षण-क्षण का जीवन मामूली दिखाई देता हो तो भी वह वास्तव मे वैसा नहीं होता। वह महान् अर्थ रखता है। सारा जीवन एक महान् यज्ञ-कर्म ही है। तुम्हारी निद्रा क्या, एक समाधि है। सब प्रकार के भोगो को यदि हम ईश्वरार्पण करके निद्रा लेंगे तो वह समाधि नही तो क्या होगी ? हम लोगो मे स्नान करते समय पुरुष सूक्त के पाठ करने की रूढी चली आ रही है। अब सोचो कि इस स्नान की क्रिया से इस पुरुष-सूक्त का क्या सम्बन्ध है ? देखना चाहोगे तो जरूर दीखेगा। जिस विराट पुरुष के हजार हाथ और हजार आंखें हैं, उसका मेरे इस स्नान से क्या सम्बन्ध ? सम्बन्ध यह कि तुम जो लोटा भर जल सिर पर डालते हो, उसमे हजारो बूंदे है, वे बूंदें तुम्हारा मस्तक धो रही है—तुम्हें निष्पाप बना रही हैं। मानो तुम्हारे मस्तक पर ईश्वर का आशीर्वाद बरस रहा है। परमेश्वर के सहस्र हाथों से सहस्र-धारा ही मानो तुम पर बरस रही हैं। इन बूंदो के रूप मे मानो परमेश्वर ही तुम्हारे सिर के अन्दर का मैल धो रहे हैं। ऐसी दिव्य भावना उस स्नान मे डालो, तब वह स्नान कुछ और ही हो जायगा, उस स्नान मे अनन्त शक्ति आ जायगी।

कोई भी कर्म जब इस भावना से किया जाता है कि वह परमेश्वर का है तो मामूली होने पर भी पवित्र हो जाता है। यह बात अनुभव-सिद्ध है। मन मे जरा यह भावना करके देखो तो कि जो व्यक्ति हमारे घर आया है वह ईश्वर-रूप है। कोई मामूली बडा आदमी भी जब हमारे घर आता है तो हम कितनी सफाई रखते है; और कैसा बढिया भोजन बनाते हैं। फिर यदि यह भावना करे कि वह

भला बताओ, हमारी उस भावना मे कितना फर्क पड

कपडे बुनता था। उसीमें निमग्न होकर वह गाताः-

"झीनी झीनी बीनी चदरिया।"

यह गाता हुआ झूमता जाता। मानो परमेश्वर को ओढाने के लिए वह चादर बुन रहा हो। ऋग्वेद का ऋषि कहता है—

"वस्त्रेव भद्रा सुकृता सुपाणी"

मै अपना यह स्तोत्र सुन्दर हाथो से बुने हुए वस्त्र की तरह ईश्वर को ग्रहण कराता हूँ। कवि स्तोत्र बनाता है ईश्वर के लिए। बुनकर जो वस्त्र बनाता है सो भी इश्वर के लिए ही। कैसी हृदयंगम कल्पना! कितना चित्त को विशुद्ध बनानेवाला और हृदय को हिलोर देनेवाला विचार!! यह भावना यदि जीवन मे एक बार आ जाय तो फिर जीवन कितना निर्मल हो जायगा! अन्धेरे मे जब बिजली आती है तो वह अन्धेरा एक क्षण मे प्रकाश बन जाता है। वह अंधकार क्या धीरे-धीरे प्रकाश बनता है? नही, एक क्षण मे ही सारा भीतर-बाहर परिवर्तन हो जाता है। उसी तरह प्रत्येक क्रिया को ईश्वर से जोड देते ही जीवन में एकदम अद्भुत शक्ति आती है। प्रत्येक क्रिया विशुद्ध होने लगेगी। जीवन मे उत्साह है कहां? आज हम जी रहे है, क्योंकि मरते नही। उत्साह का चारो ओर अकाल पडा हुआ है। न-कुछ, कला-सौन्दर्य-हीन जीवन हो रहा है। परन्तु जरा यह भाव मन मे लाओ कि हमे अपनी सब क्रियाएँ—सब व्यापार ईश्वर के साथ जोडने है; फिर देखोगे कि तुम्हारा जीवन कितना रमणीय और नमनीय हो जायगा।

परमेश्वर के एक नाम-मात्र से एक-बारगी परिवर्तन हो जाता है—इसमे सन्देह करने की जरूरत नही। यह मत कहो कि राम कहने से क्या होता है! जरा कहकर तो देखो। कल्पना करो कि सन्ध्या समय किसान काम करके घर आ रहे है। रास्ते में कोई मुसाफिर मिल जाता है। एक किसान उससे कहता है:—

'भाई यात्री, ओ नारायण, जरा ठहरो। अब रात होने आई। भगवन्, मेरे घर चलो।' उस किसान के मुंह से ऐसे शब्द निकलने तो दो, और फिर देखो, उस यात्री का रूप बदलता है या नही। वह यात्री यदि डाकू और लुटेरा होगा तो भी पवित्र हो जायगा। यह

फर्क भावना के कारण होता है। भावना मे ही सब-कुछ भरा हुआ है। जीवन भावना-मय है। एक बीस साल का पराया लड़का हमारे घर आता है, पिता उसको अपनी कन्या देता है। वह लडका तो २० साल का है परन्त ५० साल का वह लडकी का पिता उसके पैर छूता है। यह क्या बात हुई? कन्या-अर्पण करने का वह कार्य ही कितना पवित्र है। वह जिसे दी जाती है वह परमेश्वर ही मालूम होता है। यह जो भावना दामाद के प्रति रखी जाती है उसी को और ऊपर ले जाओ, और आगे बढाओ।

कोई कहेगे कि आखिर ऐसी झूठी कल्पना करने से लाभ क्या? मैं कहता हूं कि पहले से ही उसे झूठा मत कहो। पहले अभ्यास करो, अनुभव लो, तब तुम्हे सच-झूठ सब मालूम हो जायगा। उस कन्या-दान मे कोरी शाब्दिक नही किन्तु यह सच्ची भावना करो कि वह जमाई सचमुच ही परमात्मा है तो फिर देखलोगे कि कितना फर्क पड जाता है। इस पवित्र भावना के प्रभाव से वस्तु के पूर्व-रूप और उत्तर-रूप मे जमीन-आसमान का अन्तर पड जायगा। कुपात्र सुपात्र हो जायगा। जो दुष्ट है वह सुष्ट हो जायगा। वाल्मीकि का काया-पलट इसी तरह हुआ न? वीणा पर उंगलियां नाच रही है, मुख से नारायण नाम का जप चल रहा है, और कोई मारने के लिए दौड़ता है तब भी शाति मे बाधा नही होती, उल्टे उनकी ओर प्रेमपूर्ण दृष्टि ही बनी रहती है—ऐसा दृश्य वाल्मीकि ने इससे पहले कभी नही देखा था। उसने उस क्षण तक दो ही प्रकार के प्राणी देखे थे। एक तो उसकी तीर कमठी देखकर भाग जाने वाले, या उलट कर उस पर हमला करने वाले। परन्तु नारद उसे देखकर न तो भागे, न हमला ही किया, बल्कि शान्त भाव से खडे रहे। उसका तीर-कमान रुक गया। नारद की न भौं हिली, न आंखें मुंदी—मधुर भजन ज्यों-का-त्यों जारी था। नारद ने वाल्मीकि से पूछा—"तुम्हारा तीर क्यो रुक गया?" वाल्मीकि ने कहा—"आपके शान्त भाव को देखकर।" नारद ने

वाल्मीकि का रूपान्तर कर दिया। क्या यह रूपान्तर झूठ था ?

सचमुच संसार में कोई दुष्ट है भी या नहीं, इसका निर्णय आखिर कौन करे ? सचमुच-ही कोई दुष्ट सामने आ जाय तो ऐसी भावना करो कि यह परमात्मा है। वह दुष्ट होगा भी तो सन्त हो जायगा। तो क्या झूठ मूठ यह भावना करें ? मै कहता हूँ, किसको पता है कि वह सचमुच दुष्ट ही है। बाज लोग कहते हैं कि सज्जन लोग खुद अच्छे होते है, इसलिए उन्हें सब कुछ अच्छा दिखाई पडता है परन्तु वास्तव मे ऐसा नहीं होता, तो फिर जो कुछ तुमको दिखाई देता हैं वह भी सच कैसे ? सृष्टि के सम्यक् ज्ञान होने का साधन क्या अकेले दुष्टो के ही पास है ? यह क्यो न कहा जाय कि सृष्टि तो अच्छी है। तुम दुष्ट हो इसलिए वह तुम्हे दुष्ट दिखाई देती है। देखो, सृष्टि क्या है, एक आईना है। तुम जैसे होओगे वैसे ही सामने की सृष्टि में तुम्हारा प्रतिबिम्ब दिखाई देगा। जैसी हमारी दृष्टि है वैसा ही सृष्टि का रूप है। इसलिए ऐसी कल्पना करो कि यह सृष्टि अच्छी है, पवित्र है। अपने मामूली व्यापार मे भी ऐसी भावना का संचार करो। फिर देखो कि क्या चमत्कार होता है। भगवान् यही बात समझा देना चाहते हैं—

जो-जो खाओ करो होमो तथा जो तप आचरो।
दोगे जो दान इत्यादि करो सो मम अर्पण।

तुम जो-जो कुछ करो सब भगवान् के अर्पण कर दो।

मेरी मां बचपन मे एक कहानी सुनाया करती थी। बात यो हंसी की है; परन्तु उसका रहस्य बहुत मूल्यवान है। एक स्त्री थी। उसका यह निश्चय था कि जो कुछ करे सब कृष्णार्पण कर दे। वह करती क्या कि लीपने के बाद बची हुई गोबर-मट्टी का गोला बना कर बाहर फेंकती और कह देती—'कृष्णार्पणमस्तु'। होता क्या कि वह गोबर का गोला वहां से उठता और मन्दिर मे भगवान् की मूर्ति के मुंह पर जाकर चिपक जाता। पुजारी बेचारा मूर्ति को धो-धो कर थक गया,

पर कुछ उपाय नहीं चलता था। अन्त को मालूम हुआ कि यह करामात उस स्त्री की थी। अब तो जब तक वह स्त्री जीवित है तब तक मूर्ति कभी साफ रह ही नही सकती। एक दिन वह स्त्री बीमार हो गई। मरण की अन्तिम घडी नजदीक आगई। उसने मरण को भी कृष्णार्पण कर दिया। उसी समय मन्दिर की मूर्ति के टुकडे-टुकडे हो गये। मूर्ति टूट कर गिर पडी। ऊपर से विमान आया स्त्री को लेने के लिए। उसने विमान को भी कृष्णार्पण कर दिया। विमान जाकर मन्दिर से टकराया और टुकडे-टुकडे हो गया। स्वर्ग श्रीकृष्ण के ध्यान के सामने तुच्छ है।

मतलब यह कि जो कुछ भला-बुरा कर्म हमसे हो सबको ईश्वरार्पण कर देने से उनमें कुछ अद्भुत सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है। ज्वार का दाना यो भद्दी शकल का—कुछ पीलापन और लाली लिये हुए होता है। पर उसी को भूनने से कितनी बढिया फूली बन जाती है। साफ सफेद, अठपहलू, व्यवस्थित व शानदार उस फूली को उस दाने के पास रखकर देखो, कितना फरक है? मगर वह फूली है उस दाने की ही। यह फरक महज एक आग के कारण होगया। इसी तरह उस सख्त दाने को चक्की मे डाल कर पीसो तो उसका मुलायम आटा बन जाएगा। आग के सपर्क से फूली बन गई, चक्की मे डालने से मुलायम आटा बन गया। इसी तरह हमारी किसी छोटी-सी क्रिया पर भी हरिस्मरण-रूपी संस्कार करने से वह अपूर्व हो जायगी। भावना से उसका मोल बढ जाता है। वह गुडेल का मामूली-सा फूल, बेल की पत्तियां, तुलसी की मंजरी और दूब के तिनके, किन्तु इन्हे तुच्छ मत मानो—

'तुका कहे स्वाद पाया—राम-मिश्रित जो होगया'

प्रत्येक बात मे भगवान् को मिलादो और फिर अनुभव करो। तुम देखोगे कि इस राम-रूपी मसाले के बराबर दूसरा कोई मसाला नही। इस दिव्य मसाले से बढकर तुम दूसरा कौन-सा मसाला लाओगे?

यही ईश्वर-रूपी मसाला अपनी प्रत्येक क्रिया में मिला दो, फिर सब-कुछ सुन्दर और रुचिकर हो जायगा।

रात को आठ बजे जब मन्दिर मे आरती हो रही हो, धूप की सुगन्ध फैल रही हो, आरती उतारी जा रही हो, ऐसे समय सचमुच यह भावना होती है कि हम परमात्मा को देख रहे है। भक्त कहने लगते है—भगवान् दिन भर जागे, अब उनके सोने का समय हुआ। भक्त गाते है—

'सुख निदिया अब सोओ गोविंदा।'

पर शंकाशील पूछता है—"चलो, भगवान् कहीं यो सोता है"?

अरे, भगवान् क्या नही करता? भले आदमी, अगर भगवान् सोता नहीं, जागता नहीं, तो क्या यह पत्थर सोयेगा, जागेगा? भाई, भगवान् ही सोता है, भगवान् ही जागता है, और भगवान् ही खाता-पीता है। तुलसीदास जी प्रातःकाल के समय भगवान् को उठाते है। प्रार्थना कर के उन्हे जगाते हैं—

'जागिये रघुनाथ कुंवर पंछी बन बोले।'

अपने भाई-बहिनो को, स्त्री-पुरुषो को रामचन्द्र की मूर्ति मान कर वे कहते है—"मेरे रामचन्द्रो अब उठो।' कितना सुन्दर विचार है! नही तो किसी बोर्डिंग को लो। वहां लडको को चिल्लाकर उठाते है—"अरे, उठते हो कि नही?" प्रातःकाल की मंगल-वेला! उसमे कहीं कठोर वाणी अच्छी लगती है? विश्वामित्र के आश्रम मे रामचन्द्र सो रहे है। विश्वामित्र उन्हे उठा रहे हैं। वाल्मीकि-रामायण मे उसका इस प्रकार वर्णन है—

"रामेति मधुरा वाणी विश्वामित्रोऽभ्यभाषत।
उत्तिष्ठ नरशार्दूल पूर्वा सन्ध्या प्रवर्तते॥

'बेटा राम, उठो अब!" इस प्रकार मधुर स्वर से विश्वामित्र उन्हे उठा रहे हैं। कितना मधुर है यह कर्म। और बोर्डिंग का वह चिल्लाना कितना कर्कश है! बेचारे सोये हुए लड़के को ऐसा मालूम

होता है मानो कोई सात जन्म का वैरी ही जगाने आया है। पहले धीरे-धीरे पुकारो, फिर कुछ जोर से पुकारो। परन्तु कर्कशता, कठोरता बिलकुल न होनी चाहिए। यदि न जगे तो फिर दस मिनट के बाद जाओ। आशा रखो कि आज नहीं तो कल उठेगा। उसके उठाने के लिए मीठे-मीठे गाने, प्रभाती, स्तोत्र आदि सुनाओ। जगाने की क्रिया बहुत मामूली है, परन्तु हम उसे कितना काव्यमय, सरल और सुन्दर बना सकते है। मानो भगवान् को ही उठाते हैं। परमेश्वर की मूर्ति को ही धीरे से जगाते है, नीद से कैसे जगाना यह भी एक कला है। अपने सब व्यवहारो मे इस कल्पना का प्रवेश करो। शिक्षण-शास्त्र मे तो इस कल्पना की बहुत ही जरूरत है। लडके क्या है, प्रभु की मूर्तियां हैं। गुरु की यह भावना होनी चाहिए कि मैं इन सजीव 'देवताओं की ही सेवा कर रहा हूं। तब वह लडको को ऐसे नही झिडकेगा—"चले जाओ अपने घर! खडे रहो घंटे भर। हाथ लम्बा करो! कैसे मैले कपडे हैं? नाक-हाथ कितने गन्दे है!" बल्कि हलके हाथ से नाक साफ कर देगा, मैले कपडे धो देगा और फटे कपडो को सी देगा। यदि शिक्षक ऐसा करे तो इसका कितना अच्छा परिणाम होगा! मार-पीट कर कही ऐसा नतीजा निकल सकता है? लडको को भी चाहिए कि वे इसी दिव्य भावना से गुरु को देखे। यदि गुरु यह समझे कि शिष्य हरि-मूर्ति है और लडके भी गुरु को हरि-मूर्ति ही माने—ऐसी भावना परस्पर रखकर व्यवहार करे तो विद्या कितनी तेजस्वी हो जायगी! लडके भी भगवान् और गुरु भी भगवान्! यदि लडको का यह ख्याल हो गया कि यह गुरु नही भगवान् शकर की मूर्ति है और हम उनसे बोधामृत पान कर रहे है, उनकी सेवा करके ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं; तो फिर बतलाओ, लडके उनके साथ कैसा व्यवहार करेगे?

तब हम परस्पर कैसा व्यवहार करें—यह नीति-शास्त्र हमारे अन्तःकरण मे अपने आप स्फुरने लगेगा। इसके लिए पुस्तक पढने की जरूरत न रहेगी। तब सब दोष दूर हो जायंगे, पाप पलायन कर

जायंगे, दुरितों का तिमिर हट जायगा।

तुकाराम ने कहा हैः—

होलो स्वतंत्र उद्दाम, ले लो हरदम विट्ठलनाम।
नही होगा कोई पाप, नाम लेते आता आप॥

अच्छा चलो, तुमको पाप करने की छुट्टी। मैं देखता हूं तुम पाप करने से थकते हो या हरिनाम पाप जलाने से थकता है। देखूं तो ऐसा कौन-सा जबरदस्त और मगरूर पाप है जो हरिनाम के सामने टिक सकता है? "करो जितने चाहे पाप"।

करो, तुमसे जितने पाप हो सके करो। तुमको आम इजाजत है। होने दो हरिनाम की और तुम्हारे पापो की कुश्ती! सुनो, इस हरिनाम में इस जन्म के ही नही अनन्त जन्मो के पाप पलभर मे भस्म कर डालने का सामर्थ्य है। गुफा मे अनन्त युग से अन्धकार फैला हो तो भी एक दियासलाई जलाई कि वह भागा। उस अन्धकार का प्रकाश हो जाता है। पाप जितने पुराने उतने ही वे जल्दी नष्ट होते है। दरअसल तो वे मरने को ही होते है। पुरानी लकडियां उसी क्षण खाक हो जाती है।

राम-नाम के नजदीक पाप ठहर ही नही सकता। बच्चे कहते है न कि राम कहते ही भूत भागता है? हम बचपन मे रात को स्मशान में जाया-आया करते। स्मशान मे जाकर मेख ठोककर आने की शर्त लगाया करते। रात को सांप भी रहते, कांटे भी होते, बाहर चारो ओर अन्धकार। तो भी कुछ नही मालूम होता। भूत कभी दिखाई ही नही दिया। कल्पना के ही तो भूत, फिर दिखने क्यो लगे? एक दस वर्ष के बच्चे मे रात को स्मशान मे जाकर आने का सामर्थ्य कहां से आगया? राम-नाम से। वह सामर्थ्य सत्य-रूप परमात्मा का था। यदि यह भावना हो कि परमात्मा मेरे पास है तो सारी दुनिया के उलट पडने पर भी हरि का दास भयभीत न होगा। उसे कौन-सा राक्षस खा सकता है? राक्षस उसके तन-बदन को खा भी डाले और पचा भी डाले, परन्तु उसे सत्य नही पच सकेगा। सत्य को पचा डालने की शक्ति

संसार मे कहीं नहीं। ईश्वर-नाम के सामने पाप जरा भी नही ठहर सकता। इसलिए ईश्वर से जी लगाओ । उसकी कृपा प्राप्त करलो। सब कर्म उसे अर्पण कर दो ! उसी के हो जाओ । अपने सब कर्मो का नैवेद्य प्रभु को अर्पण करना है इस भावना को उत्तरोत्तर अधिक उत्कट बनाते चले जाओगे तो क्षुद्र जीवन दिव्य हो जायगा, मलिन जीवन सुन्दर हो जायगा ।

(७)

'पत्रं पुष्पं फलं तोयम्' इनमे से कुछ भी तुम्हारे पास हो तो हर्ज नही । सिर्फ उसके साथ भक्ति-भाव चाहिए । कितना दिया, कितना चढाया, यह मुद्दा नही, किस भावना से दिया यही मुद्दा है। एक बार एक प्रोफेसर के साथ मेरी चर्चा चल रही थी । शिक्षण-शास्त्र-सम्बन्धी थी । हम दोनो के विचार मिलते नहीं थे । अन्त को प्रोफेसर ने कहा— "भाई, मै अठारह साल से काम कर रहा हूं ।" प्रोफेसर को चाहिए था कि वे मुझे कायल करते, परन्तु ऐसा न करते हुए जब उन्होने मुझसे कहा कि मै इतने साल से शिक्षा का कार्य कर रहा हूं तो मैने उनसे मजाक मे कहा—"अठारह साल तक बैल यदि यन्त्र के साथ खिचता रहता है तो क्या वह यन्त्र-शास्त्रज्ञ हो जायगा ?" यन्त्र-शास्त्रज्ञ और चीज है और वह आंख मूंद कर चक्कर काटने वाला बैल और चीज है। शिक्षा-शास्त्रज्ञ और चीज है और शिक्षण का बोझा ढोने वाला और चीज । जो शास्त्रज्ञ होगा वह तो छः महीने मे ही ऐसा अनुभव प्राप्त कर लेगा कि जो २० साल तक बोझा ढोने वाले मजदूर की अकल मे भी आ नही सकता। मतलब यह कि उस प्रोफेसर ने मुझे अपनी डाढी दिखाई कि मैने इतने साल काम किया है, किन्तु डाढी से सत्य सिद्ध नही हो सकता । इसी तरह परमेश्वर के सामने कितना ढेर लगा दिया इसका महत्त्व नही है। मुद्दा नाम का, आकार का, कीमत का नही है । मुद्दा भावना का है । कितने कार्य अर्पण किये, इससे मतलब नही, बल्कि किस भावना से किये यह मुद्दा है। गीता में कुल ७००

ही श्लोक है। पर ऐसे भी ग्रन्थ है जिनमे १०,१० हजार श्लोक हैं। वस्तु का आकार बडा होने से उसका उपयोग भी बडा या ज्यादा होगा ऐसा नहीं कह सकते। देखने की बात यह है कि वस्तु मे तेज कितना है, सामर्थ्य कितना है ? जीवन में क्रिया कितनी की, इसका महत्त्व नहीं। ईश्वरार्पण बुद्धि से यदि एक भी क्रिया की हो तो वही हमें पूरा-पूरा लाभ या अनुभव करा देगी। किसी एक ही पवित्र क्षण में हमें इतना अनुभव होता है जितना १२,१२ सालों में भी नहीं हो सकता।

आशय यह कि जीवन के मामूली कर्म और मामूली क्रियाओ को परमेश्वर के अर्पण करदो तो इससे जीवन मे सामर्थ्य आ जायगा। मोक्ष हाथ लग जायगा। कर्म करके भी उसका फल न छोडकर उसे ईश्वर के अर्पण करना, यह राज-योग हुआ। यह कर्म-योग से भी एक कदम आगे जाता है। कर्म-योग कहता है कि कर्म करो, पर फल की आशा मत रखो। यहां कर्म-योग खतम हो गया। राज-योग कहता है कर्म के फलों को छोडो मत, बल्कि सब कर्म ईश्वर के अर्पण कर दो। वे फूल हैं, तुम्हे ऊपर चढाने वाली सीढियां हैं, उन्हे उस मूर्ति पर चढा दो। एक ओर से कर्म और दूसरी ओर से भक्ति का मेल मिलाकर जीवन को सुन्दर बनाते जाओ। त्यागो मत फलो को। फलों को फेकना नहीं, बल्कि भगवान् से जोड देना है। कर्म-योग मे तोडा फल राज-योग मे जोड दिया जाता है। बोने और फेंक देने मे फर्क है। बोया हुआ थोडा भी अनन्त गुना होकर मिलता है। फेंका हुआ यो ही नष्टहोजाता है। जो कर्म ईश्वर के अर्पण किया गया है वह बोया गया है। उससे जीवन में अनन्त आनन्द भर जायगा; अपार पवित्रता छा जायगी।

दसवां अध्याय

रविवार, २४-४-३२

(१)

मित्रो, गीता का पूर्वार्द्ध खतम हो गया। उत्तरार्द्ध में प्रवेश करने के पहले जो भाग हम खतम कर चुके उसका थोडे सार देख ले तो अच्छा रहेगा। पहले अध्याय मे यह बताया गया कि गीता मोह-नाश के लिए व स्व-धर्म में प्रवृत्त कराने के लिए है। दूसरे अध्याय मे जीवन के सिद्धान्त, कर्म-योग और स्थितप्रज्ञ का दर्शन हमे हुआ। तीसरे, चौथे और पांचवें अध्याय मे कर्म, विकर्म और अकर्म की समस्या हल की गई। कर्म का अर्थ है—स्वधर्माचरण करना। विकर्म का अर्थ है वह मानसिक कर्म जो स्वधर्माचरण की मदद के लिए किया जाता है। कर्म और विकर्म दोनो एक-रूप होकर जब चित्त की शुद्धि हो जाती है, सब प्रकार के मल धुल जाते हैं, वासना क्षीण हो जाती है, विकार शान्त हो जाते है, भेद-भाव मिट जाता है, तब अकर्म दशा प्राप्त होती है। यह अकर्म दशा फिर दो प्रकार की बताई गई है। इसका एक प्रकार तो यह कि दिन-रात कर्म करते हुए भी मानो लेश-मात्र कर्म न कर रहे हो ऐसा अनुभव होना। इसके विपरीत दूसरा प्रकार यह कि कुछ भी न करते हुए सतत कर्म करते रहना। इस प्रकार अकर्म दशा दो प्रकारों में परिणत हो जाती है। ये दो प्रकार यो दिखाई अलग-अलग देते हैं तथापि हैं पूर्ण रूप से एक ही। उनके नाम यद्यपि कर्म-योग और संन्यास इस तरह अलग-अलग बताये गये हैं; फिर भी भीतर की सार-वस्तु दोनों में एक ही है। अकर्म-दशा अन्तिम साध्य, आखिरी मंजिल है।

इस स्थिति को 'मोक्ष' संज्ञा दी गई है। अतः गीता के पहले पांच अध्यायों में जीवन का सारा शास्त्र समाप्त हो गया।

उसके बाद छठे अध्याय से अकर्म-रूपी साध्य सिद्ध करने के लिए विकर्म के अनेक मार्गों मे मन को भीतर से शुद्ध करने के कुछ मुख्य साधन बताने की शुरुआत की गई है। छठे अध्याय में चित्त की एकाग्रता के लिए ध्यान-योग बताकर अभ्यास व वैराग्य का सहारा उसे दिया गया है। सातवें अध्याय मे विशाल भक्ति-रूपी उच्च साधन बताया गया। तुम ईश्वर की ओर चाहे प्रेम-भाव से जाओ, जिज्ञासु बुद्धि से जाओ, विश्व-कल्याण की व्याकुलता से जाओ, या व्यक्तिगत कामना से जाओ; किसी तरीके से जाओ, परन्तु एक बार उसके दरबार मे पहुंच जरूर जाओ। इस अध्याय के विषय का नाम मैने 'प्रपत्ति-योग' अर्थात् ईश्वर की शरण मे जाने की प्रेरणा करनेवाला योग दिया है। सातवे में प्रपत्ति-योग बताकर आठवे मे 'सातत्य-योग' कहा गया है। मै जो ये नाम बता रहा हूं सो किसी पुस्तक मे नही मिलेंगे। अपने लिए जो उपयोगी नाम मालूम हुए वही मैने रख दिये। सातत्य-योग का अर्थ है—अपनी साधना को अन्त-काल तक चालू रखना। जिस रास्ते पर एक बार चल पडे उसी पर सतत कदम बढाते जाना चाहिए। कभी इधर और कभी उधर जाने से मंजिल पर पहुंचने की कभी आशा नही हो सकती। ऊबकर, निराशा से कभी यह ख्याल न करना चाहिए कि अब कहां तक साधना करते ही रहे। जबतक फल न प्रकट हो तबतक साधना जारी रखना चाहिए।

इस सातत्य-योग का परिचय देकर नवे अध्याय मे बहुत मामूली, परन्तु जीवन का सारा रंग ही बदल देनेवाली, एक बात भगवान् ने बताई है, और वह है राज-योग। नवां अध्याय कहता है कि जो कुछ भी कर्म एक-के-बाद-एक करो वे सब कृष्णार्पण कर दो। इस एक ही बात से सारे शास्त्र-साधन, सब कर्म-विकर्म डूब गये। सब कर्म-साधना इस समर्पण-योग मे विलीन हो गई। समर्पण-योग को ही राज-योग

कहते है। यहां सब साधन समाप्त हो गये। यह व्यापक और समर्थ ईश्वरार्पण-रूपी साधन यों बहुत सादा और मामूली दिखता है, परन्तु हो बैठा है कठिन। यह सरल इसलिए है कि बिलकुल अपने घर में बैठकर एक गंवार से लेकर विद्वान् तक सब बिना विशेष श्रम के इसे साध सकते है। हालांकि यह इतना सरल है, फिर भी इसे साधने के लिए बड़े भारी पुण्य की जरूरत है।

'अनेक सुकृतों का योग--इसी से विट्ठल-संयोग।'

जब अनन्त जन्मो का पुण्य संचित हो जाता है तथा ईश्वर मे रुचि उत्पन्न होती है। आंखो में जरा कुछ हो तो झट् से आंसू बहने लगते है। परन्तु भगवान्का नाम लेते ही आंखो मे दो बूंद आंसू कभी नही आते। इसका उपाय क्या ? संतो के कथनानुसार, एक तरह से यह साधना बहुत ही सरल है; परन्तु दूसरे पहलू मे वह कठिन भी है। और वर्तमान समय मे तो और भी कठिन होगई है।

आज तो जड-वाद का प्रभाव हमारी आंखो पर पड़ा हुआ है। आज तो शुरुआत यहां से होती है कि ईश्वर कही है भी ? वह कहीं भी किसी को प्रतीत ही नहीं होता। सारा जीवन विकार-मय, विषय-लोलुप और विषमता से परिपूर्ण हो रहा है। इस समय तो जो ऊंचे-से-ऊंचे तत्व-ज्ञानी है उनके भी विचार इस बात से आगे जा ही नही सकते कि सबको पेट-भर रोटी कैसे मिलेगी। आज की बड़ी समस्या है रोटी की। इसी समस्या को हल करने मे आज सारी बुद्धि उलझ रही है। सायणाचार्य ने रुद्र की व्याख्या की है.—

"बुभुक्षमाण रुद्ररूपेण अवतिष्ठते"

भूखे लोग ही रुद्र के अवतार हैं। उनकी क्षुधा शान्ति के लिए अनेक तत्व-ज्ञान और विभिन्न राज कारण बन गये हैं। भिन्न भिन्न 'वाद' इसी रोटी के लिए खड़े हुए हैं। इन समस्याओ से ऊपर उठने का, परे हो जाने का आज समय ही नहीं है। आज हमारे सारे भगीरथ प्रयत्न इसी विचार से हो रहे हैं कि परस्पर न लड़ते हुए सुख-शान्ति

से व प्रसन्न मन से रोटी कैसे खा ले। ऐसी विचित्र समाज-रचना जिस युग में हो रही है वहां ईश्वरार्पणता जैसी सीधी-सादी और सरल बात भी बहुत कठिन हो बैठे तो क्या आश्चर्य! परन्तु किया क्या जाय? इस दसवें अध्याय मे आज हम यही देखने वाले हैं कि ईश्वरार्पण-योग कैसे साधा जाय, कैसे सरल बनाया जाय।

(२)

छोटे बच्चों को पढाने के लिए जो तदबीर हम करते हैं वैसी ही तरकीब परमात्मा को सर्वत्र दिखाने के लिए इस अध्याय में की गई है। बच्चों को वर्णमाला दो तरह से सिखाई जाती है। एक तरकीब पहले बडे बडे अक्षर लिख कर बताने की। फिर इन्ही अक्षरो को छोटा लिख-लिख कर बताया जाता है। वही 'क' और वही 'ग', परन्तु पहले ये बडे थे अब छोटे हो गये। यह एक विधि हुई। दूसरी विधि यह कि पहले सीधे साधे सरल अक्षर सिखाये जायं और बाद में जटिल संयुक्ताक्षर। ठीक इसी तरह परमेश्वर को देखना सिखाना चाहिए। पहले स्थूल, स्पष्ट परमेश्वर को देखें। समुद्र, पर्वत आदि महान् विभूतियों मे प्रकटित परमेश्वर तुरन्त आखो में समा जाता है यह स्थूल परमात्मा समझ मे आ गया तो एक जल-बिन्दु से मिट्टी के एक कण में वही परमात्मा भरा व समाया हुआ है, यह आगे समझ मे आजायगा। बडे 'क' व छोटे 'क' में कोई फर्क नही। जो स्थूल मे वही सूक्ष्म मे। यह एक पद्धति हुई। अब दूसरी पद्धति है सीधे-साधे सरल परमात्मा को देख ले, फिर उसके जटिल रूप को। जिस व्यक्ति मे शुद्ध परमेश्वरी आविर्भाव सहज रूप से प्रकट हुआ है वह बहुत जल्दी ग्रहण कर लिया जा सकता है। जैसे राम मे प्रकटित परमेश्वरी आविर्भाव तुरन्त मन पर अंकित हो जाता है। राम सरल अक्षर है। यह बिना झंझट का परमेश्वर है। परन्तु रावण? वह संयुक्ताक्षर है। इसमें कुछ-न-कुछ मिश्रण है। रावण की तपस्या, कर्म-शक्ति महान् है; पन्तु उसमें क्रूरता मिली हुई है। पहले राम-रूपी

सरल अक्षर को सीख लो। जिसमे दया है, वत्सलता है, प्रेम-भाव है ऐसा राम सरल परमेश्वर है, वह तुरन्त पकड मे आ जायगा। रावण मे रहने वाले परमेश्वर को समझने मे जरा देर लगेगी। पहले सरल, फिर संयुक्ताक्षर। सज्जनो मे पहले परमात्मा को देखकर अन्त को दुर्जनो मे भी उसे देखने का अभ्यास करना चाहिए। समुद्र-स्थित विशाल परमेश्वर पानी की बूंद मे भी है। रामचन्द्र के अन्दर का परमेश्वर रावण में भी है। जो स्थूल मे है, वही सूक्ष्म मे भी। जो सरल मे है, वही कठिन मे भी। इन दो विधियो से हमे यह संसार-रूपी ग्रन्थ पढना सीखना है।

यह अपार सृष्टि मानो ईश्वर की पुस्तक है। आंखो पर गहरा पर्दा पडने से यह पुस्तक हमे बन्द हुई-सी जान पडती है। इस सृष्टि-रूपी पुस्तक मे सुन्दर वर्णों मे परमेश्वर सर्वत्र लिखा हुआ है। परन्तु वह हमे दिखाई नही देता। ईश्वर का दर्शन होने मे एक बडा विघ्न है। वह यह, कि मामूली सरल नजदीक का ईश्वर-स्वरूप मनुष्य की समझ मे नही आता और दूर का प्रखर-रुप उसे हजम नहीं होता। यदि उससे कहे कि अपनी माता मे ईश्वर को देखो तो वह कहेगा क्या ईश्वर इतना सस्ता और सरल है? पर यदि प्रखर परमात्मा प्रकट हुआ तो उसका तेज तुम सह सकोगे? कुन्ती के मन मे हुआ—वह दूर वाला सूर्य मुझे प्रत्यक्ष आकर मिले; परन्तु उसके नजदीक आते ही वह जलने लगी। उसका तेज उससे सहन न हुआ। ईश्वर यदि अपने सारे सामर्थ्य के साथ सामने आकर खडा हो जाय तो हमे पच नहीं सकता। यदि माता के सौम्य-रूप मे आकर खडा हो जाय तो वह जंचता नही। पेडा-बर्फी पचता नही, और मामूली दूध रुचता नही। ये लक्षण है—पामरता के, दुर्भाग्य के, मरण के। ऐसी यह रुग्ण मन.स्थिति परमेश्वर के दर्शन मे बडा भारी विघ्न है। इस मनःस्थिति को हटाने की बडी भारी जरूरत है। पहले हम अपने पास के स्थूल और सरल परमात्मा को पढ ले और फिर सूक्ष्म और जटिल परमात्मा को पढें।

(२)

बिलकुल पहली परमेश्वर की मूर्ति जो हमारे पास है वह है खुद हमारी मां। श्रुति कहती है-"मातृ देवो भव"। पैदा होते ही बच्चे को मां के सिवाय और कौन दिखाई देता है? वत्सलता के रूप मे वह परमेश्वर की मूर्ति ही वहां उपस्थित दिखाई देती है। उस माता की ही व्याप्ति को हम बढा लें और 'वन्दे मातरम्' कहकर राष्ट्र-माता की और फिर अखिल भू-माता पृथ्वी की पूजा करे। परन्तु प्रारंभ में सब से ऊंची परमेश्वर की पहली प्रतिमा जो बच्चे के सामने आती है वह माता के रूप मे। माता की पूजा से मोक्ष मिलना असंभव नहीं है। माता की पूजा क्या है, मानो वत्सलता को लेकर आये परमेश्वर की ही पूजा है। मां तो एक निमित्त-मात्र है। परमेश्वर उसमे अपनी वत्सलता उँडेल कर उसे नचाता है। उस विचारी को मालूम भी नही होता कि यह इतनी माया-ममता भीतर से क्यो मालूम होती है? क्या वह यह हिसाब लगाकर बच्चे का लालन-पालन करती है कि बुढापे मे काम आयेगा? नही, नही, उसने उस बालक को जन्म दिया है। उसे प्रसव-वेदना हुई है। उन वेदनाओं ने उसे उस बच्चे के लिए पागल बना दिया है। वे वेदनाएं उसे वत्सल बना देती हैं। वह प्यार किये बिना रही नही सकती। वह मजबूर है। वह मां मानो निस्सीम सेवा की मूर्ति है। परमेश्वर की यदि कोई सबसे उत्कृष्ट पूजा है तो वह है मातृ-पूजा। ईश्वर को मां के ही नाम से पुकारो। मां से बढकर और ऊंचा शब्द है कहां? मां यह पहला स्थूल अक्षर है। उसमें ईश्वर देखना सीखो। फिर पिता, गुरु इनमें भी देखो। गुरु शिक्षा देते हैं। वह हमे पशु से मनुष्य बनाते है। कितने हैं उनके उपकार। पहले माता, फिर पिता, फिर गुरु, फिर दयालु सन्त। अत्येन्त स्थूल-रूप में खड़े इस परमेश्वर-रूप को पहले देखो। अगर परमेश्वर यहा नहीं दिखाई दिया तो फिर दीखेगा कहां?

माता, पिता, गुरु, सन्त—इनमे परमात्मा को देखो। उसी तरह यदि

छोटे बालको मे भी हम परमात्मा को देख सके तो कितना मजा आये ? ध्रुव, प्रह्लाद, नचिकेता, सनक, सनंदन, सनत्कुमार—ये सब छोटे बालक ही तो थे। परन्तु पुराणकारो को, व्यासादिक को भी यह दिक्कत ही हुई कि उनका क्या स्थान रखा जाय ? शुकदेव, शंकराचार्य बचपन से ही विरक्त थे। ज्ञानदेव का भी यही हाल था। ज्ञानेश्वर तो १६-१७ साल के ही थे। सबके सब बालक। परन्तु उनमें परमेश्वर जितने शुद्ध रूप में प्रकट हुआ है उतना कही अन्यत्र नही। ईसा-मसीह बच्चो को बहुत प्यार करते थे। एक बार उनके शिष्यो ने उनसे पूछा-'आप हमेशा ईश्वरी राज्य का जिक्र करते है। तो इस ईश्वर के राज्य में आखिर जा कौन सकेगा ?' पास ही एक लडका बैठा था। ईसा ने उसे मेज पर खडा करके कहा–'जो इस बच्चे की तरह होंगे वे ही वहां पहुंच सकेंगे।' ईसा का कहना बिलकुल सच था। रामदास स्वामी एक बार एक बच्चे के साथ खेल रहे थे। बच्चे के साथ समर्थ खेल रहे है यह देखकर कुछ बडे-बूढो को आश्चर्य हुआ। एक ने उनसे पूछा–'आज आप यह क्या कर रहे है ?' समर्थ ने जवाब दिया—

> हुए श्रेष्ठ वे जो रहे हां, कनिष्ठ।
> रहे ज्येष्ठ जो हो रहे चोर श्रेष्ठ ॥

ज्यो-ज्यो उम्र बढती है त्यो-त्यो मनुष्य निर्बन्ध होता जाता है। फिर परमेश्वर का स्मरण कहां ? छोटे बच्चो के मन पर कोई लेप नही रहता। उनकी बुद्धि निर्मल रहती है। बच्चे को हम सिखाते है–'झूठ मत बोलो।' वह पूछता है–'झूठ किसे कहते है ?' तब उसे सिद्धान्त बताते है—'बात जैसी हो वैसी ही कहना चाहिए' लडका उलझन मे पडता है कि क्या जैसा हो वैसा कहने के अलावा भी कहने का कोई दूसरा तरीका है ? जैसा नही हो वैसा कहे कैसे ? चौकोन को चौकोन कहो,गोल मत कहो–ऐसा कहने जैसा है। उस बच्चे को आश्चर्य होता है। बच्चे क्या हैं, विशुद्ध परमात्मा की मूर्ति है। बडे लोग उन्हे गलत शिक्षा देते हैं। जो हो। माँ, बाप, गुरु, संत, बच्चे–इनमे यदि हम

परमात्मा को न देख सके तो फिर किस रूप में देखेंगे ? इससे उत्कृष्ट रूप परमेश्वर का दूसरा नही है। परमेश्वर के इन सादे-सौम्य रूपो को पहले जानो। इनमे परमेश्वर स्पष्ट व मोटे अक्षरो में लिखा हुआ है।

(४)

पहले हम मानव की सौम्यतम व पावन मूर्तियों मे परमात्मा का दर्शन करना सीखें। उसी तरह इस सृष्टि मे जो-जो विशाल व मनोहर रूप है, उनमे उसके दर्शन करे। इसके उदाहरण देखो—

उषा को ही लो। सूर्योदय के पहले की वह दिव्य प्रभा। इस उषा देवता के गान मस्त होकर ऋषि गाने लगते हैं "उषे, तू परमेश्वर का सन्देश लानेवाली दिव्य दूतिका है, तू हिम-कणों से नहा कर आई है। तू अमृतत्व की पताका है।" ऐसे भव्य हृदयंगम वर्णन ऋषियो ने उषा के किये है। वैदिक ऋषि कहते है—"तेरा दर्शन करके जो कि परमेश्वर की संदेश-वाहिका है, यदि परमेश्वर का रूप न दिखाई दे, न समझ मे आए तो फिर मुझे परमेश्वर का परिचय कौन कराएगा।" इतनी सुन्दरता से सज-धज कर यह उषा सामने खडी है, परन्तु हमारी निगाह वहां तक जाय तब न ?

उसी तरह सूर्य को देखो। उसके दर्शन मानो परमात्मा के ही दर्शन है। वह नाना प्रकार के रंग-बिरंगे चित्र आकाश मे खीचता है। चित्रकार महीनों कूंची इधर-उधर घुमाकर सूर्योदय के चित्र बनाते और उनमें रंग भरते है। परन्तु तुम सुबह उठकर उस परमेश्वर की कला को देखो तो ! उस दिव्य कला के लिए—उस अनन्त सौंदर्य की उपमा भला किसी से दी जा सकेगी ? परन्तु देखता कौन है ? उधर वह सुन्दर भगवान् द्वार पर खडा है और इधर यह मुंह पर रजाई डालकर नींद में खुर्राटे भर रहा है। सूर्यदेव कहते है—अरे आलसी, तू तो पड़ा ही रहना चाहता है, किन्तु मै तुझे उठाये बिना न रहूँगा। और वह अपने जीवन-किरण खिडकियो मे से भेजकर उस आलसी को जगा देता है।

"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"

सूर्य समस्त स्थावर जंगम का आत्मा है। चराचर का आधार है। ऋषि ने उसे 'मित्र' नाम दिया है—

"मित्रो जनान् यातयति ब्रुवाणो
मित्रो दाधार पृथिवीमुतद्याम् ।"

"यह मित्र लोगो को पुकारता है, उनको काम-धाम मे लगाता है। वह स्वर्ग और पृथिवी को धारण किये है।" सचमुच ही यह सूर्य जीवन का आधार है। उसमे परमात्मा के दर्शन करो।

और वह पावन गंगा! जब मै काशी मे था तो गंगा के किनारे जाकर बैठ जाया करता। रात मे, एकान्त समय मे जाता था। कितना सुन्दर और प्रसन्न उसका प्रवाह था। उसका वह भव्य गंभीर प्रवाह और उसके उदर मे सचित वे आकाश के अनन्त तारे। मै स्तब्ध, नि.शब्द हो जाता। शंकर के जटाजूट से अर्थात् उस हिमालय से बहकर आनेवाली वह गंगा जिसके तीर पर राज-पाट को तृणवत् फेककर राजा लोग तप करने जाते थे, उस गंगा का दर्शन करके मुझे असीम शान्ति अनुभव होती। उस शान्ति का वर्णन मै कैसे करूं? वाणी की वहां सीमा आ गई। यह समझ मे आने लगा कि कोई हिन्दू यह क्यों चाहता है कि मरने पर निदान मेरी अस्थि ही गगा मे पड जाय? आप हंसिए। आपके हंसने से कोई हानि नही। परन्तु मुझे ये भावनाएं बहुत पवित्र और संग्रहणीय मालूम होती हैं। मरते समय गंगाजल मुंह मे डालते है। वे दो बूंद क्या है, मानो परमेश्वर ही हमारे मुंह मे उतर आता है। उस गंगा को परमात्मा ही समझो। वह परमेश्वर की करुणा बह रही है। तुम्हारा सारा भीतरी-बाहरी कूडा-कर्कट वह माता धो रही है, बहा ले जा रही है। ऐसी गगा माता मे यदि तुम्हें परमेश्वर प्रकटित न दिखाई दे तो कहां दिखाई देगा? सूर्य, नदियां, धू-धू करके हिलोरें मारने वाला वह विशाल सागर, ये सब परमेश्वर की ही मूर्तियां है।

और वह हवा ! कहांसे आती है, कहां जाती है, कुछ पता नहीं। यह भगवान् का दूत ही है। हिन्दुस्तान मे कुछ हवा स्थिर हिमालय पर से आती है; कुछ गंभीर सागर पर से। यह पवित्र हवा हमारे हृदय को छूती है, हम मे स्फूर्ति, जाग्रति पैदा करती है। हमारे कानों में गुनगुनाती है। परन्तु इस हवा का सन्देश सुनाता कौन है ? जेलर ने यदि हमारा चार सतर का खत न दिया तो हमारा दिल खट्टा हो जाता है। अरे मन्दभागी, क्या रखा है उस चिट्ठी मे ? परमेश्वर का यह प्रेम-संदेश, हवा के साथ हर घडी आ रहा है, उसे तू सुन !

और हमारे घर के नित्य काम-काज मे आनेवाले इन पशुओं को देखो ! वह गो-माता कितनी वत्सल, कितनी ममता व प्रेम से परिपूर्ण है ! दो-दो तीन-तीन मील से जंगल-झाडियों से अपने बछडों के लिए कैसी दौडकर आती है ! वैदिक ऋषियो को पर्वतो से स्वच्छ जल को लेकर छल-छल करती हुई आने वाली नदियां देखकर अपने बछडो के लिए दूध-भरे स्तनो के लेकर रंभाती हुई आनेवाली वत्सल गायो की याद हो आती है। वह ऋषि नदी से कहता है—"हे देवि, दूध की तरह पवित्र, पावन, मधुर जल लानेवाली तू धेनु जैसी है। जैसे गाय जंगल मे नही रह सकती वैसे ही तुम नदियो से भी पर्वतो में नही रहा जा सकता। तुम सरपट दौडती हुई प्यासे बालकों से मिलने के लिए आती हो।"

"वाश्रा इव धेनवः स्यंदमानाः"

इस वत्सल गाय के रूप में भगवान ही हमारे दरवाजे पर खडा है।

और उस घोड़े को देखो ! कितना ईमानदार, कितना वफादार। अरब के लोग अपने घोडों से कितना प्यार करते हैं। उस अरबी की कहानी मालूम है न ? एक विपत्ति-ग्रस्त अरब एक सौदागर को घोडा बेचने के लिए तैयार हो जाता है। हाथ मे रुपये की थैली लेकर वह तबेले में जाता है, परन्तु घोडे की उन गम्भीर और प्रेम-पूर्ण आंखों पर उसकी निगाह पडती है तो वह थैली फेंक देता है और कहता है कि

मेरी जान चली जाय पर मैं घोडा नहीं बेचूंगा। मैं बर्बाद हो जाऊंगा। खाना न मिले तो पर्वाह नहीं, परन्तु घोडा नहीं बेचूंगा। खुदा मेरी मदद करेगा। पीठ थपथपाते ही कैसे वह प्रेम से फुरफुराता है, कैसी बढिया उसकी अयाल! सचमुच घोडे मे अनमोल गुण है। इस साइकिल मे क्या रखा है? घोडे को खुर्रा करो, वह तुम्हारे लिए जान दे देगा। तुम्हारा साथी होकर रहेगा। मेरा एक मित्र घोडे पर बैठना सीख रहा था। घोडा उसे गिरा देता। वह मुझसे कहने लगा—घोडा तो बैठने ही नही देता। मैने उससे कहा—तुम सिर्फ घोडे पर बैठने के ही लिए जाते हो; मगर उसकी खिदमत भी करते हो या नही? खिदमत तो करे दूसरा और तुम उसकी पीठ पर सवारी करो, यह कैसा? तुम खुद उसे दाना-पानी दो, खुर्रा करो और फिर सवारी करो! उसने वैसा ही किया। फिर मुझसे आकर कहा—अब घोडा गिराता नही है। घोडा तो परमेश्वर है, वह भक्त को क्यो गिरायेगा! उसकी भक्ति देखकर घोडा नरम हो गया। घोडा जानना चाहता है कि यह भक्त है या और कोई। भगवान श्रीकृष्ण खुद खुर्रा करते थे और अपने पीताम्बर मे लाकर उसे चन्दी खिलाते थे। टेकडी आ गई हो, नाला आ गया हो, कीचड आगया हो साइकिल रुक जाती है, मगर घोडा फांदता चला ही जाता है। यह सुन्दर प्रेममय घोडा मानो परमेश्वर की मूर्ति ही है।

और उस सिंह को लो! बडौदे में मै रहता था। सुबह-ही-सुबह उसकी गर्जना की गम्भीर ध्वनि कानो मे पडती। उसकी आवाज इतनी गम्भीर और उम्दा होती थी कि हृदय डोलने लगता। मन्दिरो के गर्भ-गृहो मे जैसी आवाज गूंजती है वैसी ही गम्भीर उसके हृदय-गर्भ की वह ध्वनि थी। और सिंह की वह धीरोदात्त भव्य निर्भय मुद्रा, उसका वह शाही ढंग व शाही वैभव। वह भव्य सुन्दर आयाल, मानो चंवर ही उस बनराज पर ढल रहे हो। बडौदे के एक बाग मे यह सिह था। वहां वह आजाद नहीं था, पिंजरो में चक्कर काटता था। उसकी आंखो मे जरा भी क्रूरता नही मालूम होती थी। उसकी मुद्रा व दृष्टि

में करुणा भरी हुई थी, मानो संसार की उसे कुछ परवाह नहीं थी। अपने ही ध्यान मे वह मग्न दिखाई देता था। सचमुच ही ऐसा मालूम होता था मानो सिह परमेश्वर की एक पावन विभूति है। बचपन में मैंने एण्ड्रोक्लीज और सिह की कहानी पढी थी। कितनी बढिया कहानी है वह! वह भूखा प्यासा सिंह एण्ड्रोक्लीज के पहले के अहसान को स्मरण करके उसका दोस्त हो जाता है और उसके पैर चाटने लगता है। इसका क्या मर्म है? एण्ड्रोक्लीज ने सिंह मे रहनेवाले परमेश्वर का दर्शन कर लिया था। भगवान् शंकर के पास सदैव सिह रहता है। सिह भगवान् की एक दिव्य विभूति है।

और शेर भी क्या कम है। उसमे बहुतेरा ईश्वरीय तेज व्यक्त हुआ है। उससे मित्रता रखना असंभव नही। भगवान् पाणिनि अरण्य मे बैठे शिष्यो को पाठ पढा रहे थे। इतने मे शेर आ गया। लडके डर से चिल्लाने लगे—"व्याघ्रः व्याघ्रः"। पाणिनि ने कहा—"अच्छा—व्याघ्र का मतलब क्या है? 'व्या जिघ्रतीति व्याघ्र.' अर्थात् जिसकी घ्राणेन्द्रिय तीव्र है, वह व्याघ्र है। बालको को उससे जो कुछ डर लगा हो; पर भगवान् पाणिनि के लिए तो वह व्याघ्र एक निरुपद्रवी, आनन्दमय शब्द मात्र हो गया था। बाघ को देखकर वे उस शब्द की व्युत्पत्ति बताने लगे। बाघ पाणिनि को खा गया;परन्तु बाघ के खा जाने से क्या हुआ? पाणिनि के शरीर की मीठी गन्ध उसे लगी, उसका मन चल गया व फाड खाया। परन्तु पाणिनि वहां से भाग नही छूटे। क्योंकि वे तो शब्द-ब्रह्म के उपासक थे। उनके लिए सब कुछ अद्वैतमय हो गया था। व्याघ्र मे भी वे शब्द-ब्रह्म का अनुभव कर रहे थे। पाणिनि की इस महानता के कारण ही भाष्यो मे जहां कही उनका नाम आया, तहां-तहां 'भगवान् पाणिनि' इस तरह पूज्य-भाव से उनका उल्लेख किया गया है। वे पाणिनि का अत्यन्त उपकार मानते हैं—

अज्ञानांधस्य लोकस्य ज्ञानाञ्जन-शलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै पाणिनये नमः॥

इस तरह भगवान् पाणिनि व्याघ्र मे परमात्मा का दर्शन कर रहे हैं। ज्ञानदेव ने कहा है—

> घर आवे क्यो न स्वर्ग, या आ चढे व्याघ्र
> तो भी आत्म-बुद्धि मे भंग, न हो कभी।

ऐसी महर्षि पाणिनि की स्थिति हो गई थी। वे इस बात को समझ गये थे कि बाघ एक दैवी विभूति है।

वैसे ही सांप को भी समझो। साप से लोग बहुत डरते है; परन्तु सांप मानो कठोर शुद्धि-प्रिय ब्राह्मण ही है। कितना स्वच्छ! कितना सुन्दर! जरा भी गन्दगी उसे बर्दाश्त नही। गन्दे ब्राह्मण कितने ही मिल जायंगे, परन्तु गन्दा सांप कभी किसी ने देखा है? मानो एकान्त-वासी योगी ही हो। निर्मल, सतेज, मनोहर हार ही मानो हो। उस से डरने की क्या जरूरत? हमारे पूर्वजों ने तो उसकी पूजा का विधान किया है। भले ही आप कहिए कि हिन्दू-धर्म मे न जाने क्या-क्या वहम फैले हुए हैं। परन्तु नाग-पूजा का विधान उसमे जरूर है। बचपन मे मै अपनी मां के लिए गन्ध का नाग बना दिया करता था। मै मां से कहता–बाजार मे तो अच्छा चित्र मिल जाता है माँ! वह कहती—"वह रद्दी होता है, मुझे नही चाहिए। बच्चे जो चित्र बनाते है वह मुझे पसन्द है।" फिर उस नाग की पूजा की जाती। अजीब पागलपन है। परन्तु जरा विचार कीजिए। वह सर्प श्रावण मास मे अतिथि बन कर हमारे घर आता है। बरसात होजाने से उस बेचारे के सारे घर मे पानी भर जाता है। तब वह क्या करेगा? दूर एकान्त मे रहने वाला वह ऋषि आपको फिजूल तकलीफ न हो इस ख्याल से किसी छप्पर के नीचे कही लकडियों मे पडा रहता है। कम से कम जगह घेरता है परन्तु हम डण्डा लेकर जा पहुंचते है। संकट-ग्रस्त अतिथि यदि हमारे घर आजाय तो क्या हम उसे मार डालेगे? सन्त फ्रांसिस के लिए कहा जाता है कि जब जंगल में सांप दिखाई देता तो वह उससे बडे प्रेम-भाव से कहता—"आ, भाई आ!" सांप उसकी गोदी में खेलते, उसके शरीर

पर इधर-उधर चढ जाते। इसे झूठ मत समझिए। प्रेम मे अवश्य ऐसी शक्ति रहती है। सांप को कहते है कि विषैला है। परन्तु मनुष्य क्या कम विषाक्त है ? सांप तो कभी-कभी काटता है फिर चलाकर, आप होकर, नही काटता। सौ मे नब्बे तो निर्विष ही होते है। फिर तुम्हारी खेती का नाश करने वाले असंख्य कीडो और जन्तुओ को खाकर रहता है। ऐसे इस उपकारी शुद्ध, तेजस्वी, एकान्त-प्रिय सर्प को भगवान् का रूप क्यो न कहे ? हमारे तमाम देवताओं मे कही-न-कही सांप जरूर आता है। गणेशजी की कमर मे सांप का कमर-पट्टा बंधा हुआ है। शंकर के गले में सांप लिपटे रहते है। और भगवान् विष्णु तो नाग-शय्या पर ही सोये हुए है। इसका मर्म, इसका माधुर्य जरा समझो। इन सबका भावार्थ यह कि नाग के द्वारा यह ईश्वरीय-मूर्ति ही व्यक्त हुई है। सर्पस्थ इस परमेश्वर का परिचय प्राप्त कर लो।

(४)

ऐसे कितने उदाहरण दूं ? मै तो सिर्फ ख्याल दे रहा हूं। रामायण का सारा सार इस प्रकार की रमणीय कल्पना मे ही है। रामायण मे पिता-पुत्र का प्रेम, मा-बेटो का प्रेम, भाई-भाई का प्रेम, पति-पत्नी का प्रेम, यह सब कुछ है। परन्तु मुझे रामायण इसके लिए प्रिय नहीं है। मुझे वह पसन्द इसलिए है कि राम की मित्रता वानरों से हुई। आज कल कहते है वानर नाग-जाति के थे। इतिहासज्ञो का काम है कि पुरानी बातो की छान-बीन करे। उनके इस कार्य पर मैं आपत्ति नही उठाता। राम ने सचमुच यदि वानरो से मित्रता की हो तो इस में विचित्रता क्या है ? राम का रामत्व,रमणीयत्व सचमुच इसी बात मे है कि राम और वानर मित्र हो गये। इसी तरह कृष्ण का और गायोका सम्बन्ध। सारी कृष्ण-पूजा का आधार यही कल्पना है। श्रीकृष्ण के किसी चित्र को लीजिए तो आपको सामने गायें खडी मिलेंगी। गोपाल कृष्ण, गोपाल कृष्ण ! यदि कृष्ण से गायों को अलग करदो तो फिर कृष्ण में बाकी क्या रहा ? राम से यदि वानर हटा दिये तो फिर

उस राम मे क्या राम बाकी रहा ? राम ने वानरों में भी परमात्मा के दर्शन किये व उनके साथ प्रेम और घनिष्ठता का सम्बन्ध स्थापित किया। यह है सारी रामायण की कुंजी ! इस कुंजी को आप भूल जायँगे तो रामायण की मधुरता खो देगे। पिता-पुत्र का, माँ-बेटे का प्रेम तो और जगह भी मिल जायगा, परन्तु नर-वानर की यह अनन्य मधुर मैत्री सिर्फ रामायण मे ही मिलेगी और कहीं नही। वानर में स्थित भगवान रामायण के कारण हमारे हृदय मे बैठ गया, रम गया। वानरो को देखकर ऋषियो को बडा कौतुक होता। ठेठ रामटेक से लेकर कृष्णा तट तक जमीन पर पैर न रखते हुए वे वानर एक पेड से दूसरे पेड़ पर कूदते-फांदते और क्रीडा करते थे। ऐसे उस सघन वन को और उसमे क्रीडा करने वाले वानरो को देख कर उन सहृदय ऋषियो के मन मे कवित्व जाग उठता, कौतुक होता। उपनिषदों मे जहां यह प्रसंग आया है कि ब्रह्म की आखें कैसी होती है तो बताया गया है कि बन्दरो की आंखो की तरह। बन्दर की आंखे बडी चंचल, चारो ओर उनकी निगाह। ब्रह्म की आंखे ऐसी ही होनी चाहिए। ईश्वर की आंखें यदि स्थिर हो तो काम नही चल सकता। हम आप ध्यानस्थ होकर बैठ सकते है। परन्तु यदि ईश्वर ध्यानस्थ हो जाय तो फिर दुनिया का क्या हाल हो। अतः बन्दरो मे ऋषियो को सब की चिन्ता रखने वाली ब्रह्म की आंखें दिखाई देती है।

इन वानरों में परमात्मा के दर्शन करने का यत्न करो।

अब मोर को लीजिए। महाराष्ट्र मे मोर ज्यादा नही हैं। परन्तु गुजरात मे उनकी विपुलता है। जब मै गुजरात मे था तो वहां घूमते हुए मुझे खूब मोर दिखाई देते थे। मुझे आदत है १०-१२ मील घूमने की। जब आकाश मे बादल छा रहे हो, मेह बरसने की तैयारी हो, आकाश का रंग गहरा श्याम हो गया हो, ऐसे समय मोर अपनी ध्वनि सुनाता है, हृदय को निचोड कर निकलने वाली उसकी ध्वनि एक बार सुनो तो मालूम हो जाय। हमारा सारा संगीत-शास्त्र

मयूर की इस ध्वनि पर ही खडा किया गया है। मयूर की ध्वनि ही "षडज़ं रौति"। यह पहला 'षडज' हमें मोर से मिला। फिर घटा-बढाकर दूसरे स्वर बिठाये गये। मेघ की ओर गडी हुई उसकी दृष्टि, उसकी वह गंभीर ध्वनि और मेघ की ढिम-ढिम-गडगड गर्जना सुनते ही उसकी पूंछ का फैला हुआ वह सुन्दर दृश्य! अहा हा! पूंछ के उस सौन्दर्य के सामने मनुष्य का सारा गर्व चूर हो जाता है। राजा-महाराजा भी सजते हैं, परन्तु इस मोर-पुच्छ के सामने वे क्या सजेंगे? कैसा उसका भव्य दृश्य! मानो हजारो आंखे जडी हों। वह रंग-विरंगी अनन्त छटा, वह अद्भुत सुन्दर, मृदु, रमणीय रचना, वह उम्दा बेल-बूटा! जरा देखिए उस पुच्छ विस्तार को और उसमें परमात्मा की भी झांकी देखिए। यह सारी सृष्टि इसी तरह सजी हुई है। सर्वत्र परमात्मा दर्शन देता हुआ दिखाई देता है। परन्तु हम अभागे उसे देख नही पाते। तुकाराम ने कहा है—

'प्रभो सर्वत्र सुकाल, अभागी को अकाल'

संतो के लिए सर्वत्र सुकाल है। परन्तु हम अभागो के लिए सब जगह अकाल फैला हुआ है।

वेदो में अग्नि की उपासना बताई गई है। अग्नि नारायण है। कैसी उसकी देदीप्यमान मूर्ति! दो लकडियो को रगडिए, वह प्रकट हो जाता है। पहले कहां छिप रहा था, कौन कह सकता है! कितना आबदार, कितना तेजस्वी! वेदो की जो पहली ध्वनि निकली वह अग्नि की उपासना को लेकर ही—

"अग्नि मीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्न धातमम्।"

जिस अग्नि की उपासना से वेदो का आरंभ हुआ, उसकी ओर तुम देखो तो। उसकी ज्वालाएं देखने से मुझे जीवात्मा के उखाड-पछाड की याद आ जाती है। वे ज्वालाएं, वे लपटें चाहे घर के चूल्हे की हों, चाहे जंगल की दावाग्नि हो। वैरागी का घरबार कहां? वे जहां होंगी

वहां उनकी उधेड़-बुन शुरू ही रहेगी। एक-सी छटपटाती रहती हैं। वे और ऊपर जाने के लिए आतुर हो रही है। आप—विज्ञान-वेत्ता लोग कहेंगे कि ईथर के कारण ये ज्वालाएं हिलती है, हवा के दबाव के कारण हिलती है; परन्तु मेरा अर्थ कुछ दूसरा है। वह ऊपर जो परमात्मा बैठा हुआ है, वह तेजः समुद्र सूर्य-नारायण जो ऊपर झांक रहा है, उससे मिलने के लिए वे निरंतर उछल रही है—जन्म से लेकर मरने तक उनकी यह उछल-कूद जारी रहती हैं। सूर्य अंशी है और ये ज्वालाएं अंश है। अंश अशी की ओर जाने के लिए छटपटा रहा है। जब वे लपटे बुझ जायंगी तभी वह उछल-कूद बंद होगी; वर्ना नही। सूर्य से हम बहुत दूरी पर है, यह विचार भी उनके मन मे नही आता। वे तो इतना ही जानती है कि अपनी शक्ति भर पृथ्वी से ऊपर उछलती चली जायं। यह अग्नि क्या मानो उसके रूप में जाज्वल्य वैराग्य ही प्रकट हो गया है। इसी लिए वेद की पहली ध्वनि हुई—'अग्नि मीले।'

और मैं उस कोयल को कैसे भुलाऊं? किसे पुकारती है वह? गर्मियो मे नदी-नाले सूख गये, परन्तु वृक्षो मे नव-पल्लव छिटक रहे है। वह यह तो नही पूछ रही है कि किसने उन्हे यह वैभव प्रदान किया? कहां है वह वैभव-दाता? कैसी उत्कट मधुर कूक! हमारे हिन्दूधर्म मे कोयल के व्रत का तो विधान ही मिलता है। स्त्रियों का एक व्रत है जिसमे कोयल की आवाज सुने बिना वे भोजन नही करतीं। इसका आशय यह है कि कोकिला के रूप मे अभिव्यक्त परमात्मा को पहिचानो। कोयल की वह सुन्दर कूक क्या है, मानो उपनिषदों का गान है। उसकी कुहू-कुहू तो कानो को सुनाई देती है परन्तु वह दिखाई नही देती। अंग्रेजी कवि वर्डसवर्थ उसके पीछे पागल होकर जंगल-जगल उसकी खोज मे भटकता है।' इंग्लैण्ड का तो एक महान् कवि कोयल को सिर्फ खोजता भर है, परन्तु भारत के घरों की स्त्रियां कोयल न दिखाई दे तो खाना भी नही खातीं! इस कोकिला-व्रत की बदौलत भारतीय स्त्रियो ने महान् कवि की पदवी प्राप्त कर ली है।

जो कोयल इस तरह परम आनन्द से परिपूर्ण मधुर ध्वनि सुनाती है उसके रूप में सुन्दर परमात्मा ही अभिव्यक्त हुआ है।

कोयल तो इतनी सुन्दर और कौवे को क्या भद्दा कहेगे ? नहीं, कौवे का भी गौरव करो। मुझे तो वह बहुत प्रिय है। उसका वह घना काला रंग और तीखी आवाज क्या बुरी है ? नही, वह भी मीठी है। जब वह पंख फडफडाता हुआ आता है तो कितना सुन्दर लगता है। छोटे बच्चों का चित्त खींच लेता है। नन्हा बच्चा बन्द घर मे खाना नहीं खाता। बाहर आंगन मे बैठकर उसे जिमाना पडता है और कौवे को दिखाकर उसे एक एक कौर खिलाना पडता है। कौवे के प्रति स्नेह रखने वाला वह बच्चा, क्या वह पागल है ? पागल नही, उसमें ज्ञान भरा हुआ है। कौवे के रूप मे व्यक्त परमेश्वर से वह बच्चा फौरन एक रूप हो जाता है। माता कौर दही मे डुबोती है या दूध मे—इसमे उस बच्चे को कोई रस नहीं। उसे आनन्द है कौवे के पंख फडफड़ाने मे। उसके झूठ-मूठ मुंह नचाने मे। सृष्टि के प्रति छोटे बच्चो को जो इतना कौतुक मालूम होता है उसी पर तो सारी ईसप नीति की इमारत खडी है। ईसप को सर्वत्र ईश्वर दिखाई देता था। अपनी प्रिय पुस्तको की सूची मे मै ईसप नीति का नाम सबसे पहले लिखूंगा भूलूंगा नही। ईसप के राज्य मे दो हाथों वाला, दो पांवो वाला यह मनुष्य प्राणी ही अकेला नहीं है। उसमे कुत्ते, कौवे, हिरन, खरगोश, कछुए, सांप, केचुए सभी बातचीत करते है और हँसते हैं। एक प्रचंड सम्मेलन ही समझिए न ? ईसप से सारी चराचर सृष्टि बातचीत करती है। उसे दिव्य दर्शन प्राप्त होगया है। रामायण भी इसी तत्त्व पर, इसी दृष्टि पर रची गई है। तुलसीदास ने राम की बाल-लीला का वर्णन किया है। राम आंगन में खेल रहे है। एक कौआ पास आता है, राम उसे आहिस्ता से पकडना चाहते हैं। कौआ पीछे फुदक जाता है, अन्त को राम थक जाते हैं। परन्तु इतने में ही उन्हे एक तरकीब सूझती है। मिठाई का एक टुकडा लेकर राम कौवे के पास

जाते हैं। राम टुकड़ा जरा आगे वढाते है, कौआ कुछ नजदीक आता है, इस वर्णन में तुलसीदास ने कई पृष्ठ खर्च किये हैं। क्योकि वह कौआ परमेश्वर है। राम की मूर्ति का अंश ही उस कौवे मे भी है। राम और कौवे की वह पहचान मानो परमात्मा से परमात्मा की पहचान है।

(६)

सार यह कि इस प्रकार इस सारी सृष्टि मे विविध रूपो मे—पवित्र नदियो के रूप में, विशाल पर्वतो के रूप मे, गम्भीर सागर के रूप में, वत्सल गो-माता के रूप में, उत्कृष्ट घोडे के रूप मे, भव्य सिह के रूप मे, मधुर कोयल के रूप मे, सुन्दर मोर के रूप में, स्वच्छ व एकान्त-प्रिय सर्प के रूप मे, पंख फड-फडानेवाले कौवे के रूप मे, उछल-कूद करने वाली या छट-पटानेवाली ज्वालाओं के रूप मे, प्रशान्त तारों के रूप में सर्वत्र परमात्मा ही छाया और समाया हुआ है। जरूरत है हमे अपनी आंखो को उसे देखने का अभ्यास कराने की। पहले मोटे और सरल अक्षर, फिर बारीक और सयुक्ताक्षर सीखने चाहिए। जबतक संयुक्ताक्षर न सीख लेंगे तबतक प्रगति नही हो सकती। सयुक्ताक्षर कदम-कदम पर आते है। अत. दुर्जनो मे स्थित परमात्मा को देखना भी सीखना चाहिए। राम समझ मे आता है, परन्तु रावण भी समझ मे आना चाहिए। प्रह्लाद जंचता है, परन्तु हिरण्यकशिपु भी जंचना चाहिए। वेद में कहा है:—

"नमो नमः स्तेनानां पतये नमो नमः
नमः पुञ्जिष्टेभ्यो नमो निषादेभ्यः"
"ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा
ब्रह्मैवेमे कितवाः।"

उन डाकुओ के सरदारों को नमस्कार! उन क्रूरो को, उन हिसको को नमस्कार। ये ठग, ये चोर, ये डाकू सब ब्रह्म ही है। इन सबको नमस्कार।

इसका अर्थ क्या ? इसका अर्थ यह कि सरल अक्षर तो सीख गये अब कठिन अक्षरों को भी सीखो। कारलाइल ने 'विभूति-पूजा' नामक एक पुस्तक लिखी है। उसने उसमे नेपोलियन को भी एक विभूति कहा है। इसमें शुद्ध परमात्मा नहीं है, मिश्रण है। परन्तु इस परमेश्वर को भी पचा लेना चाहिए। इसीलिए तुलसीदास ने रावण को राम का विरोधी भक्त कहा है। हां, इस भक्त के रंग-ढंग जरा भिन्न है। आग से जल जाने पर पांव सूज जाता है, परन्तु सूजन पर सेंक करने से वह ठीक हो जाता है। दोनों जगह तेज एक ही। पर आविर्भाव भिन्न-भिन्न है। राम और रावण में आविर्भाव भिन्न-भिन्न दिखाई दिया तो भी वह है एक ही परमेश्वर का।

स्थूल व सूक्ष्म, सरल और जटिल, सरल अक्षर व संयुक्ताक्षर सब सीखो और यह अनुभव करो कि अन्त मे एक परमेश्वर के सिवाय दूसरा कही कुछ नही है। अणु-रेणु मे भी वही है; एक चींटी से लेकर सारे ब्रह्मांड तक सर्वत्र परमात्मा ही परिपूर्ण-रूप से व्याप्त है। सबकी एक-सी चिन्ता रखनेवाला कृपालु, ज्ञान-मूर्ति, वत्सल, समर्थ, पावन, सुन्दर, परमात्मा हमारे चारो ओर सर्वत्र विद्यमान् है।

ग्यारहवां अध्याय

रविवार, १-५-३२

(१)

भाइयो, पिछली बार हमने इस बात का अभ्यास किया कि इस विश्व की इन अनन्त वस्तुओ मे व्याप्त परमात्मा को हम कैसे पहचानें और हमारी आंखो को जो यह विराट् प्रदर्शिनी दिखाई देती है उसे आत्मसात् कैसे करें ? पहले स्थूल, फिर सूक्ष्म, पहले सरल, फिर जटिल—इस प्रकार सब चीजो मे भगवान् को देखे, उसका साक्षात्कार करें, अहर्निश अभ्यास करके सारे विश्व को आत्मरूप देखना सीखें—यह हमने पिछले अध्याय मे देख लिया।

अब आज ग्यारहवें अध्याय पर नजर डालना है। इस अध्याय में भगवान् ने अपना प्रत्यक्ष रूप दिखाकर अर्जुन पर अपनी परम कृपा दिखलाई है। अर्जुन ने भगवान् से कहा—"प्रभो, मै आपका वह सम्पूर्ण रूप देखना चाहता हूं। आपका वह रूप जिसमे आपका सारा महान् प्रभाव प्रकट हुआ हो, मुझे इन आंखो से दिखाओ।" इस तरह अर्जुन विश्व-रूप का दर्शन करना चाहता था।

हम रोज ही 'विश्व', 'जग'—इन शब्दो का प्रयोग करते है। यह 'जग' विश्व का एक छोटा-सा भाग है। यह छोटा-सा टुकडा भी हमारी बुद्धि मे ठीक-ठीक नही समा सकता। सारे विश्व की दृष्टि से देखें तो यह जग जो हमें इतना विशाल दिखाई देता है, अतिशय तुच्छ मालूम होगा। रात के समय आकाश की ओर दृष्टि डालें तो उसमें अनन्त गोल दिखाई देते है। आकाश के आंगन की वह बेल-बूटे की पंक्ति

आकाश गंगा—वे छोटे-छोटे सुन्दर फूल, वे लुक-लुक करनेवाले लाखों तारे इन सब का स्वरूप आप जानते हैं? ये जो छोटे-छोटे-से तारे दीखते हैं वे महान् प्रचण्ड हैं। इतने कि उनके अन्दर हमारे अनन्त सूर्यों का समावेश हो जायगा। वे रसमय तेजोमय ज्वलन्त धातुओं के गोल-पिण्ड है। अब इन अनन्त पिण्डों का हिसाब कौन लगावेगा? गिनती कौन करेगा? न इनका अन्त है न पार। खाली आंखो से ही ये हजारो दीखते है; दूरबीन से देखे तो करोडो दिखाई देते है; और बडी दूरबीन हो तो परार्ध से भी ज्यादा दीखने लगेंगे। और यह समझ मे आना कठिन हो जायगा कि आखिर इसका अन्त कहां है? यह अनन्त सृष्टि, जो ऊपर-नीचे सब जगह फैली हुई है, उसका एक छोटा-सा टुकडा यह 'जग' कहलाता है। परन्तु यह जग भी कितना विशालकाय दीख पडता है!

यह विशाल सृष्टि भी परमेश्वर के स्वरूप का एक पहलू है। अब उसका दूसरा पहलू लो। वह है काल—यदि हम पिछले समय—काल पर निगाह दौडावे तो इतिहास की मर्यादा मे बहुत हुआ तो दस हजार साल तक हम पीछे जा सकेंगे। परन्तु अगला—आगे का समय तो ध्यान मे ही नही आता। इतिहास-काल १० हजार वर्षों का ले लो, परन्तु खुद हमारा जीवन-काल ले-देकर कुल १०० साल का ही। इस तरह सच पूछो तो काल का विस्तार अनादि व अनन्त है। अबतक कितना काल बीता है इसका कोई हद-हिसाब नही। आगे कितना काल है, इसकी कोई कल्पना नही होती। हमारा यह 'जग' जैसे विश्व की तुलना में बिलकुल तुच्छ है, वैसे ही इतिहास के दस हजार साल अनन्त काल की तुलना में कुछ भी नहीं हैं। भूतकाल अनादि है व भविष्य काल अनन्त है। यह छोटा-सा वर्तमान-काल बात करते-करते भूतकाल में चला जाता है—वर्तमान-काल सचमुच कहां है यह बताने जाते हैं तबतक वह भूतकाल में विलीन हो जाता है। ऐसा यह अत्यंत चपल वर्तमान-काल मात्र हमारा है। मैं अभी बोल रहा हूं, परन्तु मुंह

से शब्द निकला नही कि वह भूतकाल मे गडप हुआ नहीं। इस तरह यह महान् काल-नदी एक-सी बह रही है। न उसके उद्गम का पता है न अन्त का! बीच का थोडा-सा प्रवाह-मात्र अलबत्ता हमे दिखाई देता है।

इस प्रकार एक ओर स्थल या देश का प्रचण्ड विस्तार और दूसरी ओर काल का जबरदस्त प्रवाह--इन दोनो दृष्टियो से सृष्टि की ओर देखें तो हम अपनी कल्पना-शक्ति को कितना ही बढावे--कितना ही खीचें, हम इसी नतीजे पर पहुंचेगे कि इसका कोई अन्त नही है। तीनो काल व तीनो स्थल या देश मे भूत-भविष्य-वर्तमान मे व ऊपर, नीचे तथा यहां सब जगह व्याप्त विराट् परमेश्वर एकाएक व एकबारगी दिखाई दे, परमेश्वर का इस रूप मे दर्शन हो, ऐसी इच्छा अर्जुन के मन में उत्पन्न हुई है। इस इच्छा मे से ही ग्यारहवां अध्याय प्रकट हुआ है।

अर्जुन भगवान् को बहुत ही प्यारा था। कितना प्यारा था? तो इतना कि दसवे अध्याय मे जहा यह बताया गया है कि किन-किन स्वरूपों मे मेरा चिन्तन करो, तहां भगवान कहते है--पांडवो मे जो अर्जुन है उसके रूप मे मेरा चिन्तन करो। श्रीकृष्ण कहते है--"पांडवों मे धनञ्जय।" इससे अधिक प्रेम का पागलपन, प्रेमोन्मत्तता, और क्या होगी? यह इस बात का उदाहरण है कि प्रेम कितना पागल हो सकता है? अर्जुन पर भगवान् की अपार प्रीति थी। यह ग्यारहवां अध्याय मानो उस प्रीति का प्रसाद-रूप है। दिव्यरूप देखने की अर्जुन की इच्छा को भगवान् ने उसे दिव्यदृष्टि देकर पूरा किया। अर्जुन को उन्होने अपने प्रेम का प्रसाद दिया।

(२)

उस दिव्य-रूप का सुन्दर वर्णन, भव्य वर्णन इस अध्याय मे है। यद्यपि यह सब सच है तो भी इस दिव्य-रूप के विषय मे मै अधिक लोभ न दिखा सकूंगा। मै छोटे-से रूप से ही सन्तुष्ट हू। जो छोटा-सा सुन्दर सौम्य रूप मुझे दीखता है उसी का स्वाद, आनंद लेने का

अभ्यास मुझे हो गया है। परमेश्वर टुकडो में विभाजित नहीं है। मुझे ऐसा नही प्रतीत होता कि परमेश्वर का जो रूप हम देख पाते है वह उसका एक टुकडा है और बाकी परमेश्वर बाहर बचा हुआ है। बल्कि मै देखता हूं कि जो परमेश्वर इस विराट विश्व मे व्याप्त है वही सम्पूर्ण रूप मे जैसा-का-तैसा एक छोटी-सी मूर्ति मे, मिट्टी के एक कण मे भी व्याप्त है, कम किसी कदर नही। अमृत के सिन्धु मे जो स्वाद होगा, जो मिठास होगी, वही एक बिन्दु मे भी होती है। मुझे लगता है अमृत की जो एक छोटी-सी बूंद मुझे मिल गई है उसी का मजा मैं लेता रहूं। अमृत का दृष्टान्त मैंने जान-बूझकर लिया है। पानी या दूध का नही लिया है। एक प्याले दूध मे जो स्वाद होगा वही एक लोटे भर दूध मे होगा। परन्तु स्वाद चाहे वही हो, पुष्टि उतनी ही नहीं हो सकती। एक बूंद दूध की अपेक्षा एक प्याले दूध से पुष्टि जरूर अधिक मिलेगी। परन्तु अमृत के उदाहरण मे यह बात नही है। अमृत के समुद्र की मिठास तो अमृत के एक बूंद मे हई है, परन्तु उसके अलावा पुष्टि भी उतनी ही है। यदि बूंद भर अमृत भी गले के नीचे उतर गया तो भी उससे अमृतत्व मिले विना न रहेगा।

उसी तरह जो दिव्यता, जो पवित्रता परमेश्वर के विराट स्वरूप मे है वही एक छोटी-सी मूर्ति मे भी है। यदि किसी ने एक मुट्ठी भर गेहूं मुझे नमूने को लाकर दिये और उन पर से यदि मै गेहूं न पहचान सका तो फिर बोरी भर गेहूं से भी कैसे पहचान सकूंगा? छोटे ईश्वर का जो नमूना मेरी आंखों के सामने है उससे यदि ईश्वर को मैंने नही पहचाना तो फिर विराट परमेश्वर को देखकर भी मै कैसे पहचानूंगा? छोटे-बडे इन शब्दो मे क्या है? छोटे रूप को पहचान लिया तो बडे की पहचान हो ही गई। अतः मुझे यह आकांक्षा नही होती कि ईश्वर अपना वडा रूप मुझे दिखावे। अर्जुन की तरह विश्वरूप-दर्शन की मांग करने की योग्यता भी मुझ में नही है। फिर जो कुछ मुझे दीखता है वह विश्व-रूप का कोई टुकडा है, ऐसी वात नहीं। किसी तस्वीर

का कोई टूटा टुकडा ले आवे तो उससे सारे चित्र का खयाल हमे नहीं हो सकता। परन्तु परमात्मा इस तरह टुकडो से बना हुआ नही है। परमात्मा न तो कटा हुआ है, न खण्ड-खण्ड किया हुआ है। एक छोटे से स्वरूप-शक्ल मे भी वह अनन्त परमेश्वर सारा-का-सारा ही संचित, समाया हुआ है। छोटे फोटो व बडे फोटो मे क्या फर्क है? जो बातें बडे फोटो मे होती हैं वही सब छोटे फोटो मे भी होती है। छोटा फोटो बडे फोटो का टुकडा नही है। छोटे टाईप मे पुस्तक छपी हो तो भी वही अर्थ होगा व बडे टाईप मे छपी होगी तो भी वही होगा। बड़े टाईप मे बडा अर्थ व छोटे मे छोटा अर्थ होता हो सो बात नही।

मूर्ति-पूजा का आधार यही विचार-पद्धति है। मूर्ति-पूजा पर अब तक अनेक लोगो ने हमले किये है। विदेशी व कुछ देशी विचारको ने भी मूर्ति-पूजा का खण्डन किया है। परन्तु मै ज्यो-ज्यो विचार करता हूं त्यो-त्यो मूर्ति-पूजा की दिव्यता मेरे सामने स्पष्ट खडी हो जाती है। मूर्ति-पूजा का अर्थ क्या है? एक छोटी-सी चीज मे सारे विश्व को अनुभव करने की विद्या मूर्ति-पूजा है। एक छोटे-से गांव मे सारे ब्रह्माण्ड को देखने की विद्या सीखना यह बात क्या गलत है? यह कल्पना नहीं, प्रत्यक्ष अनुभव की बात है। विराट स्वरूप मे जो-कुछ है वही सब एक छोटी-सी मूर्ति मे है, वही एक रज-कण मे है। देखो, उस मिट्टी के ढेले के भीतर आम, केले, गेहू, सोना, तांबा, चांदी सभी कुछ है। सारी सृष्टि उसके एक-एक कण के अंदर है। जिस तरह किसी छोटी नाटक-मण्डली में कुछ ही पात्र बार-बार भिन्न-भिन्न रूप बनाकर रंग-भूमि पर आते है, उसी तरह परमेश्वर को समझो। जैसे कोई एक नाटककार खुद ही नाटक लिखता है और खुद ही नाटक मे काम भी करता है उसी तरह परमात्मा भी अनंत नाटक लिखता है व खुद अनंत पात्रो के रूप मे सजकर रंग-भूमि पर अभिनय करता है। इस अनत नाटक का एक पात्र पहचान लिया तो फिर सारे पात्रो को पहचाना ही समझना चाहिए।

काव्य की उपमा, दृष्टान्त आदि का जो आधार है वही मूर्ति-पूजा का भी है। किसी गोल वस्तु को हम देखते है तो हमे आनंद होता है। क्योकि उसमें एक प्रकार की व्यवस्थितता होती है। व्यवस्थितता ईश्वर का एक स्वरूप है। ईश्वर की सृष्टि सर्वांग सुन्दर है। उसमे व्यवस्थितता है। वह गोल वस्तु क्या है, व्यवस्थित ईश्वर की मूर्ति ही है। इसके विपरीत जंगल में खडा टेढा-तिरछा पेड भी ईश्वर की ही मूर्ति है। उसमे ईश्वर की स्वच्छन्दता है। उस पेड को कोई बंधन नही है। ईश्वर को कौन बन्धन मे डालेगा? वह बन्धनातीत परमेश्वर उस टेढे-मेढे पेड मे है। जब कोई सीधा-सरल खम्भा दीखता है तो उसमे ईश्वर की समता दिखाई देती है। नक्काशीदार खम्भा देखें तो उसमे आकाश मे नक्षत्रो के बेल-बूटे काढने वाला परमेश्वर दिखाई देता है। किसी कटे-छंटे व्यवस्थित बाग मे ईश्वर का संयमी रूप दिखाई देता है, तो किसी विशाल वन मे ईश्वर की भव्यता व स्वतंत्रता के दर्शन होते है। जंगल मे भी आनंद मिलता है व व्यवस्थित बाग में भी। तो फिर क्या हम पागल है? नही है; आनन्द दोनो मे ही होता है, क्योंकि ईश्वरी गुण प्रत्येक मे प्रकट हुआ है। एक चिकने शालग्राम की बट्टी में जो ईश्वरी तेज है वही एक बेतरतीब नर्मदा के पत्थर मे है। अतः मुझे वह विराट-स्वरूप अलहदा न भी दिखाई दे तो हर्ज नही।

परमेश्वर सर्वत्र भिन्न-भिन्न वस्तुओ मे भिन्न-भिन्न गुणो के द्वारा प्रकट हुआ है और इसीसे हमको आनन्द होता है—उस वस्तु के विषय मे आत्मीयता प्रतीत होती है। जो आनन्द होता है वह अकारण नही। आनन्द होता क्यो है? उससे कुछ-न-कुछ नाता होता है इसीसे आनन्द होता है। बच्चे को देखते ही मां का हिया उछलने लगता है। क्योकि वह नाता जानती है। इस तरह प्रत्येक वस्तु से परमात्मा का नाता जोडो। मुझ में जो परमेश्वर है वही उस वस्तु में है। इस प्रकार संबंध बढाना मानो आनन्द बढाना ही है। आनन्द की और कोई उपपत्ति नहीं है। आप प्रेम का संबंध सब जगह जोडने लगिए।

फिर देखिए, कितना आनन्द आता है। तब अनन्त सृष्टि मे व्याप्त परमात्मा अणु-रेणु मे भी दिखाई देगा। एक बार यह दृष्टि प्राप्त हुई तो फिर क्या चाहिए ! परन्तु इसके लिए इन्द्रियो को संस्कार की, अभ्यास डालने की जरूरत है। हमारी भोगवासना छूटकर जब हमें प्रेम की पवित्र दृष्टि प्राप्त होगी तो फिर प्रत्येक वस्तु मे ईश्वर ही दिखाई देगा। उपनिषदो मे इस बात का बडा सुन्दर वर्णन है कि आत्मा का रंग कैसा होता है। आत्मा का रंग क्या बताया जाय ? ऋषि प्रेमपूर्वक कहते है—

"यथा अयं इन्द्रगोप·"

यह जो लाल-लाल रेशम-सा मुलायम मृग का कीडा—वीरबहूटी—है, उसकी तरह आत्मा का रूप है। उस मृग के कीडे को देखते है तो कितना आनन्द होता है। यह आनन्द क्यो होता है ? मेरा अपने प्रति जो भाव है वही भाव इन्द्रगोप के प्रति है। यदि मुझसे उसका कुछ संबध न होता तो आनन्द नही हो सकता था। मेरे अन्दर जो सुन्दर आत्मा है वही इन्द्रगोप मे भी है। इसीलिए उसकी उपमा दी। उपमा क्यो देते है ? उससे आनन्द क्यो होता है ? हम उपमा इसलिए देते हैं कि उन दो वस्तुओ मे साम्य होता है और इसीसे आनन्द होता है। यदि उपमेय और उपमान बिलकुल भिन्न-भिन्न हो तो आनन्द नही होगा। यदि कोई यह कहे कि नमक मिर्च की तरह है तो हम उसे पागल कहेगे। पर यदि कोई कहे कि तारे फूलो की तरह है तो उनमे साम्य दिखाई देगा और हमको आनन्द होगा। जब हम यह कहते हैं कि नमक मिर्च की तरह है तो उसमें सादृश्य का अनुभव नही होता। परन्तु यदि किसी की दृष्टि इतनी विशाल हो गई हो कि जो परमात्मा नमक में है वही मिर्च मे भी है, जिसको ऐसा दर्शन हुआ हो, वह यदि यह कहे कि नमक मिर्च की तरह है तो वह इसमे अवश्य आनन्द का अनुभव करेगा। सारांश यह कि ईश्वरीय रूप प्रत्येक वस्तु मे लबालब भरा हुआ है। उसके लिए विराट दर्शन की आवश्यकता नहीं।

(३)

फिर वह विराट दर्शन मुझे सहन भी कैसे होगा ? छोटे सगुण सुन्दर रूप के प्रति मुझे जो प्रेम मालूम होता है, जो अपनापन लगता है, जो मधुरता मालूम होती है उसका अनुभव विश्व-रूप देखने में कदाचित् न हो। यही स्थिति अर्जुन की हो गई। वह थर-थर कांपते हुए अन्त मे कहता है, भगवन्, अपना वही पहले वाला मनोहर रूप दिखाओ। अर्जुन स्वानुभव से कहता है कि विराट स्वरूप देखने की इच्छा न करो। ईश्वर, जो तीनो कालो और तीनो स्थलो—देश—में व्याप्त है,यही अच्छा है। वह सारा सिमट कर यदि धधकता हुआ गोला बनकर मेरे सामने आकर खडा हो जाय तो मेरी क्या दशा होगी ? यह तारे कितने शान्त दिखाई देते है। ऐसा प्रतीत होता है,मानो इतनी दूर से मुझसे बाते कर रहे हो। परन्तु वही दृष्टि को शान्त करनेवाला तारा यदि नजदीक आ जाय तो धधकती हुई आग ही है। मै खाक ही होकर रहूंगा। ईश्वर के ये अनन्त ब्रह्माण्ड जहां जैसे है, वहीं रहने दीजिए। उन सबको एक ही कमरे मे इकट्ठा कर देने से क्या आनन्द है ? बम्बई के उस कबूतरखाने मे हजारो कबूतर रहते हैं, वहां उन्हे क्या आजादी है ? वह दृश्य बडा अटपटा मालूम होता है। मजा इसी मे है जो यह सृष्टि ऊपर, नीचे, यहां इन तीन स्थलो मे विभाजित है। जो बात स्थलात्मक सृष्टि की है, वही कालात्मक सृष्टि के लिए भी है। हमे जो भूतकाल की स्मृति नही रहती और भविष्य का ज्ञान नही होता, इसमे हमारा कल्याण ही है। कुरान शरीफ मे पांच ऐसी वस्तुएं बताई गई है जिनमे सिर्फ परमेश्वर की ही सत्ता है, मनुष्य प्राणी की सत्ता बिलकुल नहीं है। उनमे एक है—भविष्यकाल का ज्ञान। हम अन्दाज जरूर लगाते हैं, परन्तु अन्दाज का अर्थ ज्ञान नही है। भविष्य का जो ज्ञान हमे नही होता इसमे हमारा कल्याण ही है। परन्तु भूतकाल की जो स्मृति हमे नही रहती, वह तो सचमुच ही बडी शुभ बात है। कोई दुर्जन यदि सज्जन बनकर भी मेरे सामने आवे तो भी

उसके भूतकाल की स्मृति मुझे होकर उसके प्रति मन मे आदर नही होता। वह सौ-सौ कसमे खाये तो भी उसके पिछले पापो को मै सहसा नही भुला सकता। संसार उसके पापो को उसी अवस्था में भूल सकेगा जब कि वह मनुष्य मर कर दूसरे रूप मे हमारे सामने आयेगा।

पूर्व स्मरण से विकार बढ़ते हैं। परन्तु यदि पहले का सारा ज्ञान ही नष्ट हो गया तो फिर सब खतम। अत. पाप-पुण्य को भूल जाने की कोई युक्ति होनी चाहिए। वह है मरण। जब हमे इसी जन्म की वेदनाएं असह्य लगती है तब फिर पिछले जन्मो के कूडे-करकट की खोज क्यों करे ? अपने इसी जन्म के कमरे मे क्या कम कूडा-करकट है ? अपना बचपन भी हम बहुत-कुछ भूल जाते है। यह विस्मृति लाभ-दायी ही है। हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के लिए भूतकाल का विस्मरण ही एकमात्र उपाय है। औरंगजेब ने बडा जुल्म ढहाया—इसको कितने दिनो तक रटते रहोगे ? गुजराती मे रतनबाई का एक गरबा-गीत है। उसे हम बहुत बार यहां सुनते है। उसके अन्त मे कहा है—'संसार मे सबकी कीर्ति ही अन्त मे रह जायगी। पाप को लोग भूल जायंगे।' यह काल छननी कर रहा है। इतिहास में जितना कुछ अच्छा हो उतना ले लेना चाहिए, जो कुछ पाप हो उसे फेक देना चाहिए। मनुष्य यदि बुराई को भूलकर या छोडकर सिर्फ अच्छाई को ही याद रखे तो क्या बहार हो ? परन्तु मनुष्य से सहसा ऐसा नही होता। इसलिए विस्मृति की आवश्यकता है। और इसीलिए भगवान् ने मृत्यु का निर्माण किया है।

मतलब यह है कि यह जग जैसा है वैसा ही मंगल-रूप है। इस काल-स्थलात्मक जग को एक जगह एकत्र करने की जरूरत नही है। अति-परिचय मे फिर मजा नही रहता। कुछ चीजे ऐसी हैं जिनसे घनिष्ठता करने की जरूरत होती है, और कुछ ऐसी होती हैं जिनसे 'साहब सलामत दूर की अच्छी'। गुरु से नम्रता-पूर्वक हम दूर रहते हैं, परन्तु मां की गोदी में जाकर बैठ जाते हैं। जिस मूर्ति के साथ जैसा

व्यवहार करने की जरूरत होती है वैसा ही व्यवहार करना चाहिए। फूल को हम नजदीक लाते व लेते है, परन्तु आग से बचकर रहते है। तारे दूर से ही सुन्दर लगते है। यही हाल इस सृष्टि का है। अति दूर वाली सृष्टि को अति निकट लाने से हमे सुख व आनंद होगा, सो बात नही। जो चीज जहां है उसे वही रहने देने मे लुत्फ है। जो चीज दूर से रम्य मालूम होती है उसको नजदीक लाने से वह अवश्य सुखदायी होगी ऐसा नही कह सकते। उसे वही दूर रखकर उसके रस को चखना चाहिए। ढीठ बनकर बहुत घनिष्ठता या निकटता के द्वारा अति परिचय कर लेने में कुछ सार नही है।

सारांश यह कि तीनो काल जो हमारे सामने आकर खडे नहीं होते है सो अच्छा ही है। तीनो काल का ज्ञान होने से आनन्द अथवा कल्याण होगा ही, ऐसा नहीं कह सकते। अर्जुन ने जब प्रेमवश हो हठ पकड ली, प्रार्थना की, तो भगवान् ने उसको मंजूर कर लिया। उन्होने उसे विराट स्वरूप दिखलाया। परन्तु मुझे तो भगवान् का छोटा-सा रूप ही काफी मालूम होता है। इस छोटे रूप को परमेश्वर का टुकडा मत समझो। और यदि टुकडा भी हो तो उस अपार व विशाल मूर्ति का एक पैर या एक पैर की उंगली ही मुझे दीख गई तो भी मै कहूंगा- "धन्य है मेरा भाग्य!" अनुभव से मैने यह ज्ञान पाया है। जमनालालजी ने जब वर्धा मे लक्ष्मीनारायण का मन्दिर हरिजनो के लिए खोल दिया तो उस समय मै दर्शन के लिए गया था। १५-२० मिनट तक उस रूप को देखता रहा। समाधि लगने जैसी स्थिति मेरी होगई। भगवान् का वह मुख, वह छाती, वे हाथ-पाव देखते-देखते पांवो तक पहुचा व अन्त मे चरणो पर जाकर दृष्टि स्थिर होगई। 'मधुर तेरी चरण-सेवा'—यही भावना अन्त मे रह गई। यदि एक छोटे-से रूप में वह महान् प्रभु न समा जाता हो तो फिर उस महापुरुष के चरण ही दिख जाना काफी है। अर्जुन ने ईश्वर से प्रार्थना की थी। उसका अधिकार बड़ा था। उसकी कितनी घनिष्ठता, कितना प्रेम, कैसा सख्य भाव

था! उनके मुकाबले मे मेरी क्या तुलना? मुझे तो चरण ही बस हैं, मेरा अधिकार इतना ही है।

(४)

उस परमेश्वर के दिव्य रूप का जो वर्णन है, उसमे बुद्धि चलाने की मेरी इच्छा नही। उसमे बुद्धि चलाना मुझे पाप मालूम होता है। उस विश्व-रूप वर्णन के उन पवित्र श्लोको को हम पढते रहे व पवित्र हों। बुद्धि चलाकर परमेश्वर के उस रूप के टुकडे करने की आवश्यकता मुझे नहीं मालूम होती। वह अघोर-उपासना हो जायगी। अघोर-पन्थी लोग स्मशान मे जाकर मुर्दे चीरते है व तंत्रोपासना करते है। ऐसी ही वह क्रिया हो जायगी। परमेश्वर के उस दिव्य रूप—

"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो
विश्वतो बाहुरुत विश्वत स्यात ॥

ऐसे विशाल व अनन्त रूप और उसके वर्णनात्मक श्लोको का पाठ ही करना चाहिए। उनके पाठ से हमे अपना मन, निष्पाप व पविन्न बनाना चाहिए।

परमेश्वर के इस सारे वर्णन मे सिर्फ एक ही जगह बुद्धि विचार करने लगती है। परमेश्वर अर्जुन से कहते हैं—"अर्जुन, ये सब मरने ही वाले है—तू तो निमित्त-मात्र होजा, करने धरने वाला तो सब-कुछ मैं हूं।" यही ध्वनि मन मे गूंजती रहती है। जब यह भाव मन मे आता है कि हम ईश्वर के हाथ के एक हथियार-एक साधन-मात्र बनें, तो बुद्धि विचार करने लगती है—ईश्वर के हाथ का औजार बनें कैसे? उसके हाथ की मुरली बनूं कैसे? कैसे वह अपने ओठ से मुझे लगा ले व मधुर सुर निकाले? क्या करूं जिससे वह मुझे बजाने लगे? मुरली बनना हो तो पहले खोखला बनना होगा। पर मुझमे तो विकार व वासनाएं ठसा-ठस भर रही है। ऐसी दशा मे मुझमें से मधुर स्वर कैसे निकलेगा? मेरा सुर तो भद्दा है-बेसुरा है। मैं घन वस्तु हूं। मुझमे अहंकार भरा हुआ है। अत पहले मुझे निरहंकार होना चाहिए। जब मैं

सोलहों आना मुक्त, खाली हो जाऊंगा तभी परमेश्वर मुझे बजावेगा। परन्तु परमेश्वर के ओठो की मुरली बनना है बडे साहस का काम। यदि यह चाहें कि उसके पैरो की जूतियां बनूं तो यह भी आसान नहीं है। वह ऐसी मुलायम जूती होनी चाहिए कि परमेश्वर के पांव में जरा भी छाले न होने पावे। परमेश्वर के पांव व कांटे-कङ्कर इनके बीच में मुझे पड जाना है। मुझे अपने को कमाना होगा। अपनी खाल उतार कर उसे सतत कमाते रहना होगा-मुलायम बनाना होगा। अतः परमेश्वर के पांवो की जूती बनना भी आसान नही है। यदि परमेश्वर के हाथ का औजार—हथियार बनना हो तो दस सेर वजन का लोहे का गोला बन जाने से काम नहीं चलेगा। तपश्चर्या की सान पर अपने को चढाकर तेज धार बनानी होगी। ईश्वर के हाथ मे मेरी जीवन-रूपी तलवार चमकनी चाहिए, यह गुंजार मेरी बुद्धि मे होने लगता है। भगवान् के हाथ का एक औजार बना रहूं—इसी विचार मे निमग्न हो जाता हूं। अब यह कैसे हो, इसकी विधि खुद ही भगवान् ने अन्तिम श्लोकों मे बता दी है। श्री शंकराचार्य ने अपने भाष्य मे इस श्लोक को 'सर्वार्थसार' बतलाया है। वह श्लोक यह है—

मत्कर्म कृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैर. सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥
मेरे अर्थ करे कर्म, मत्परायण भक्त जो।
जो अनासक्त निर्वैर सो आ,के मिलते मुझे॥

जिसका संसार मे किसी से वैर नही, जो तटस्थ रह कर संसार की निरपेक्ष सेवा करता है, जो-कुछ करता है सो सब मुझे अर्पित कर देता है, मेरी भक्ति से सराबोर है, क्षमावान्, नि.संग, विरक्त, प्रेममय जो भक्त है वह परमेश्वर के हाथ का औजार या हथियार बनता है। यह सर्वार्थसार है।

बारहवां अध्याय

रविवार, ८-५-३२

(१)

गंगा का प्रवाह यो तो सभी जगह पावन व पवित्र है, परन्तु हर-द्वार, काशी, प्रयाग जैसे स्थान अधिक पवित्र है। उन्होने सारे संसार को पवित्र कर दिया है। भगवद्गीता का भी यही हाल है। भगवद्गीता यो तो शुरू से आखीर तक सभी जगह पवित्र है। परन्तु बीच मे कुछ अध्याय ऐसे है जो तीर्थ-क्षेत्र बन गये हैं। आज जिस अध्याय के संबंध मे हमे कहना है वह बडा पवित्र, तीर्थ-जैसा बन गया है। खुद भगवान् भी इसे 'अमृत-धारा' कहते है—"ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्यु-पासते।" यह अध्याय है तो छोटा-सा, केवल बीस ही श्लोको का—परन्तु पूरी अमृत की धारा ही है। अमृत की तरह मधुर है, संजीवन है। इस अध्याय मे भगवान् ने स्वमुख से भक्ति-रस की महिमा का तत्त्व बताया है।

यो तो वास्तव में छठे अध्याय से भक्ति-तत्त्व प्रारम्भ होगया है। पांचवे अध्याय के अन्त तक जीवन-शास्त्र का प्रतिपादन हुआ। स्वधर्माचरण रूप कर्म, उसके लिए सहायक मानसिक साधना-रूप विकर्म इन दोनों की साधना से सम्पूर्ण कर्मो को भस्म करने वाली अन्तिम अकर्म की भूमिका—इतनी बातो का विचार पहले पांच अध्यायो तक हुआ। यहां तक जीवन-शास्त्र समाप्त हो गया। अब छठे अध्याय से एक तरह से भक्ति-तत्त्व का ही विचार ग्यारहवे अध्याय के अन्त तक चला। एकाग्रता से शुरुआत हुई। छठे अध्याय में यह बताया गया कि चित्त की एकाग्रता कैसे हो सकती है, उसके क्या-क्या साधन है व उसकी क्यो आवश्यकता है? ग्यारहवे अध्याय मे समग्रता बताई गई है।

अब यहां देखना चाहिए कि एकाग्रता से लेकर समग्रता पर्यंत इतनी लम्बी मंजिल हमने कैसे तय की ?

चित्त की एकाग्रता से शुरुआत हुई। एकाग्रता सिद्ध होने पर किसी भी विषय का विचार मनुष्य कर सकता है। चित्त की एकाग्रता का उपयोग—मेरा प्रिय विषय यदि ले तो गणित के अध्ययन मे हो सकेगा। उस से अवश्य फल-लाभ होगा। परन्तु यह चित्त की एकाग्रता का सर्वोत्तम साध्य नहीं है। गणित के अध्ययन में एकाग्रता की पूरी कसौटी–परीक्षा नही होती। गणित मे अथवा ऐसे-ही किसी भी ज्ञान-प्रान्त मे चित्त की एकाग्रता से सफलता तो मिलेगी। परन्तु यह सच्ची परीक्षा नही है। इसलिए सातवें अध्याय मे यह बताया गया है कि हमारी दृष्टि भगवान् के चरणो की ओर होनी चाहिए। आठवे अध्याय मे कहा गया कि भगवान् के चरणो मे एकाग्रता सतत रहनी चाहिए—हमारी वाणी, कान, आंखे सतत उसी मे लगे रहे, ऐसा आमरण प्रयत्न करना चाहिए। हमारी तमाम इन्द्रियो को ऐसा अभ्यास होजाना चाहिए। सब इन्द्रियो को भगवान् का चस्का, भगवान् का रंग लग जाना चाहिए। हमारे पास चाहे कोई विलाप कर रहा हो या भजन गा रहा हो, कोई वासना का जाल बुन रहा हो या विरक्त सन्तों का समागम हो रहा हो, सूर्य हो या अंधकार हो, मरण-काल मे परमेश्वर चित्त के सामने खडा रहे—ऐसा अभ्यास व आदत इन्द्रियो को डाल रखने की—सातत्य की—शिक्षा इस आठवें अध्याय मे दी गई है। छठे अध्याय मे एकाग्रता, सातवें मे ईश्वराभिमुख एकाग्रता, आठवें में सातत्य योग, व नवें मे समर्पणता बतलाई है। दसवें मे क्रमिकता बताई है। एक-एक कदम आगे चलकर ईश्वर का रूप कैसे हृदयङ्गम किया जाय, एक चींटी से लेकर ब्रह्मदेव तक मे व्याप्त परमात्मा को धीरे-धीरे कैसे आत्मसात् किया जाय, यह बताया गया। ग्यारहवें अध्याय मे समग्रता बताई गई। विश्व-रूप-दर्शन को ही मैं समग्रता-योग कहता हूं। विश्व-रूप-दर्शन का अर्थ है–यह अनुभव करना कि एक मामूली से रज-कण में भी यह सारा विश्व समाया हुआ है।

यही विराट दर्शन है। छठे अध्याय से लेकर ग्यारहवे तक भक्ति-रस की यह भिन्न-भिन्न प्रकार से छननी की गई है।

(२)

अब बारहवें अध्याय मे भक्ति-तत्त्व की समाप्ति करनी है। अर्जुन ने समाप्ति-संबंधी प्रश्न पूछा था। पांचवे अध्याय मे जीवन-संबंधी सर्व शास्त्रो का विचार समाप्त होते समय जैसा प्रश्न अर्जुन ने पूछा था वैसा ही यहां भी पूछा है। उसने पूछा कि भगवन्, कुछ लोग सगुण का भजन करते हैं, और कुछ निर्गुण की उपासना करते है, तो अब बताओ कि इन दो मे आपको कौन प्रिय है?

अब भगवान् इसका क्या उत्तर दे? किसी मां के दो बच्चे हो व उससे उनके बारे मे इसी तरह पूछा जाय तो वह क्या उत्तर दे? दो मे एक बच्चा छोटा है, वह मां को बहुत प्यार करता है, याद करता है, मां को देखते ही आनन्द से उछलकर उससे लिपटने लगता है, मां जरा दूर हुई कि वह पछाड खाने लगता है, वह मा से जरा भी दूर नही जा सकता, मा न हो तो उसे सारा ससार सूना दिखाई देता है। अब दूसरा बडा बेटा है, वह भी है तो उसी तरह प्रेम-भाव से सराबोर, पर समझदार हो गया है। मां से दूर रह सकता है। पांच-छ मास भी मां से मुलाकात न हो तो भी वह रह सकता है। वह मां की सेवा करता है। सारा बोझ अपने सिर पर लेकर—जिम्मेदारी से काम करता है। काम-काज मे लग गया है, अत' मां का विछोह सह सकता है। लोगो मे उसकी प्रतिष्ठा है, और चारो ओर उसका नाम सुनकर मां को बडा सुख मिलता है। इस तरह के दो लडकों की मां से ऐसा प्रश्न पूछिए—'हे माता, इन दो लडको मे से सिर्फ एक ही लडका आपको दिया जायगा, आप जो चाहे पसन्द कर ले?' तो वह क्या उत्तर देगी? किस लडके को वह पसन्द करेगी? क्या वह दोनो लडको को तराजू मे रखकर उनको तौलेगी। यहां माता की भूमिका पर गौर कीजिए। उसका स्वाभाविक उत्तर क्या होगा? वह निरुपाय होकर कहेगी—

'यदि बिछोह ही होना है तो बडे लडके को ले जाओ। उसकी जुदाई मैं बरदाश्त कर लूंगी।' छोटे लडके को वह छाती से लगा लेगी। वह अपने से दूर नही हटने देगी। छोटे लडके की तरफ ज्यादा खिचाव होगा व वह शायद कहे—इस बडे वाले को भले ले जाओ। परन्तु इसे हम इस प्रश्न का उत्तर नही समझ सकते कि इनमे उसे अधिक प्रिय कौन है। कुछ-न-कुछ जवाब देना ही था, इसलिए उसके मुंह से कुछ शब्द निकल गये। परन्तु उन शब्दो के पेट मे घुसकर यदि उनका अर्थ निकालने लगेगे तो वह उचित न होगा।

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए जैसे उस मां को दुविधा हुई ठीक वैसी ही स्थिति भगवान् के मन की हो गई है। अर्जुन कहता है—'भगवन्, दो तरह के भक्त आपके सामने है। एक, आपके प्रति अत्यन्त प्रेम रखता है, आपका सतत स्मरण करता है। उसकी आंखे आपकी प्यासी, कान आपका गान सुनने को उत्सुक, हाथ-पांव आपकी सेवा-पूजा के लिये उत्कण्ठित। दूसरा है स्वावलम्बी, इन्द्रियों को सतत वश मे रखने वाला, सर्वभूत-हित मे मग्न, रात-दिन समाज की निष्काम सेवा मे ऐसा रत कि मानों उसे परमेश्वर का स्मरण ही न होता हो। यह है आपका अद्वैतमय दूसरा भक्त। अब मुझे यह बताइए कि इन दोनों मे आपका प्रिय भक्त कौनसा है?' अर्जुन का भगवान् से यह प्रश्न है। अब जिस तरह उस मां ने जवाब दिया था, हूबहू उसी तरह भगवान् ने इसका उत्तर दिया है—'वह सगुण भक्त मुझे प्रिय है। वह दूसरा—अद्वैती—भक्त भी मेरा ही है।' इस तरह भगवान् दुविधा मे पड गये है—कुछ-न-कुछ उत्तर देना था, इसलिए दे डाला है।

और सचमुच बात भी ऐसी ही है। अक्षरशः दोनो भक्त एक-रूप हैं। दोनों की योग्यता—दरजा एक-सा है। उनकी तुलना करना मानो मर्यादा का अतिक्रमण करना है। पांचवे अध्याय मे कर्म के विषय में जैसा प्रश्न अर्जुन ने पूछा था, वैसा ही यहां भक्ति के सम्बन्ध में पूछा है। पांचवें अध्याय मे कर्म व विकर्म की सहायता से मनुष्य अकर्म-दशा

को प्राप्त होता है। यह अकर्मावस्था दो तरह से, दो रूपों में प्रकट होती है—एक तो यह कि रात-दिन काम करते रहते हुए भी मानो लेश-मात्र कर्म न कर रहा हो, व दूसरा चौबीस घण्टे में एक भी कर्म न करते हुए मानो दुनिया भर की उखाड़-पछाड़ कर रहा हो। इन दो रूपों में अकर्म-दशा प्रकट होती है। अब इनकी तुलना कैसे की जाय ? किसी वर्तुल—गोलाकार वस्तु—के एक पहलू से दूसरे पहलू की तुलना कीजिए—एक ही वर्तुल के दो पहलू—इनकी तुलना करें कैसे ? दोनों पहलू एक-सी योग्यता—गुण रखते हैं—एक-रूप हैं। अकर्म की भूमिका में भगवान् ने एक को संन्यास व दूसरे को योग कहा है। शब्द यों दो हैं, पर अर्थ एक ही है। संन्यास व योग दोनों का हल आखिर सरलता, सुगमता के आधार पर किया है। सगुण-निर्गुण का प्रश्न भी ऐसा ही है। एक जो सगुण भक्त है. इन्द्रियों के द्वारा परमेश्वर की सेवा करता है। दूसरा जो निर्गुण भक्त है, मन से विश्व के हित की चिन्ता करता है। पहला बाह्य सेवा में मग्न दिखाई देता है, परन्तु भीतर से उसका चिन्तन सतत जारी ही है। दूसरा कुछ भी प्रत्यक्ष सेवा करता हुआ नहीं दिखाई देता, परन्तु भीतर से उसकी महासेवा चलती रही है। इस प्रकार के इन दो भक्तों में अब श्रेष्ठ कौन-सा ? रात-दिन कर्म करके भी लेश-मात्र कर्म न करनेवाला सगुण भक्त है। निर्गुण उपासक इसके विपरीत, भीतर से—मन से सब के हित का चिन्तन, सबकी चिन्ता करता है। ये दोनों भक्त भीतर से एक रूप हैं, अलबत्ते बाहर से भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं। परन्तु दोनों हैं एक से ही। दोनों भगवान् के प्यारे हैं। परन्तु इनमें सगुण भक्ति ज्यादा सुलभ है। इस तरह भगवान ने जो उत्तर पांचवें अध्याय में दिया है, वही यहां भी दिया है।

(३)

सगुण-भक्ति-योग में इन्द्रियों से प्रत्यक्ष काम लिया जाता है। इन्द्रियां या तो साधन हैं, या विघ्न-रूप हैं या दोनों हैं। वे मारक हैं

या तारक—यह हमारी दृष्टि पर अवलम्बित है। मान लो कि किसी की मां मृत्यु-शैया पर पड़ी हुई है, व वह अपनी मां से मिलना चाहता है। रास्ता दूर—पन्द्रह मील का है। उस पर मोटर नही जा सकती। टूटी-फूटी पगडण्डी है। ऐसे समय यह रास्ता साधन है या विघ्न? कोई कहेगा—"कहा का यह कुमार्ग बीच मे आगया, नही तो मैं कब का मां से जाकर मिल लेता।" ऐसे व्यक्ति के लिए वह रास्ता शत्रु है। किसी तरह रास्ता काटता हुआ जाता है। वह रास्ते को कोस रहा है। परन्तु मां को देखने के लिए उसे हर हालत में जल्दी-जल्दी कदम उठा के जाना जरूरी है। रास्ते को शत्रु या विघ्न समझ कर वह कही बैठ जायगा तो फिर उस दुश्मन—रास्ते की विजय हो जायगी। वह सरपट चल कर ही उस शत्रु को जीत सकता है। दूसरा व्यक्ति कहता है—"इस भारी जंगल मे भी इतना रास्ता तो किसी तरह बना हुआ है ही। यही गनीमत। किसी तरह मां तक जा पहुंचूंगा। यह न होता तो इस दुर्गम पहाड पर से कैसे आगे जा पाता?" यह कह कर वह उस पगडण्डी को एक साधन समझते हुए एक-एक कदम आगे बढ़ता जाता है। उस रास्ते के प्रति उसके मन मे स्नेह का भाव होगा, मित्रता का भाव होगा। अब आप उस रास्ते को चाहे मित्र मानिए या शत्रु, अन्तर डालने वाला कहिए या कम करने वाला कहिए, जल्दी-जल्दी कदम तो आपको उठाना ही होगा। रास्ता विघ्न-रूप है या साधन-रूप, यह तो मनुष्य की अपनी अपनी मनोभूमिका या दृष्टि जैसी कुछ हो. उस पर अवलम्बित है। यही बात इन्द्रियों की है। वे विघ्न हैं या साधन है, बाधक हैं या साधक है, यह आपकी अपनी दृष्टि पर अवलम्बित है।

सगुण-उपासक के लिए इन्द्रियां एक साधन हैं। इन्द्रियां मानो फूल हैं जिन्हे उसे परमात्मा को चढाना है। आंखों से हरि का रूप देखें, कानों से हरि-कथा सुनें, जीभ से हरि-नाम का उच्चारण करे, पांव से तीर्थ-यात्रा करें, हाथों से सेवा-कार्य करें, इस तरह समस्त इन्द्रियों को

वह परमेश्वर के अर्पण कर देता है। ऐसी दशा मे वे इन्द्रियां भोग के लिए नहीं रह जाती। फूल तो भगवान् पर चढाने के लिए होते है। फूल की माला खुद अपने गले मे डालने के लिए नही होती। इसी तरह इन्द्रियो का उपयोग ईश्वर की सेवा मे किया जाय। यह हुई सगुणोपासक की दृष्टि। परन्तु निर्गुणोपासक को इन्द्रियां विघ्न-रूप, बाधक, मालूम होती हैं। वह उन्हे संयम मे रखता है।चारो ओरसे रोक के रखता है, उनका खाना बन्द कर देता है, उन पर पहरा बिठा देता है। परन्तु सगुणोपासक को यह सब-कुछ नही करना पडता। वह सब इन्द्रियो को हरि-चरणो मे चढा देता है। ये दोनो विधियां इन्द्रिय-निग्रह की ही हैं—इन्द्रिय-दमन के ही ये दोनो प्रकार हैं। आप किसी भी एक विधि को लेकर चलिए, परन्तु इन्द्रियो को अपने काबू मे रखिए। ध्येय दोनो का एक ही है—उन्हे विषयो मे न भटकने देना। एक विधि सुलभ है, दूसरी मुश्किल हैं।

निर्गुण उपासक सर्वभूतहित-रत होता है। यह कोई मामूली बात नही है। 'सारे विश्व का कल्याण करना' कहने मे आसान है पर करना बहुत कठिन है। जिसे समग्र विश्व के कल्याण की चिन्ता है वह उस चिन्तन के सिवा दूसरा कुछ नही कर सकता। इसीलिए निर्गुण-उपासना कठिन कही गई है। सगुण-उपासना अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार अनेक प्रकार से की जा सकती है। हमारी अपनी जन्म-भूमि, वह छोटासा गांव—उसकी सेवा करना, अथवा मा-बाप की सेवा करना सगुण पूजा है। बस, इसमे इतना ही ध्यान रखना है कि हमारी यह पूजा जगत् के हित की विरोधक न हो। आप की सेवा कितनी ही छोटी, न-कुछ, क्यो न हो, वह यदि दूसरो के हित में बाधा न डालती हो तो अवश्य भक्ति की श्रेणी में पहुंच जायगी। नही तो वह सेवा आसक्ति का रूप ग्रहण कर लेगी। हमारे मां-बाप हों, दुखी बन्धु-बान्धव हों, साधु-सन्त हो, परमेश्वर समझ कर इनकी सेवा करनी चाहिए। इन प्रत्येक मे परमेश्वर की मूर्ति की कल्पना करके सन्तोष मानो।

यह सगुण-पूजा सुलभ है; परन्तु निर्गुण-पूजा कही कठिन है। यों दोनो का अर्थ—सार एक ही है। सुलभता की दृष्टि से सगुण-विधि श्रेयस्कर है, बस।

सुलभता के अलावा एक और मुद्दा भी है। निर्गुण-उपासना मे भय है। निर्गुण ज्ञानमय है। सगुण प्रेममय, भावनामय है। सगुण मे आर्द्रता है। उसमे भक्त अधिक सुरक्षित है। निर्गुण मे जरा खतरा है। एक समय ऐसा था जब ज्ञान पर मै अधिक जोर देता था। परन्तु अब मुझे ऐसा अनुभव होगया है कि कोरे ज्ञान से मेरा काम नही चल सकता। ज्ञान से मन का स्थूल मैल जल कर भस्म हो जाता है, परन्तु सूक्ष्म मैल को मिटाने का सामर्थ्य उसमे नही है। स्वावलम्बन, विचार, विवेक, अभ्यास, वैराग्य—इन सभी साधनो को ले लीजिए, फिर भी इनके द्वारा मन के सूक्ष्म मल नहीं मिट सकते। भक्ति-रूपी पानी की सहायता के बिना ये मैल नही धुल सकते। भक्ति-रूपी पानी में ही यह शक्ति है। इसे आप चाहें तो परावलम्बन कह दीजिए। परन्तु 'पर' का अर्थ 'दूसरा' न करके 'श्रेष्ठ परमात्मा' कीजिए व उसका अवलम्बन—ऐसा अर्थ ग्रहण कीजिए। परमात्मा का सहारा लिये बिना चित्त के मल नष्ट नहीं होते।

कोई यह कहेंगे कि यहां 'ज्ञान' शब्द का अर्थ संकुचित कर दिया है। यदि 'ज्ञान' से चित्त के मैल नही धुल सकते तो मै इस आक्षेप को स्वीकार करता हूं कि फिर ज्ञान का दर्जा कम हो जाता है। परन्तु मेरा कहना यह है कि शुद्ध ज्ञान इस मिट्टी के पुतले को हो नहीं सकता। इस देह में रहते हुए जो ज्ञान होगा, वह कितना ही शुद्ध क्यों न हो, कुछ-न-कुछ कम, विकृत ही रहेगा। इस देह में जो ज्ञान उत्पन्न होगा उसकी शक्ति मर्यादित ही रहेगी। यदि, शुद्ध ज्ञान का उदय हो गया तो उससे सारे सांसारिक मल भस्म हो जायंगे, इसमें मुझे तिल-मात्र सन्देह नही है। चित्त-सहित सारे मलो को भस्म कर डालने का सामर्थ्य ज्ञान में है। परन्तु इस विकारवान् देह में ज्ञान का

बल कुण्ठित हो जाता है। इससे उसके द्वारा सूक्ष्म मलों का मिटना शक्य नहीं है। अतः भक्ति का आश्रय लिये बिना सूक्ष्म मलों को निर्मूल नहीं किया जा सकता। इसीलिए भक्ति में मनुष्य अधिक सुरक्षित है। यह 'अधिक' शब्द मेरी तरफ का समझ लीजिए। सगुण भक्ति सुलभ है। इसमें परमेश्वरावलम्बन है; निर्गुण में स्वावलम्बन है। इसमें 'स्व' का भी अर्थ जरा सोचिए--'अपने अन्तस्थ परमात्मा का ही आधार'—यही उसका अर्थ है। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिल सकता जो केवल बुद्धि के सहारे शुद्ध हो गया हो। हां, स्वावलम्बन से, अर्थात् आन्तरिक आत्म-ज्ञान से शुद्ध ज्ञान प्राप्त होगा। साराश, निर्गुण भक्ति के स्वावलम्बन मे भी अन्त को आत्मा का ही आधार है।

(४)

जैसे सगुण उपासना के पक्ष मे मैने सुलभता व सुरक्षितता पर जोर दिया है, वैसे ही निर्गुण के पक्ष मे भी दिया जा सकता है। निर्गुण मे एक मर्यादा रहती है। जैसे हम भिन्न-भिन्न कामो के लिए, सेवा के लिए संस्था स्थापित करते हैं। सस्थाएं जो स्थापित होती हैं सो पहले व्यक्तियो के कारण, वह व्यक्ति मुख्य आधार रहता है। सस्था पहले व्यक्ति-निष्ठ रहती है। परन्तु जैसे-जैसे उसका विकास होता जाएगा वैसे-वैसे वह व्यक्ति-निष्ठा न रह कर तत्त्वनिष्ठा होती जानी चाहिए। यदि उसमे ऐसी तत्त्वनिष्ठा उत्पन्न न हुई तो उसे स्फूर्ति देने वाले व्यक्ति के लोप होते ही उस संस्था मे अन्धेरा छा जाता है। मैं अपना प्रिय उदाहरण दूं तो चरखे की माल टूटते ही सूत कातना तो दूर, कता हुआ सूत भी लपेटना कठिन होता है। वैसी ही दशा उस व्यक्ति का आधार टूटते ही संस्था की हो जाती है। फिर वह अनाथ हो जाती है। पर यदि व्यक्ति-निष्ठा से तत्व-निष्ठा पैदा हो गई तो फिर ऐसा नही हो सकता। सगुण को निर्गुण की मदद चाहिए। कभी-न-कभी तो व्यक्ति से, आकार से, निकलकर बाहर जाने का अभ्यास होना चाहिए। गंगा हिमालय से, शकर के जटाजूट से निकली, परन्तु

वहीं नहीं थम गई। उस जटाजूट से निकल कर वह हिमालय की गिरि-कन्दराओ, घाटियों, जंगलों को पार करती हुई सपाट मैदान में खल-खल छल-छल बहती हुई जब आई तभी वह विश्व-जनो के काम आसकी। इस प्रकार संस्था को व्यक्ति का आधार टूट जाने पर भी तत्त्व के मजबूत खम्भो पर खडा रहने के लिए तैयार रहना चाहिए। जब मकान मे कमान बनाते है तो पहले उसे सहारा लगाते हैं; परन्तु बाद में उसे निकाल डालते है। उस सहारे के निकाल डालने पर जब कमान टिक रहती है तभी समझा जाता है कि वह आधार सही था। इसी तरह पहले स्फूर्ति का प्रवाह सगुण से चला, परन्तु अन्त मे उसकी परिपूर्णता तत्त्व-निष्ठा मे, निर्गुण मे, होनी चाहिए। भक्ति के उदर से ज्ञान का उदय होना चाहिए। भक्ति-रूपी लता में ज्ञान के फूल लगने चाहिए।

बुद्ध देव के ध्यान मे यह बात आगई थी। इसलिए उन्होंने तीन प्रकार की निष्ठाएं बताई हैं। पहले व्यक्ति-निष्ठा हो तो उसमें से तत्त्व-निष्ठा, और यदि एकाएक तत्त्व-निष्ठा न भी हो तो कम-से-कम संघनिष्ठा उत्पन्न होनी चाहिए। अबतक एक व्यक्ति के प्रति जो आदर था वह दस-पन्द्रह के लिए होना चाहिए। संघ के प्रति यदि सामुदायिक प्रेम न होगा तो आपस में अन-बन होने लगेगी, झगडे-टण्टे शुरू हो जायंगे। अतः व्यक्ति-शरणता जाकर संघ-शरणता आनी चाहिए। और फिर सिद्धांत-शरणता। इसीलिए बुद्ध-धर्म मे तीन शरणता बताई गई है—"बुद्धं शरणं गच्छामि। संघं शरणं गच्छामि। धम्मं शरणं गच्छामि।" प्रथम व्यक्ति के प्रति, फिर संघ के प्रति प्रीति। परन्तु ये दोनो निष्ठाएं कमजोर हैं। अतः जब अन्त में सिद्धान्त-निष्ठा-उत्पन्न होगी तभी संस्था लाभदायी हो सकेगी। स्फूर्ति का स्रोत यद्यपि सगुण से शुरू हुआ तो भी वह निर्गुण-सागर मे जाकर मिलना चाहिए। निर्गुण के अभाव मे सगुण सदोप हो जाता है। निर्गुण की

मर्यादा सगुण का समतौल रखती है, इसके लिए सगुण निर्गुण का आभारी है।

क्या हिन्दू, क्या ईसाई व क्या इस्लाम इत्यादि सभी धर्मों मे किसी-न-किसी रूप में मूर्ति-पूजा प्रचलित है। भले ही वह निचले दर्जे की मानी गई हो, पर मान्य जरूर है। मूर्ति-पूजा वैसे महान् है; परन्तु जबतक वह निर्गुण की सीमा में है तभीतक वह निर्दोष रहती है। इस मर्यादा के ढीला होते ही सगुण मे दोष पैदा हो जाता है। किसी भी धर्म के सगुण को लीजिए, निर्गुण-रूपी मर्यादा के अभाव में वह अवनति को प्राप्त होगया है। पहले यज्ञ-भाग में पशु-हत्या होती थी। आज भी शक्ति-देवी को बलि चढाते है। यह मूर्ति-पूजा के द्वारा अत्याचार ही हो गया। मर्यादा को छोडकर मूर्ति-पूजा गलत दिशा मे चली गई। पर यदि निर्गुण-निष्ठा की मर्यादा मे वह रहे तो फिर यह अन्देशा नही रहता।

(५)

सगुण सुलभ व सुरक्षित है। परन्तु सगुण को निर्गुण की आवश्यकता है। सगुण की बढती होकर उसमें निर्गुण-रूपी, तत्त्वनिष्ठा-रूपी फूल की बहार आनी चाहिए। निर्गुण, सगुण परस्पर पूरक हैं; विरुद्ध नही। सगुण से निर्गुण तक मंजिल पहुचनी चाहिए और निर्गुण को भी, चित्त के सूक्ष्म मल धोने के लिए सगुण की आर्द्रता आवश्यक है। दोनो की एक-दूसरे से शोभा है। यह दोनों प्रकार की भक्ति रामायण मे बड़े उत्तम ढग से दिखाई गई है। अयोध्याकाण्ड में दोनों के प्रकार आ गये हैं। इन्हीं दो भक्तियों का विस्तार रामायण में है। भरत की भक्ति पहले प्रकार की व लक्ष्मण की दूसरे प्रकार की। इनके उदाहरण से निर्गुण-भक्ति व सगुण-भक्ति का भेद समझ में आ जायगा।

राम जब वनवास के लिए जाने लगे तो वे लक्ष्मण को अपने साथ ले जाने के लिए तैयार नहीं थे। राम को उन्हें साथ ले जाने की कोई

जरूरत नही, मालूम होती थी। उन्होंने लक्ष्मण से कहा—लक्ष्मण, मै वन को जा रहा हूं। पिताजी की ऐसी ही आज्ञा है। तुम यहीं रहो। मेरे साथ चलकर अपने दुःखी माता-पिता को अधिक दुःखी न बनाओ। अतः तुम माता-पिता की व प्रजा की सेवा करो। तुम उनके पास रहोगे तो मै भी निश्चिन्त रहूंगा। मेरे प्रतिनिधि के बतौर तुम यहीं रहो। मै वनमें जा रहा हूं, इसका अर्थ यह नहीं कि किसी संकट मे पड रहा हूं। बल्कि ऋषियों के आश्रमो मे जा रहा हूं। इस तरह राम ने लक्ष्मण को समझाया था। परन्तु लक्ष्मण ने राम की सारी बात एक ही शब्द मे उडा दी। एक घाव दो टूक कर डाला। तुलसी-दास ने इसका बढिया चित्र खीचा है। लक्ष्मण कहते है—आपने मुझे उत्कृष्ट निगम-नीति बताई है। मुझे इसका पालन भी करना चाहिए। परन्तु यह राजनीति का बोझ मुझसे नही उठ सकेगा। आपके प्रति-निधि होने की शक्ति मुझमे नही। मै तो अभी बच्चा ही हूं।

"दीन्हि मोहि सिख नीकि गुसांई।
लागि अगम अपनी कदराई।
नरवर धीर धरम धुरधारी।
निगम-नीति के ते अधिकारी।
मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला।
मन्दर मेरु कि लेहि मराला॥

हंस क्या मेरु मंदर का भार उठा सकता है? राम भैया, मैं तो आज तक आपके प्रेम से पोषित हुआ हूं। यह राजनीति का भार किसी दूसरे पर डालिए। मै तो अभी बालक हूं। यह कह लक्ष्मण ने सारी बात ही खतम कर दी।

मछली जिस तरह पानी से जुदा नही रह सकती उसी तरह लक्ष्मण राम से विलग नहीं हो सकता। राम से दूर रहने का बल उसमें नही था। उसके रोम-रोम मे राम के प्रति सहानुभूति थी। जब राम सो जाते तो खुद जागता रहता, उनकी सेवा करता—

इसी में उसे आनंद मालूम होता था। हमारी आंख पर कोई कंकर मारे तो फौरन हाथ उठकर आंख पर आ जाता है व कंकर की मार झेल लेता है, उसी तरह लक्ष्मण राम का हाथ बन गया था। राम पर यदि प्रहार हो तो पहले लक्ष्मण उसे झेलता। तुलसीदास ने लक्ष्मण के लिए एक बढिया दृष्टान्त दिया है। झण्डा ऊंचा फहराता रहता है। गान-वन्दना सब झण्डे की करते है। उसके रग-आकार आदि के गीत गाये जाते है। परन्तु उसके डण्डे को कौन पूछता है? राम के यश की जो पताका उड रही है उसका दण्ड की तरह आधार लक्ष्मण ही था। वह सीधा तना खडा रहता। झण्डे का डण्डा कभी झुक नही सकता, उसी तरह राम के यश को फहराने वाला लक्ष्मण-रूपी डण्डा कभी झुका नहीं। यश किसका? तो राम का! ससार को पताका दीखती है। डण्डे को कोई नही गिनता। शिखर दीखता है, नीव—पाया किसी को नही। राम का यश ससार मे फैल रहा है, परन्तु लक्ष्मण को कौन याद करता है? चौदह साल तक यह दण्ड सीधा ही तना रहा, जरा भी नही झुका। खुद पीछे रहकर वह राम का यश फहराता रहा। राम बडे-बडे दुर्धर काम लक्ष्मण से करवाते। सीता को वन मे छोड़ने का काम अन्त को लक्ष्मण को ही सौंपा गया। और लक्ष्मण ने उसे पूरा किया। लक्ष्मण का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नही रह गया था। राम की आंखे, राम के हाथ-पाव, राम का मन वह बन गया था। जिस तरह नदी समुद्र मे मिल जाती है उसी तरह लक्ष्मण की सेवा राम मे मिल गई थी। वह राम की छाया बन गया था। लक्ष्मण की यह भक्ति सगुण थी।

इसके विपरीत भरत की भक्ति निर्गुण थी। उसका भी चित्र तुलसीदास ने खूब खीचा है। जब राम वन को गये तब भरत अयोध्या मे नहीं था। जब भरत आया तब दशरथ मर चुके थे। गुरु वशिष्ठ उसे समझा रहे थे कि तुम राज करो। पर भरत ने कहा—'मुझे राम से मिलना है,राम से मिलने के लिए वह भीतर से छटपटा रहा था। परन्तु

साथ ही राज का प्रबंध भी वह कर रहा था। उसकी भावना यह थी कि यह राज्य राम का है, उसका प्रबन्ध करना राम का ही काम करना है। सारी सम्पत्ति मालिक की है, सिर्फ उसका इन्तजाम करना उसे अपना कर्त्तव्य मालूम होता था। लक्ष्मण की तरह भरत मुक्त नहीं हो सकता था। यह भरत की भूमिका है। राम की भक्ति का अर्थ है—राम का काम करना चाहिए; नहीं तो वह भक्ति किस काम की? राज-काज की सारी व्यवस्था करके भरत राम से भेंट करने वन मे आया है। "भैया यह आपका राज्य है। आप—" ज्यों ही कहना चाहता है त्यो ही राम उस से कहते हैं—'भरत, तुम्हीं राज करो।' भरत सकोच मे पड जाता है, वह कहता है—'आपकी आज्ञा सिर आंखो पर।' राम की आज्ञा मानना ही भरत का धर्म। उसने अपना सब कुछ राम पर निछावर कर रक्खा था। वह जाकर राज-काज करने लगा। परन्तु उसमे भी तारीफ यह कि अयोध्या से दो मील दूर तप करते हुए रहा। तपस्वी रह कर राज-काज चलाया। अन्त को राम जब भरत से मिले है तब यह पहचानना मुश्किल हो जाता है कि इनमे वन मे रहकर तप करने वाला वास्तविक तपस्वी कौन है? दोनो के एक से चेहरे, व थोडा उम्र में फर्क, मुखमुद्रा पर वही तपस्या के लक्षण, ये दोनो एक दूसरे को पहचान नहीं पाते हैं, इनमें राम कौन व भरत कौन, यदि कोई चितेरा ऐसा चित्र निकाले तो वह कितना पावन चित्र होगा? इस तरह भरत यद्यपि शरीर से राम से दूर था, तो भी मन से वह क्षण भर के लिए भी दूर नही था। यद्यपि एक ओर वह राज-काज कर रहा था तो भी मन से वह राम के पास ही था। इसी तरह निर्गुण मे सगुण भक्ति खचाखच भरी रहती है। अतः वहां वियोग की भाषा बोलना ही कठिन पडता है। भरत को राम का वियोग नहीं मालूम होता था; क्योंकि वह अपने प्रभु का कार्य कर रहा था।

आजकल के युवक कहते हैं—'राम-नाम, भगवान् की भक्ति, ईश्वरोपासना' ये सब हमारी समझ मे नहीं आते। हम तो भगवान् के

काम में विश्वास रखते हैं। तो भगवान् का काम कैसे करना चाहिए, इसका नमूना भरत ने दिखला दिया है। भगवान् का काम करके भरत ने उस वियोग-दुःख को निर्मूल कर डाला। भगवान् का काम करते हुए भगवान् के वियोग को अनुभव करने का भी समय न रहना एक बात है, व जिसका भगवान् से कुछ देना-लेना नहीं, उसका व्यवहार दूसरी बात है। भगवान् का कार्य करते हुए संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करना संसार में दुर्लभ वस्तु है। यद्यपि भरत की यह वृत्ति निर्गुण रूप से काम करने की थी, तो भी उसमें सगुण का आधार टूट नहीं गया था। 'प्रभो राम, आपकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है। आप जो कुछ कहेंगे वही मानूंगा, वही करूंगा, उसमें मुझे सन्देह न होगा।' ऐसा कहकर भरत ज्योंही लौटने लगा तो पीछे फिर कर राम की ओर देखा, कहा—'भगवन् , मन को समाधान नहीं होता, कुछ-न-कुछ बोझ मालूम होता है।' राम ने तुरंत उसका भाव पहचान लिया और कहा—'यह पादुका ले जाओ।' अन्त को सगुण के प्रति आदर रहा ही। निर्गुण को सगुण ने अन्त में आर्द्र कर ही दिया। लक्ष्मण को पादुका लेने से समाधान न हुआ होता। उसकी दृष्टि से यह दूध की भूख छाछ पीकर मिटाने जैसा हो गया होता। भरत की भूमिका इससे भिन्न थी। वह बाहर से दूर रहकर कर्म कर रहा था, परन्तु मन से राममय था। भरत यद्यपि अपने कर्त्तव्य का पालन करने में ही राम-भक्ति मानता था तो भी उसे पादुका की आवश्यकता महसूस हुई ही। उनके अभाव में वह राजकाज नहीं कर सकता था। उन पादुका की आज्ञा के रूप में वह अपना कर्तव्य कर रहा था। लक्ष्मण जैसा राम का भक्त था वैसा ही भरत भी था। दोनों की भूमिका बाहर से भिन्न-भिन्न थी। भरत यद्यपि कर्त्तव्यनिष्ठ था, तत्त्वनिष्ठ था, तो भी उसकी तत्त्वनिष्ठा को पादुका की आर्द्रता की जरूरत महसूस हुई।

(६)

हरिभक्ति-रूपी आर्द्रता अवश्य होनी चाहिए। इसलिए भगवान्

ने अर्जुन से बार-बार कहा है—"मय्यासक्तमनाः पार्थ" अर्जुन, मुझमें आसक्ति रख, मेरे रस का सहारा ले व फिर कर्म करता रह। जिस भगवद्गीता को 'आसक्ति' शब्द न तो सूझता है, न रुचता है, जिसने बार-बार इस बात पर जोर दिया है कि अनासक्त रहकर कर्म करो, राग-द्वेष छोडकर कर्म करो, निरपेक्ष कर्म करो, 'अनासक्ति', 'निःसंगता' जिसका ध्रुपद या पालुपद है; वही कहती है—'अर्जुन, मुझमे आसक्ति रखो।' पर यहां याद रखना चाहिए कि भगवान् मे आसक्ति रखना बडी ऊंची बात है। वह किसी पार्थिव वस्तु के प्रति आसक्ति नहीं है। यहां सगुण व निर्गुण दोनो एक-दूसरे में लिपट रहे है। सगुण निर्गुण का आधार सब तरह नही तोड सकता व निर्गुण को सगुण के रस की जरूरत होती है। जो मनुष्य सदैव कर्त्तव्य कर्म करता है वह उस कर्म-रूप मे पूजा ही कर रहा है। परन्तु उस पूजा के साथ रस, आर्द्रता चाहिए। 'मामनुस्मर युद्धय च।' मेरा स्मरण रख के कर्म करो। कर्म खुद भी एक पूजा ही है, परन्तु मन मे भावना सजीव रहनी चाहिए। महज फूल चढ़ा देना ही पूजा नही है। उसमे भावना आवश्यक है। फूल चढाना, पूजा का एक प्रकार है, सत्कर्म दूसरा प्रकार है। परंतु दोनो में भावना रूपी रस आवश्यक है। फूल चढा दिये, पर भावना मन मे नहीं है तो वे फूल मानो पत्थर पर ही चढ़े। अतः असली वस्तु भावना है। सगुण व निर्गुण, कर्म व प्रीति; ज्ञान व भक्ति, ये सब चीजें एक रूप ही हैं। दोनो का अंतिम अनुभव एक ही है।

उद्धव व अर्जुन को बात लो। रामायण से मै एकदम महाभारत में आ कूदा। इसका मुझे अधिकार भी है। क्योकि राम व कृष्ण दोनों एक-रूप ही हैं। जैसे भरत व लक्ष्मण, वैसे उद्धव व अर्जुन हैं। जहां कृष्ण वहां उद्धव मौजूद ही हैं। उद्धव को कृष्ण का क्षण भर का वियोग सहन नहीं हो सकता। वह सतत कृष्ण की सेवा में निमग्न रहता है। कृष्ण के बिना सारा संसार उसे फीका मालूम होता है। अर्जुन भी कृष्ण का सखा था। परन्तु वह दूर दिल्ली रहता था। अर्जुन कृष्ण का काम करने में विश्वास रखता था। कृष्ण द्वारका मे, तो अर्जुन हस्तिना-

पुर में। ऐसा दोनों का सम्बन्ध था। जब कृष्ण को देह छोड़ने की आवश्यकता मालूम हुई तो उन्होने उद्धव से कहा—'ऊधो, अब मैं जा रहा हूँ।' उद्धव ने कहा—'मुझे क्या अपने साथ नहीं ले चलेंगे? हम दोनों साथ ही चलेंगे।' परन्तु कृष्ण ने कहा—'यह मुझे पसंद नही। सूर्य अपना तेज अग्नि मे रख जाता है। उसी तरह मैं अपनी ज्योति तुझ मे छोड जाता हूँ।' इस तरह भगवान् ने उसे समझाया। व उसे ज्ञान देकर रवाना किया। फिर यात्रा मे उद्धव को मैत्रेय ऋषि से मालूम हुआ कि भगवान् निजधाम को चले गये। किन्तु उसके मन पर उसका कुछ भी असर न हुआ। मानो जैसा कुछ हुआ ही नही। 'गुरु मरा तो चेला रोया—दोनो ने बोध व्यर्थ खोया।' ऐसा हाल उसका नही हुआ। मानो वियोग हुआ ही न हो। उसने सारे जीवन भर सगुण उपासना की थी। परमेश्वर के पास ही रहता था। पर अब उसे निर्गुण मे ही आनन्द होने लगा था। इस तरह उसे निर्गुण की मंजिल तय करनी पडी। सगुण पहले, परन्तु उसके बाद निर्गुण की सीढ़ी आनी ही चाहिए, नही तो परिपूर्णता न होगी।

इससे उलटा हाल हुआ अर्जुन का। श्रीकृष्ण ने उसे क्या करने के लिए कहा था? अपने बाद सब स्त्रियों की रक्षा का भार उन्होने अर्जुन पर सौंपा था। अर्जुन दिल्ली से आया व द्वारका से श्रीकृष्ण की स्त्रियों को लेकर चला। रास्ते मे हिसार के पास पंजाब के चोरो ने उसे लूट लिया। जो अर्जुन उस समय एक अकेला ही नर कहलाता था, उत्कृष्ट वीर के नाम से प्रसिद्ध था, जो पराजय जानता ही न था, व इसलिए उसका नाम ही 'जय' पड गया था, जिसने प्रत्यक्ष शंकर से मुकाबला किया और उन्हे झुका दिया, वह अजमेर के पास भागते भागते बचा। कृष्ण के चले जाने का बडा असर उसके मन पर हुआ। मानो उसका प्राण तो चला गया केवल निस्त्राण व निष्प्राण शरीर ही बाकी बच रहा हो। मतलब यह कि सर्वथा कर्म करनेवाले, कृष्ण से दूर रहनेवाले निर्गुण उपासक अर्जुन को अन्त मे यह वियोग दु:सह व भारी हो

गया। उसके निर्गुण को अन्त मे वियोग की वाचा फूट निकली। उसका सारा कर्म ही मानो खतम हो गया। उसके निर्गुण को आखिर सगुण के अभाव का अनुभव हुआ। सारांश कि सगुण को निर्गुण मे जाना पडता है व निर्गुण को सगुण में आना पड़ता है। इस तरह दोनों में एक दूसरे से परिपूर्णता आती है।

(७)

इसलिए जब यह समझने की नौबत आती है कि सगुण-उपासक व निर्गुण-उपासक में क्या भेद है तो वाणी की गति कुण्ठित हो जाती है। सगुण व निर्गुण अन्त में जाकर एक हो जाते हैं। एक बार मैं वैकम का सत्याग्रह देखने गया था। जब भूगोल पढा था तब मैंने याद कर रखा था कि मलाबार के किनारे पर शंकराचार्य का जन्म-ग्राम है। जिधर होकर मै जा रहा था वहीं कहीं पास में भगवान् शंकराचार्य का 'कालड़ी' ग्राम होगा, ऐसा मुझे लगा व मैंने साथ के मलियाली व्यक्ति से पूछा। उसने कहा—यहां से १०–१२ मील दूर है। आप जाना चाहते है क्या? मैंने इंकार कर दिया। मै जा रहा था सत्याग्रह के लिए, अतः मुझे और कही जाना उचित न जान पडा। व उस समय उस गांव को देखने के लिए न गया। मुझे अभी तक ऐसा लगता है कि ऐसा करके मैंने अच्छा ही किया है। परन्तु रात को जब मैं सोने लगा तो वह कालडी गांव, शंकराचार्य की वह मूर्ति, मेरी आंखो के सामने बार-बार आने लगी। मेरी नींद उड गई। वह अनुभव मुझे आज भी ज्यों का त्यो हो रहा है। शंकराचार्य का वह ज्ञान का प्रकाश, उनकी दिव्य अद्वैत-निष्ठा, सामने फैले हुए इस संसार को मिथ्या ठहरानेवाला उनका अलौकिक व ज्वलन्त वैराग्य, उनकी गंभीर भाषा व मुझपर हुए उनके अनन्त उपकार—इन सबकी रह रहकर मुझे याद आने लगी। रात को ये सब भाव सामने खडे होने लगे। तब मुझे अनुभव हुआ कि यह निर्गुण में सगुण कैसे लबालब भरा हुआ है। प्रत्यक्ष भेंट होने में भी उतने प्रेम का अनुभव नही होता। निर्गुण में

भी सगुण का परमोत्कर्ष बहुत-कुछ मौजूद रहता है। मैं प्रायः अधिक कुशलपत्र नहीं लिखा करता। पर किसी मित्र को पत्र न लिखने पर भी भीतर से उसका सतत स्मरण होता रहता है। पत्र न लिखते हुए भी मन मे उसकी स्मृति ठसाठस भरी रहती है। निर्गुण में इस तरह सगुण गुप्त रहता है। सगुण व निर्गुण दोनो एक-रूप ही है। प्रत्यक्ष मूर्ति को लेकर पूजा करना, प्रकट रूप से सेवा करना, व भीतर से, मन से, सतत संसार के कल्याण का चिन्तन करना किन्तु बाहर से पूजा की क्रिया न दिखाई देना—इन दोनो का समान मूल्य व महत्त्व है।

अन्त मे मुझे जो कुछ कहना है वह तो यह कि सगुण क्या, व निर्गुण क्या, इसका निश्चय करना भी आसान नही है। एक दृष्टि से जो सगुण है वह दूसरी दृष्टि से निर्गुण ठहर सकता है। सगुण की सेवा एक पत्थर—मूर्ति—को लेकर की जाती है। उस पत्थर मे भगवान् की कल्पना कर लेते हैं। हमारी माता मे, सन्तो मे प्रत्यक्ष चैतन्य प्रकटित हुआ है। उनमें ज्ञान, प्रेम, हार्दिकता स्पष्ट प्रकट है। पर उनमे परमात्मा मानकर पूजा नही करते। ये सब चैतन्यमय लोक सबको दिखाई देते है। अत उनकी सेवा करनी चाहिए। उनमे सगुण परमात्मा के दर्शन करने चाहिए। परन्तु ऐसा न करके लोग पत्थर मे परमेश्वर देखते हैं। अब एक तरह से पत्थर मे परमेश्वर को देखना निर्गुण की पराकाष्ठा है। सन्त, मां-बाप, पडौसी, इनमें प्रेम, ज्ञान, उपकार-बुद्धि प्रकट दीखते है। उनमें ईश्वर मानना तो सरल है। परन्तु पत्थर मे ईश्वर मानना कठिन है। उस नर्मदा के कंकर को हम शकर मानते हैं। यह क्या निर्गुण-पूजा नही है? बल्कि इसके विपरीत ऐसा मालूम होता है कि यदि पत्थर मे परमेश्वर की कल्पना न की जाय तो फिर कहां की जाय? भगवान् की मूर्ति होने के लायक वह पत्थर ही है। वह निर्विकार है, शान्त है। अन्धकार हो, प्रकाश हो, गर्मी हो, सर्दी हो, वह पत्थर जैसा का तैसा ही रहता है। अतः यह निर्विकारी पत्थर ही परमेश्वर का प्रतीक होने के योग्य है। मां-बाप, जनता, अडौसी-पडौसी ये सब

विकार से युक्त हैं। अर्थात् इनमें कुछ-न-कुछ विकार मिल ही जाता है। अतएव पत्थर की पूजा करने की बनिस्बत उनकी पूजा करना एक दृष्टि से कठिन ही है।

मतलब यह कि सगुण निर्गुण परस्पर पूरक हैं। सगुण सुलभ है, निर्गुण कठिन है। परन्तु दूसरी तरह से सगुण भी कठिन है, व निर्गुण भी सरल है। दोनो के द्वारा एक ही ध्येय की प्राप्ति होती है। पांचवें अध्याय मे जैसा बताया है कि चौबीसों घण्टे कर्म करके भी लेश-मात्र कर्म न करनेवाला व चौबीसों घण्टे कुछ भी कर्म न करके सर्व कर्म कर्त्ता ऐसे योगी व संन्यासी दोनो एक रूप ही है, वैसे ही यहां भी समझिए। सगुण कर्म-दशा व निर्गुण संन्यास-योग दोनों एक ही रूप है। संन्यास श्रेष्ठ है या योग—इसका उत्तर देने में जैसे भगवान् को कठिनाई पडी वैसी ही दिक्कत यहां भी हुई है। अन्त मे सुलभता व कठिनता के तारतम्य से उत्तर देना पडा है। नही तो क्या योग व क्या संन्यास, क्या सगुण व क्या निर्गुण दोनो एक रूप ही है। अन्त में भगवान् कहते है—'अर्जुन, तुम चाहे सगुण रहो या निर्गुण, पर भक्त जरूर रहो। गोल-मटोल पत्थर मत रहो।' यह कहकर अन्त में भक्त के लक्षण बताये हैं। अमृत मधुर होगा, परन्तु हमे उसकी माधुरी को चखने का अवसर नही मिला। किन्तु ये लक्षण प्रत्यक्ष मधुर हैं। इसमे कल्पना की जरूरत नही है। इन लक्षणों को आजमा देखना चाहिए। बारहवें अध्याय के ये भक्त-लक्षण, स्थित-प्रज्ञ के लक्षणों की तरह, हमें नित्य सेवन करने चाहिए, मनन करने चाहिए व उन्हे थोडा-थोडा अपने जीवन मे लाकर पुष्टि प्राप्त कर लेनी चाहिए। इस तरह हमें अपना जीवन धीरे-धीरे परमेश्वर की ओर ले जाना चाहिए।

तेरहवां अध्याय

रविवार, १५-५-३२

(१)

व्यासदेव ने अपने जीवन का सार भगवद्‌गीता मे डाल दिया है। उन्होंने विस्तार-पूर्वक दूसरा बहुत-कुछ लिखा है। अकेली महाभारत-संहिता ही लाख- सवा लाख की है। संस्कृत मे व्यास-शब्द का अर्थ ही 'विस्तार' हो गया है। परन्तु भगवद्‌गीता मे उन्होने विस्तार से काम नही लिया है। भूमिति मे जिस प्रकार युक्लिड ने सिद्धान्त बता दिये है, तत्त्व दिखला दिये है, उसी प्रकार जीवन के लिए उपयोगी तत्त्व गीता मे व्यासदेव एक के बाद एक लिख रहे है। भगवद्‌गीता मे न तो विशेष चर्चा ही है, न विस्तार ही। इसका कारण यह है कि जो बाते गीता मे कही गई है उनको प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन मे जांच-पडताल सकता है। बल्कि वे इसीलिए कही गई है कि कि लोग उन्हे जांच-पडताल सकें। जितनी बाते जीवन के लिए उपयोगी है उतनी ही गीता में कही गई हैं। उनके कहने का उद्देश्य भी उतना ही था, इसीलिए उन्होने थोडे तत्त्व-मात्र बता कर सन्तोष मान लिया है। उनकी इस' सन्तोष-वृत्ति मे उनका सत्य तथा आत्मानुभव-सम्बन्धी महान् विश्वास हमे दिखाई दे जाता है। जो बात सत्य है उसके प्रतिपादन के लिए अधिक युक्ति काम मे लाने की जरूरत नही रहती।

हम जो गीता की तरफ दृष्टि लगाये रहते है उसका मुख्य उद्देश्य यह है कि जीवन मे हमे जब जब कुछ सहायता की, सहारे की आवश्यकता मालूम हो तब तब वह गीता से हमे मिलता रहे। और वह

हमें सदैव मिलने जैसी भी है। गीता एक जीवनोपयोगी शास्त्र है और इसीलिए उसमें स्वधर्म पर इतना जोर दिया गया है। मनुष्य के जीवन का बड़ा पाया अगर कोई है तो वह स्वधर्माचरण ही है। उसके जीवन की सारी इमारत इसी पाये पर खडी करनी है। यह पाया जितना मजबूत होगा उतनी ही ज्यादा इमारत टिक सकेगी। इसी स्वधर्माचरण को गीता मे 'कर्म' कहा है। इसके आस-पास गीता मे बहुतेरी चीजे खडी की गई है। उसकी रक्षा के लिए अनेक विकर्म रचे गये हैं। इस स्वधर्माचरण को सजाने के लिए, उसे सफल करने के लिए जिन जिन प्रमाणो व आधारो की ज़रूरत है वे सब उसे देना जरूरी है। इसीलिए अब तक ऐसी बहुतेरी चीजें हमने देखीं। उनमे कई भक्ति के रूप मे थी। आज तेरहवें अध्याय में जो चीज हमे मिली है वह भी स्वधर्माचरण मे या गीता-प्रतिपादित कर्म मे बहुत उपयोगी है। उसका सम्बन्ध है विचार-पक्ष से।

गीता मे यह बात प्रधान-रूपसे सर्वत्र कही गई है कि स्वधर्माचरणी को फल का त्याग करना चाहिए। कर्म तो करो पर उसका फल छोड दो। पेड को पानी तो पिलाओ, उसकी पर्वरिश करो। परन्तु उसकी छाया की, फूल-फल की अपने लिए अपेक्षा मत रखो। यह स्वधर्माचरण-रूप कर्मयोग है। कर्मयोग का अर्थ महज इतना ही नहीं कि कर्म करते रहो। कर्म तो इस सृष्टि मे सर्वत्र हो ही रहा है। उसे कहने या बताने की जरूरत नही है। परन्तु स्वधर्माचरण रूप कर्म—कोरा कर्म नहीं—भली भांति करके भी उसका फल छोड देना, यह बात कहने मे, समझने में बडी सरल मालूम होती है, परन्तु पालन में बडी कठिन है। क्योंकि किसी कार्य की प्रेरक शक्ति ही फल-वासना मानी गई है। फल-वासना को छोडकर कर्म करना उल्टा पंथ है। व्यवहार या संसार की रीति के विपरीत यह विधान है। जो बहुत कर्म करता है वह कर्मयोगी है ऐसा हम बहुत बार कहते हैं। परन्तु इस प्रयोग में भाषा-शैथिल्य है। गीता की व्याख्या के अनुसार वह कर्मयोगी नहीं है।

लाखो कर्म करने वालो में, केवल कर्म ही नही स्वधर्माचरण-रूप कर्म करने वाले लाखो लोगों में भी गीता-मान्य कर्मयोग साधने वाला विरला ही मिलता है। कर्मयोग के सूक्ष्म व सच्चे अर्थ में देखा जाय तो ऐसा संपूर्ण कर्मयोगी शायद ही कही मिले। कर्म तो करना परन्तु उसके फल को छोड देना बिलकुल असाधारण बात है। अब तक गीता में यही विश्लेषण, यही मर्म समझाया गया है।

उस विश्लेषण या पृथक्करण के लिए उपयोगी एक दूसरा पृथक्करण इस तेरहवें अध्याय मे बताया गया है। 'कर्म तो करना पर उसके फल की आसक्ति छोड देना,' इसका सहायक महान् पृथक्करण है 'देह व आत्मा' का। यही तेरहवे अध्याय मे उपस्थित किया गया है। आंखों से हम जिस रूप को देखते है उसे हम मूर्ति, आकार, देह कहते हैं। यद्यपि बाह्य मूर्ति का परिचय हमारी आखो को होगया तो भी वस्तु के अन्तरंग में हमें प्रवेश करना पडता है। फल का ऊपरी कवच--छिलका-तोड कर उसका भीतरी गूदा चखना पडता है। नारियल को फोड कर भीतर से देखना पडता है। कटहल पर कांटे लगे रहते हैं तो भी भीतर बढ़िया व रसीला गूदा भरा रहता है। हम चाहे अपनी ओर देखे चाहें दूसरो की ओर। यह भीतर व बाहर का पृथक्करण करना-भेद देखना आवश्यक हो जाता है। तो अब छिलका निकाल डालने का अर्थ क्या? इसका अर्थ यह कि प्रत्येक वस्तु का भीतरी व बाहरी रूप देख लिया-समझ लिया जाय। इस तरह बाह्य देह व भीतरी आत्मा ये दो रूप प्रत्येक वस्तु के हो जाते है। कर्म मे भी यही बात है। बाहरी फल कर्म का देह है। और कर्म के बदौलत जो चित्त-शुद्धि होती है वह कर्म का आत्मा है। स्वधर्माचरण का बाहरी फल-रूपी देह छोड कर भीतरी चित्त-शुद्ध-रूपी सारभूत आत्मा को हमे ग्रहण कर लेना, आत्मसात् कर लेना चाहिए। इस प्रकार की आदत, देह को हटाकर प्रत्येक वस्तु का सार ग्रहण करने की सारग्राही दृष्टि, हमें प्राप्त कर लेनी चाहिए। आंखों को, मन को, विचारों को ऐसी तालीम, आदत, अभ्यास करा

देना चाहिए। हर बात में देह को अलग कर के आत्मा की पूजा करनी चाहिए। हमारे विचार को स्पष्ट करने के लिए यह पृथक्करण तेरहवें अध्याय मे दिया गया है।

(२)

यह सारग्राही दृष्टि रखने का विचार बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि बचपन से ही हम ऐसी आदत डाल ले तो कितना अच्छा हो! यह विषय हजम कर लेने जैसा, यह दृष्टि अंगीकार करने जैसी है। बहुतो को ऐसा लगता है कि अध्यात्म-विद्या का जीवन से कोई सम्बन्ध नही! कुछ लोगों का ऐसा भी मत है कि यदि ऐसा कोई सम्बन्ध हो भी तो वह न होना चाहिए, परन्तु मेरी राय मे देह से आत्मा को अलग समझने की शिक्षा बचपन से ही देने की व्यवस्था होसके तो बडी खुशी की बात हो। यह शिक्षण-शास्त्र का विषय है। आजकल कुशिक्षण के फल-स्वरूप बडे बुरे संस्कार बच्चो के मन पर पड रहे हैं। 'मै केवल देहरूप हूं।' इस विचार-सीमा से बाहर यह शिक्षण हमे आने ही नहीं देता। सब जगह देह के ही चोचले चल रहे है। किन्तु इसके बावजूद देह को जो स्वरूप प्राप्त होना चाहिए, जो स्वरूप देना चाहिए, वह कही भी दिखाई नही देता। इस तरह आजकल देह की यह वृथा पूजा हो रही है। आत्मा के माधुर्य की ओर किसी का भी ध्यान नहीं। वर्तमान शिक्षा-पद्धति से यह स्थिति बन गई है। इस तरह देह की मूर्ति-पूजा का अभ्यास दिन-रात कराया जाता है।

बल्कि ठेठ बचपन से ही हमे इस देह-देवता की पूजा-अर्चा करना सिखाया जाता है। जहां कही ठोकर लग गई तो बच्चे फूंक लगाकर, मिट्टी मलकर काम चला लेते है। बल्कि इतने की भी वे चिन्ता नहीं करते। थोडी-बहुत चोट-खुरच की तो बच्चे परवा ही नहीं करते। परन्तु उनके वाली या पालक इतने पर सन्तोष नहीं मान सकते। वे बच्चे को पास बुलाकर पुचकार कर कहेगे—अच्छा चोट लग गई! कैसे लगी, कहां लगी? अरे, सख्त चोट लगी मालूम होती है! अरे रे, खून

निकल आया। ऐसा कह कर वह बच्चा न रोता हो तो उल्टा उसे रुला देते है। न रोने वालो को रुलाने के इन लक्षणो के लिए अब क्या कहा जाय? उन्हे सिर्फ एकांगी हां, अ-अ, कूद-फांद मत करो, खेलने मत जाओ, देखो गिर पडोगे, चोट लग जायगी, आदि देह पर ध्यान देने का ही शिक्षण दिया जाता है।

अच्छा, बच्चे की यदि तारीफ भी करना है तो वह भी उसके देह पक्ष को लेकर ही। उसकी निन्दा भी देहपक्ष को ही लेकर करते है। 'कैसा गंदा है रे'—कहते है। इससे बच्चे को कितनी चोट लगती होगी? बच्चे थोड़े-बहुत वैसे भी गंदे हो जाते है—नाक-कान बहने लगते है। अत चाहिए तो यह कि उसे साफ-सुथरा रक्खा जाय; परन्तु ऐसा न करते हुए उसे धिक्कार के हम कितना आघात पहुंचाते है? बच्चा उसे सहन नही कर सकता। वह बडा दुखी हो जाता है। उसके अन्तरंग मे, आत्मा मे इतनी स्वच्छता, निर्मलता भरी रहती है तो भी उस पर गंदे रहने का कितना वृथा आरोप! सच पूछिए तो वह लडका गंदा नही; बल्कि जो अत्यन्त सुन्दर, मधुर, पवित्र, प्रिय, परमात्मा है वही है। उसीका अंश उसमे विद्यमान है। परन्तु उसे कहते है "गंदा है।" उस गंदगी से उसका लेना-देना क्या है? बच्चे को इसका पता भी नहीं चलता। और इसीलिए वह इस आघात को सहन नही कर पाता। उसके चित्त मे क्षोभ होता है और जब क्षोभ उत्पन्न हो जाता है तो फिर सुधार नही हो सकता। अतः उसे अच्छी तरह समझाकर साफ-सुथरा रखना चाहिए। इसके विपरीत आचरण करके हम उस लडके के मन पर यह अंकित करते है कि वह देह है। शिक्षण-शास्त्र मे यह एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त समझना चाहिए। गुरु को यह भावना रखनी चाहिए कि मै जिसे पढा रहा हूं वह सर्वांग सुन्दर है। हिसाब में, सवाल मे भूल हो गई तो गाल पर चांटा पड़ता है। अब उस चांटे से व सवाल भूलने से क्या सम्बन्ध? मदरसे मे देर से आया तो पडा चांटा। इससे उसके खून का दौरा तेज होने लगेगा—पर इससे क्या

सवाल सही आने लगा ? खून की यह तेजी क्या बतला सकेगी कि इस समय कितने बजे हैं ? बल्कि सच पूछिए तो इस तरह मार-पीट करके हम उस बच्चे की पशुता को हीं बढाते है। 'तुम यह देह ही हो' यह भावना पक्की करते है। उसका जीवन भय की भींत पर खडा कर रहे है।

यदि हमें सचमुच सुधार करना है तो वह इस तरह जबरदस्ती देहासक्ति वढाने से कभी नहीं हो सकता। जब मैं यह समझ लूंगा कि मै देह से भिन्न, पृथक् कोई हूं, तभी मेरा सुधार हो सकेगा। देह मे अथवा मन मे स्थित किसी दोष का ज्ञान होना बुरा नहीं। इससे उस दोष को दूर करने मे सहायता मिलती है। परन्तु हमे यह बात साफ-तौर से मालूम रहनी चाहिए कि मै देह नही हूं। मै जो-कुछ हूं सो इस देह से बिलकुल भिन्न, पृथक्, अत्यन्त सुन्दर. उज्ज्वल, अव्यय हूं।

अपने दोषो को दूर करने के लिए भी जो आत्म-परीक्षा करता है वह अपने को देह से पृथक् करके ही ऐसा करता है। अत: जब कोई उसे उसका दोष दिखाता है तो वह बुरा नहीं मानता, गुस्सा नही होता। बल्कि इस शरीर-रूपी, इस मनोरूपी यंत्र में क्या दोष है, इसका विचार करके दोष दूर करता है। इसके विपरीत जो देह को अपने से जुदा नही मानता वह सुधार कर ही नही सकता। यह देह, यह पिण्ड, यह मिट्टी का पुतला, यही मैं—ऐसा जो मानेगा वह अपना सुधार कैसे करेगा ? सुधार तभी हो सकेगा जब हम यह मानेंगे कि यह देह एक साधन-रूप मे मुझे मिला है। चरखे में यदि किसी ने कोई कमी या दोष दिखाया तो क्या मुझे गुस्सा आता है ? बल्कि कोई कमी होती है तो मै उसे दूर करता हूं। ऐसी ही बात देह की समझिए। जैसे खेती के औजार वैसा ही यह देह समझो। यह देह भगवान् के घर की खेती करने का एक औजार ही है। यह औजार यदि खराब हो जाय तो उसे अवश्य बनाना, सुधारना चाहिए। यह देह बतौर एक साधन के हमें मिला है। अतः इस देह से अपने को अलहदा रखकर दोषों से मुक्त होने का प्रयत्न हमें करना

चाहिए। इस देहरूपी साधन से मैं जुदा हूं, मैं स्वामी हूं, मालिक हूं, इस देह से काम कराने वाला, इससे उत्कृष्ट सेवा लेने वाला मैं हूं। बचपन से ही इस प्रकार देह से अलग रहने की भावना जागृत करनी चाहिए। खेल से अलग रहने वाले त्रयस्थ या तटस्थ जैसे खेल के गुण-दोषो को अच्छी तरह देख सकते है उसी तरह हम भी देह-मन-बुद्धि से अपने को अलग रखकर ही उनके गुण-दोष परख सकेंगे। कोई-कोई कहते है—'इधर जरा मेरी स्मरण-शक्ति कम हो गई है, इसका कोई उपाय बताइए न?' जब मनुष्य ऐसा कहता है तब वह-स्मरण-शक्ति से भिन्न है, यह स्पष्ट हो जाता है। वह कहता है—मेरी स्मरण-शक्ति कम हो गई है। इसका अर्थ यह हुआ कि उसका कोई साधन, कोई औजार बिगड गया है। किसी का लडका खो जाता है, किसी की लडकी खो जाती है पर कोई खुद नही खो जाता। यहां तक कि मरते समय भी उसका देह ही सब तरह से नष्ट होता है, बेकार हो जाता है, वह खुद तो भीतर से ज्यो का त्यो रहता है। वह निर्विकार, निरोगी रहता है। यह बात समझ लेने जैसी है और यदि समझ मे आजाय तो इससे बहुतेरी झंझटो व उलझनो से छुटकारा हो जायगा।

(३)

इस देह को ही जो हमने 'मै' मान लिया है, यह जो भावना आज सर्वत्र-प्रचलित हो गई है, इसके फल-स्वरूप हमने बिना विचारे ही देह-पुष्टि से लिए नाना प्रकार के साधन निर्माण कर लिये है। उनका विचार करते हैं तो बडा भय मालूम होता है। मनुष्य की यही धारणा रहती है कि यह देह पुराना हो गया, जीर्ण-शीर्ण हो गया तो भी येन-केन प्रकारेण इसे टिका ही रखना चाहिए। परन्तु आखिर इस देह को, इस ढाचे को, आप कब तक टिका रक्खेंगे.. मरने तक ही न? जब मौत का वारण्ट आ जायगा तो छिन भर भी देह कायम नही रख सकते। मौत के आगे किसी का गर्व नही चलता। फिर भी इस तुच्छ देह के लिए मनुष्य नाना प्रकार के सुख-साधन जुटाता है। दिन-रात इस देह की

चिन्ता करता है। अब कहते है कि देह की रक्षा के लिए मांस खाना उचित है। मानो मनुष्य का देह बडा ही कीमती है जो उसे बचाने के लिए मांस खावें। पशु की देह कीमत में कम है। सो क्यो ? मनुष्य देह क्यों बेशकीमती है ? क्या कारण है ? आप कहेंगे—पशु चाहे जो खा जाते है, सिवा स्वार्थ के उन्हे दूसरा कोई विचार ही नहीं आता। मनुष्य की बात ऐसी नही। मनुष्य अपने आसपास की सृष्टि की रक्षा करता है। अतः मनुष्य का मोल अधिक है, इसलिए वह कीमती है। परन्तु जिस कारण से मनुष्य की देह कीमती साबित हुई उसी को हम मांस खाकर नष्ट कर देते है। भले आदमी, तुम्हारा बडप्पन तो इसी बात पर अवलम्बित है न कि तुम संयम से रहते हो, दूसरे जीवो की रक्षा-भलाई के लिए उद्योग करते हो, सबकी साल-संभाल रखने की भावना तुम मे है ? पशु से जो यह विशेषता तुम मे है उसीसे न मनुष्य श्रेष्ठ कहलाता है ? इसी से मानव-देह को दुर्लभ कहा गया है। परन्तु जिस आधार पर मनुष्य बडा—श्रेष्ठ—हुआ है उसी को यदि वह उखाडने लगा तो फिर उसके बडप्पन की यह इमारत टिकेगी कैसे ? साधारण पशु जो अन्य प्राणियो के मांस खाकर जीवित रहते है उन्ही की सी क्रिया यदि तुम—मनुष्य करने लगे तो फिर बडप्पन का आधार कहां रहेगा ? यह तो वैसा ही है जैसा कि जिस डाल पर मै बैठा हूं उसी को काटने का प्रयत्न करना।

आजकल वैद्यक-शास्त्र नाना प्रकार के चमत्कार दिखा रहा है। पशु को टोंचकर उसके शरीर में, उस जीवित पशु के शरीर मे रोग-जन्तु उत्पन्न करते है व देखते है कि उन रोगो का क्या क्या असर हुआ ! सजीव पशु को इस प्रकार महान् कष्ट देकर जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है उसका उपयोग किया जाता है इस क्षुद्र देह को बचाने के लिए ! और तुर्रा यह कि यह सब खपता है भूत-दया के नाम पर। पशु के शरीर मे जन्तु पैदा करके उसकी लस निकाल के मनुष्य के शरीर मे छेद के डालते हैं ! ऐसे नाना प्रकार के भीषण कृत्य हो रहे

है। जिस देह के लिए हम यह सब करते हैं वह तो एक कच्चे काँच की तरह है, जो पलभर मे ही फूट सकता है। इसका जरा भी भरोसा नहीं किया जा सकता। यद्यपि मनुष्य के देह की रक्षा के लिए ये सारे उद्योग हो रहे हैं फिर भी अन्त में नतीजा क्या निकलता है? ज्यों ज्यो इस नाजुक देह को सभालने का प्रयत्न किया जाता है त्यों-त्यों उसका नाश अधिकाधिक होता जाता है। यह प्रतीति हमें होती रही है, फिर भी इस देह को मोटा-ताजा-करने का,इसकी महिमा बढाने का प्रयत्न जारी ही है।

किन्तु हमारा ध्यान कभी इस बात की तरफ नहीं जाता कि किस प्रकार का आहार करने से बुद्धि सात्विक होगी। मनुष्य इस बात को मानो बिलकुल ही नहीं देख रहा है कि मन को अच्छा बनाने के लिए, बुद्धि को निर्मल रखने के लिए क्या करना चाहिए, किस वस्तु की सहायता लेनी चाहिए। वह तो इतना ही देखता है कि शरीर का वजन किस तरह से बढता है। वह इसी की चिन्ता करता दीखता है कि जमीन पर की मिट्टी उठकर उसके शरीर पर कैसे चिपक जाय, मिट्टी के वे लौंदे उसके शरीर पर कैसे थुप जांय। पर इस बात को भूल जाता है कि जैसे गोबर का कण्डा सूखने पर फिर नीचे गिर पडता है उसी तरह शरीर पर चढाया यह मिट्टी का लेप—यह चरबी—अन्त को गल जाती है व शरीर फिर अपनी असली स्थिति में आ जाता है। आखिर इसका मतलब क्या जो हम शरीर पर इतनी मिट्टी चढा लें; इतना वजन बढ़ा ले कि शरीर उसका बोझ ही न सह सके? शरीर को इतना अनाप-शनाप मोटा बनाया ही क्यों जाय? हां, यह शरीर हमारा एक साधन है, अतः उसे ठीक रखने के लिए जो-कुछ आवश्यक है, वह सब मुझे करना चाहिए। यन्त्र है तो उससे काम लेना चाहिए। यन्त्र का अभिमान नहीं रख सकते—कोई यन्त्राभिमान जैसा भी कहीं हो सकता है? फिर इस शरीर-रूपी यन्त्र के संबन्ध में भी हम इसी तरह विचार क्यों न करें?

सारांश, यह देह साध्य नहीं बल्कि एक साधन है। यदि यह भाव हमारा दृढ हो जाय तो फिर शरीर का जो इतना तूमार खड़ा किया जाता है वह न रहेगा। जीवन हमको और ही तरह से दीखने लगेगा। फिर इस देह को सजाने में हमें गौरव न अनुभव होगा। सच पूछिए तो इस देह को एक सादे कपड़े की आवश्यकता है। पर हम कहते हैं, चाहते हैं, वह नरम, मुलायम हो। उसका बढिया रंग हो, सुन्दर छपाई हो, अच्छे किनारी बेल-बूटे हो, कलाबत्तू हो, आदि। उसके लिए हम अनेक लोगों से तरह-तरह की मिहनत कराते हैं। यह सब क्यों? उस भगवान् के क्या अक्ल नहीं थी? यदि इस देह के लिए सुन्दर बेलबूटों व नक्काशी की जरूरत होती तो जैसे शेर, हिरन, व मोर आदि के शरीर पर उसने अपनी कारीगरी की करामात दिखाई है, वैसे क्या तुम्हारे-हमारे शरीर पर नहीं दिखा देते? इसके लिए क्या यह असम्भव था? मोर की तरह सुन्दर पूंछ हमें भी लगा दे सकता था। परन्तु ईश्वर ने मनुष्य को एक ही रंग दिया है। जरा उसमें दाग पड़ जाता है तो उलटा इसका सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। मनुष्य जैसा है वैसा ही सुन्दर है। परमेश्वर का यह उद्देश ही नहीं मालूम होता कि मनुष्य-देह को सजाया जाय। सृष्टि में क्या कम सौंदर्य है? मनुष्य का काम इतना ही है कि वह अपनी आंखों से इसको निहारता रहे। परन्तु यह रास्ता भूल गया है। कहते हैं, जर्मनी ने हमारे रंग को मार दिया। अरे भाई, तुम्हारे मन का रंग तो पहले ही मर चुका था, इसीसे तो तुम्हें इस बनावटी रंग का शौक लगा! इसीलिए तो तुम परावलम्बी हो गये। बिला वजह ही तुम इस शरीर-श्रृंगार के चक्कर में पड़ गये। मन को सिंगारना, बुद्धि का विकास करना, हृदय को सुन्दर बनाना तो एक तरफ ही रक्खा रह गया।

(४)

इसलिए, भगवान् ने इस तेरहवें अध्याय में जो विचार हमें दिया है, वह बड़ा कीमती है। 'तू देह नहीं आत्मा है।' "तत्त्वमसि, वह

आत्म-रूप तू ही है।" यह बडा उच्च, पवित्र उद्गार है, पावन व उदात्त उच्चार है। संस्कृत-साहित्य मे यह बडा ही महान् विचार समाविष्ट किया गया है—"यह ऊपर का कवच, छिलका, ढांचा, तू नही है। उसका असल अविनाशी फल-गूदा—तू है।" जब कभी मनुष्य के हृदय मे यह विचार स्फुरित होगा कि 'सो तू है', यह देह मैं नही, वह परमात्मा मै हूं यह भाव मन में जम जायगा, उसी समय उसके मन मे एक अननुभूत आनंद लहराने लगेगा। मेरे उस रूप को मिटाने का—नष्ट कर डालने का सामर्थ्य संसार की किसी वस्तु मे नही। किसी मे भी ऐसी शक्ति नहीं है। यह सूक्ष्म विचार इस उद्गार मे समाया हुआ है।

इस देह से परे अविनाशी व निष्कलंक जो आत्म-तत्व है सो मै हूं। उस आत्मतत्व के लिए मुझे यह शरीर मिला हुआ है। जब-जब उस परमेश्वरी तत्व के दूषित हो जाने की सम्भावना होगी तब तब मै उसको बचाने के लिए इस देह को फेक दूंगा। परमेश्वरी तत्व को उज्वल रखने के लिए इस देह को होमने मै सदा तैयार रहूँगा। मैं जो इस देह पर सवार होकर आया हूं सो क्या इसलिए कि अपनी फजीहत कराऊं? देह पर मेरी सत्ता चलनी चाहिए। मै इस देह को इस्तेमाल करूंगा व उसके द्वारा हित-मंगल की वृद्धि करूंगा। "भरूंगा मंगल त्रिलोक मे" इस देह को मै महान तत्वो के लिए फेक दूंगा व ईश्वर का जय-जयकार करूगा। रईस-बाबू, धनी-मानी एक कपडे के मैले होते ही उसे फेक देते हैं व दूसरा पहन लेते है, वैसा ही मै भी करूंगा। काम के लिए इस देह की जरूरत है। जिस समय यह देह काम के लायक न रह जायगा उस समय उसे फेक देने मे मुझे क्या पशोपेश हो सकता है? सत्याग्रह के द्वारा हमे यही शिक्षण मिलता है। देह व आत्मा ये अलग-अलग चीजे है। जिस दिन मनुष्य इस मर्म को समझ जायगा, उसी दिन उसके सच्चे शिक्षण की, वास्तविक विकास की शुरुआत होगी। उसी समय हम सत्याग्रह के वास्तविक

अधिकारी होंगे। अतः यह आवश्यक है कि हम प्रत्येक इस भावना को अपने हृदय में अंकित कर ले। देह तो निमित्त–मात्र–साधन है, परमेश्वर का दिया एक औजार है। जिस दिन उसकी जरूरत खतम हो जायगी उसी दिन इसे फेंक देना है। सर्दी के गरम कपडे हम गर्मियों मे फेंक देते है, रात को ओढे हुए वस्त्र सुबह उतार देते हैं, सुबह के कपड़े दोपहर को छोड देते है, उसी तरह इस देह को समझो। जब तक देह का काम है तब तक उसे जरूर रक्खेंगे, जिस दिन इसे काम न रहेगा उसी दिन कपडे की तरह इसे फेंक देंगे। आत्मा के विकास के लिए भगवान् यह युक्ति हमे बता रहे है।

(६)

जब तक हम यह न समझ लेंगे कि देह से मै अलग हूं तब तक जालिम लोग हम पर जरूर जुल्म ढहाते रहेंगे; हमे बन्द–गुलाम बनाते रहेंगे, हमको न जाने क्या क्या त्रास देते रहेंगे। जुल्म भय के कारण ही शक्य हो सकता है। एक राक्षस ने एक आदमी को पकड लिया था। वह उससे बराबर काम लेता रहता था। जब कभी वह काम नहीं करता तो राक्षस कहता—"खा जाऊंगा, तुझे चकनाचूर कर दूंगा।" शुरू में तो वह मनुष्य डरता रहता। परन्तु जब वह धमकी असह्य हो गई तो उसने कहा—'ले खा डाल, खाना हो तो खा जा।' राक्षस उसे खाजाने वाला थोडा ही था। उसे तो एक बन्दा गुलाम चाहिए था। खाजाने से उसका काम कैसे चलता? वह तो सिर्फ उसे खा जाने की धमकी दिया करता था। परन्तु ज्यों ही यह जवाब मिला कि'ले खा जा।' तो उसका जुल्म बन्द हो गया। जालिम लोग यह समझते हैं कि ये लोग देह से चिपके रहने वाले हैं। इनके देह को जहां कष्ट पहुंचा नहीं कि ये गुलाम होकर दब कर बैठ जायंगे। परन्तु जहां आपने देह की आसक्ति छोड दी कि तुरन्त सम्राट् हो जायंगे, स्वतन्त्र हो जायंगे। सारा सामर्थ्य आपके हाथ मे आजायगा। कोई भी आप पर हुक्म नही चला सकता। जुल्म करने का आधार ही टूट जाता है। उनकी बुनियाद ही है इस

भावना पर कि 'देह मै हूं।' वे समझते हैं कि इनके देह को सताया नहीं कि ये बस मे हुए नहीं, इसीलिए वे धमकी देते रहते हैं।

'मै देह हूं'—इस भावना के कारण ही दूसरो को हम पर जुल्म करने की, सताने की इच्छा होती है। परन्तु इंग्लैण्ड का हुतात्मा—बलिवीर—क्रैन्मर ने क्या कहा था—'मुझे जलाते हो। अच्छा जला डालो, लो पहले यह दाहिना हाथ जलाओ।' इसी तरह रिड्ले व लैटिमर ने क्या कहा था—'हमे जलाना चाहते हो? हमे कौन जला सकता है? हम तो धर्म की ऐसी ज्योति जला रहे है कि उसे कोई नहीं बुझा सकता। शरीर-रूपी इस मोमबत्ती को, इस चरबी को, जलाकर सत्तत्वो की ज्योति जगमगाना तो हमारा काम ही हैं। देह जल जायगा। मिट जायगा, यह तो एक दिन जाने ही वाला है।' सुकरात को जहर देकर मारने की सजा दी गई। तब उसने कहा—'मै अब बूढा होगया हूं। चार दिन के बाद देह छूटने ही वाला था। जो मरने ही वाला है उसे मार कर आप लोग कौनसी बहादुरी कर रहे हो? जरा सोचिए तो कि यह शरीर एक दिन अवश्य मरने वाला है। जो मर्त्य है उसे मारने मे कौन-सी तारीफ है?' जिस दिन सुकरात को जहर दिया जाने वाला था उसके पहली रात वह शिष्यो को आत्मा के अमरत्व की शिक्षा दे रहा था। शरीर मे विष का प्रवेश होने पर उसे क्या-क्या वेदनाएं होगी, इसका वर्णन वह मौज से कर रहा था। उसे कुछ भी फिक्र नही मालूम होती थी। आत्मा की अमरता-सम्बन्धी यह चर्चा खतम होने पर उसके एक शिष्य ने पूछा—'मरने पर आपकी अन्त्येष्टि क्रिया कैसे की जाय?' उसने जवाब दिया—'खूब, मारेंगे तो वे व गाडोगे तुम। तो क्या मारने वाले मेरे दुश्मन हैं, तुम मुझे बहुत चाहने वाले हो? वे अक्लमदी से मुझे मारेंगे, व तुम समझदारी से मुझे गाडोगे? तुम कौन हो मुझे गाडने वाले? मैं तुम सबसे परे हूं। तुम किसमें मुझे गाडोगे? मिट्टी मे या नाश मे? मुझे कोई नही मार सकता। न कोई गाड ही सकता है। अब तक मैंने क्या समझाया तुम लोगो को? आत्मा

अमर है, उसे कौन तो मार सकता है, व कौन गाड सकता है ?" और सचमुच दो-ढाई हजार वर्षों से वह महान् सुकरात सबसे परे रह रहा है !

(६)

आशय यह कि जब तक देह की आसक्ति है, भीति है, तब तक वास्तविक रक्षा नही हो सकती। तब तक एकसा डर लगता रहेगा। जरा नीद लगी नही कि यह खटका रहेगा, कोई सांप तो आकर न काट खाय, चोर तो आकर घात न कर जाय। मनुष्य सिरहाने डण्डा लेकर सोता है। क्यो ? तो कहता है—'साथ रखना अच्छा है, कही चोर-वोर आ जाय तो।' पर वह यह भूल जाता है कि कहीं चोर उठाकर वही डण्डा उसके सिर पर मार दे तो ? चोर यदि डण्डा लाना भूल गया हो तो तुम उसके लिए पहले ही से तैयार कर रखते हो। तुम किसके भरोसे पर सोते हो ? तुम जग रहे होगे तो ही बचाव करोगे न ? नींद मे तुम्हारी रक्षा कौन करेगा ?

मैं किसी-न-किसी शक्ति पर विश्वास रख के सोता हूं। जिस शक्ति पर भरोसा रख के शेर, गाय, आदि जानवर सोते है उसीके भरोसे मैं भी सोता हूं। शेर को भी तो नीद आती है। सिह भी, जो सारी दुनिया से बैर होने के कारण हर घडी पीछे देखता है, वह भी सोता ही है। उस शक्ति पर यदि विश्वास न हो तो कुछ सिंह सोते व कुछ जग-कर पहरा देते—ऐसी व्यवस्था उन्हे करनी पडती। जिस शक्ति पर विश्वास रखके शेर, बघेरे, सिह आदि क्रूर जीव भी सोते है उसी विश्व-व्यापक शक्ति की गोद मे मै भी सो रहा हूं। मां की गोद मे बच्चा बे-फिक्री से सोता है। वह मानो उस समय दुनिया का बादशाह ही होता है। हमे चाहिए कि हम भी उसी विश्वंभर माता की गोद मे इसी तरह प्रेम, विश्वास व ज्ञान-पूर्वक सोने का अभ्यास करें। जिस शक्ति के आधार पर मेरा यह सारा जीवन चल रहा है उसका मुझे अधिकाधिक परिचय कर लेना चाहिए। वह शक्ति मुझे उत्तरोत्तर प्रतीत होनी चाहिए। इस शक्ति मे मुझे जितना विश्वास पैदा होगा उतना ही अधिक

मेरा रक्षण हो सकेगा। जैसे-जैसे मुझे इस शक्ति का अनुभव होता जायगा वैसे-ही-वैसे मेरा विकास होता जायगा। इस तेरहवे अध्याय मे इसका किंचित् क्रम भी दिग्दर्शित किया गया है।

(७)

जब तक देहस्थित आत्मा का विचार मन मे नही आता है तब तक मनुष्य साधारण क्रियाओ मे ही तल्लीन रहता है। भूख लगे तो खा लिया, प्यास मालूम हुई तो पानी पी लिया, नीद आई तो सो गये, इससे अधिक वह कुछ नही जानता। इन्ही बातो के लिए वह लडेगा; इन्ही की प्राप्ति का लोभ मन मे रखेगा। इस तरह इन दैहिक क्रियाओ मे ही वह मग्न रहता है। विकास का आरम्भ तो इसके बाद से होता है। इस समय तक आत्मा सिर्फ देखता रहता है। मा जिस तरह कुएं की ओर रेगते जाने वाले बच्चे की पीठ पर सतत खडी रहती है उसी प्रकार आत्मा हम पर निगाह रखे खडा रहता है। शान्ति के साथ वह सब क्रियाओ को देखता है। इस स्थिति को 'उपद्रष्टा' साक्षी-रूप से सब देखने वाला कहा है।

इस अवस्था मे आत्मा देखता है, परन्तु अभी वह सम्मति, स्वीकृति नही देता है। परन्तु यह जीव जो अब तक अपने को देह-रूप समझकर सब क्रिया, सब व्यवहार करता है वह आगे चलकर जागता है। उसे भान होता है कि अरे,मै पशु की तरह जीवन बिता रहा हूं। जीव जब इस तरह विचार करने लगता है, तब उसकी नैतिक भूमिका शुरू होती है। तब कदम-कदम पर वह उचित-अनुचित का विचार करता है। विवेक से काम लेने लगता है। उसकी विश्लेषण-बुद्धि जाग्रत होती है। स्वैर क्रियाएं रुकती है। स्वच्छन्दता की जगह संयम आता है। जब जीव इस नैतिक भूमिका मे आता है तब आत्मा केवल स्वस्थ रहकर नही देखता, वह भीतर से अनुमोदन देता है—'शाबास', 'खूब' ऐसी आवाज अन्दर से आती है। अब वह केवल उपद्रष्टा न रहा,'अनुमन्ता' हो गया।

यदि कोई भूखा अतिथि दरवाजे आ जाय व आप अपनी परोसी थाली उसे दे दें, व फिर रात को जब अपनी इस सत्कृति का स्मरण हो, तो देखिए मन को कितना आनंद होता है। भीतर से आत्मा की गुंजार कानो मे होती है—'अच्छा काम किया।' मां जब बच्चे की पीठ पर हाथ फिराकर कहती है 'अच्छा किया बेटा' तो उसे ऐसा मालूम होता है, मानो सारी दुनिया की बख्शीश मुझे मिल गई। उसी तरह हमारे हृदयस्थ परमात्मा के 'शाबास बेटा' ये शब्द हमें प्रोत्साहन देते है। ऐसे समय जीव भोगमय जीवन को छोड़कर नैतिक जीवन की भूमिका मे स्थित होता है।

इसके बाद की भूमिका यह है—नैतिक जीवन मे मनुष्य कर्तव्य कर्म के द्वारा अपने मन के तमाम मलो को धोने का यत्न करता है। परन्तु एक समय ऐसा आता है जब मनुष्य ऐसा काम करते-करते थकने लगता है। तब जीव ऐसी प्रार्थना करने लगता है—'हे भगवन्, मेरे उद्योगो की, मेरी शक्ति की अब हद आ गई, मुझे अधिक बल दे। जब तक मनुष्य को यह अनुभव नहीं होता कि उसके तमाम प्रयत्न के बावजूद वह अकेला कामयाब नही हो सकता तब तक प्रार्थना का रहस्य उसकी समझ मे नही आ सकता। अपनी सारी शक्ति लगाकर भी जब वह काफी नही मालूम होती तब आर्त्तभाव से द्रौपदी की तरह परमात्मा को पुकारना चाहिए। परमेश्वरी-कृपा व सहायता का स्रोत तो सतत बहता ही रहता है। जिस किसी को प्यास लग रही हो वह अपना हक समझकर उसमे से पानी पी सकता है। जिसे कमी पडती है वह मांग ले। इस तरह का सम्बन्ध इस तीसरी भूमिका मे होता है। परमात्मा अधिक नजदीक आता है। अब वह केवल शाब्दिक शाबाशी न देते हुए सहायता करने के लिए आता है।

पहले परमेश्वर दूर खडा था। गुरु शिष्य से यह कहकर कि सवाल लगाओ, दूर खडा या बैठा रहता है। उसी तरह जब जीव भोगमय जीवन में लिप्त रहता है, तब परमात्मा दूर खडा रहता है। वह कहता है—

ठीक है, चलने दो तुम्हारे कबाडे । फिर वह नैतिक भूमिका मे आता है। तब परमात्मा कोरा तटस्थ नही रह सकता। जीव के हाथ से सत्कर्म हो रहा है, ऐसा देखते ही भगवान् धीरे-से झांकता है और कहता है— "शाबाश," इस तरह सत्कर्म होते-होते जब चित्त के स्थूल मल धुल जाते है और सूक्ष्म मल धुलने का समय आता है और जब उसके सारे प्रयत्न थकने लगते है तब वह परमात्मा को पुकारता है और वह 'आया' कह कर दौड आता है। भक्त का उत्साह कम पडते ही वह वहां आ खडा हो जाता है। जग का सेवक सूर्यनारायण आपके दरवाजे पर सदैव खडा ही रहता है। सूर्य बन्द दरवाजे को तोडकर भीतर नही घुसेगा; क्योंकि वह सेवक है। वह स्वामी की मर्यादा पालता है। वह दरवाजे पर धक्का नही देगा। भीतर मालिक सोया हुआ है तो भी वह सूर्य-रूपी सेवक दरवाजे के बाहर रहता है। जरा दरवाजा खोलिए कि वह सारा का सारा प्रकाश लेकर अन्दर घुस आता है और अंधेरा दूर कर देता है। परमात्मा की स्थिति भी ऐसी ही समझो। उससे मदद मांगिए तो वह बाहु फैलाकर आया ही समझो। भीमा के किनारे (पंढरपुर) कमर पर हाथ रखकर वह तैयार ही खडा है।

उठा के लो भुजा, कहे प्रभु आजा ॥

ऐसा वर्णन तुकाराम आदि ने किया है। नाक खोलो कि हवा भीतर आई ही। दरवाजा खोलो कि प्रकाश भीतर आया ही। हवा और प्रकाश के दृष्टान्त भी मुझे ना-काफी मालूम होते है। उनकी अपेक्षा भी परमात्मा अधिक सन्निध, अधिक उत्सुक है। वह उपद्रष्टा, अनुमन्ता न रहते हुए "भर्त्ता" सब तरह सहायक, होता है। मन की मलिनता मिटाने के लिए अगतिक होकर जब हम पुकारते है—'मारी नाव तमारे हाथे प्रभु संभाल जो रे।" हम प्रार्थना करते हैं—"तुही एक मेरा मददगार है, तेरा आसरा मुझको दरकार है।" तब फिर वह दयाघन कैसे दूर रहेगा? भक्तवत्सल वह भगवान्, अधूरे को पूरा करनेवाला वह प्रभु, दौड पड़ता है। तब वह रोहिदास के यहां चमडे धोता है, सजन कसाई के

यहां मांस बेचता है, कबीर की झोपडी मे चादर बुनता है, व जनाबाई के यहां चक्की पीसता है।

इसके बाद की सीढी है परमेश्वर के कृपाप्रसाद से कर्म का जो फल मिला उसे भी खुद न लेकर उसी के अर्पण कर देना। इस भूमिका में जीव परमेश्वर से कहता है—'अपना फल आप ही भोगो'। नामदेव धरना देकर बैठ गया कि प्रभु, दूध पीना ही पडेगा। कितना मधुर प्रसंग है। वह सारा कर्मफल रूपी दूध नामदेव भगवान् के अर्पण कर रहा है। इस तरह जीवन की सारी पूंजी, सारी कमाई, जिस परमात्मा की कृपा से प्राप्त हुई उसी को वह अर्पण कर देगा। धर्मराज ज्योंही स्वर्ग मे कदम रखने वाले थे कि उनके साथ के कुत्ते को आगे नही जाने दिया गया। तब उन्होंने अपने सारे जीवन का पुण्य-फल—स्वर्ग—एक क्षण मे छोड दिया। इसी तरह भक्त भी सारा फल-लाभ परमात्मा के अर्पण कर देता है। उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्त्ता—इन स्वरूपो मे प्रतीत होनेवाला परमात्मा अब भोक्ता हो जाता है। अब जीव उस भूमिका मे आ जाता है जब परमात्मा ही, शरीर मे भोगों को भोगता है।

इसके बाद अब आगे संकल्प ही करना छोड देता है। कर्म मे तीन सीढियां आती है। पहले हम संकल्प करते हैं, फिर कार्य करते है और बाद को फल आता है। कर्म के लिए प्रभु की सहायता लेकर जो फल मिला, वह भी उसीके अर्पण कर दिया। कर्म करने वाला परमेश्वर, फल चखने वाला भी परमेश्वर ही! अब उस कर्म का संकल्प करने वाला भी परमेश्वर हो जाता है। इस प्रकार कर्म के आदि, मध्य और अन्त मे सर्वत्र प्रभु ही हो जाता है। ज्ञानदेव ने कहा—

माली जिधर ले गया। उधर चुपचाप गया॥
यों पानी जैसा भैय्या। होओ सदा॥'

माली पानी को जिधर ले जाना चाहता है उधर ही वह बिना चूंचपड किये चला जाता है। माली जिन फूल और फल के पौधों को

चाहता है उन्हें वह पानी पोसता और बढाता है, इसी तरह मेरे हाथों जो कुछ होना है वह उसीको तय करने दो। मेरे चित्त के सब संकल्पों की जिम्मेदारी मुझे उसी पर सौंपने दो। यदि मैंने अपना सारा बोझ घोडे पर डाल ही दिया है, तो बाकी बोझा मैं अपने ही सिर पर क्यो लाद कर बैठूं? वह भी घोडे की पीठ पर ही क्यों न लाद दूं? अपने सिर पर बोझ रखकर यदि मै घोडे पर बैठूंगा तो भी बोझ घोडे पर ही पडेगा, फिर सारा ही बोझा उसकी पीठ पर क्यो न लाद दूं? इस तरह जीवन की तमाम हलचलो का, उछल-कूद का, उत्थान-पतन का सर्वस्व वह परमात्मा हो अन्त मे हो जाता है। मेरे जीवन का वह महेश्वर ही हो जाता है। इस तरह विकास होते-होते सारा जीवन ही परमेश्वर मय हो जाता है, सिर्फ देह का पर्दा ही बाकी बच रहता है। वह जब हट जाता है तो जीव और शिव, आत्मा और परमात्मा एक ही हो जाता है। इस प्रकार—

"उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वर ।

इस स्वरूप मे हमे परमात्मा का उत्तरोत्तर अधिक अनुभव करना हैं। प्रभु पहले तटस्थ रह कर देखता है। फिर नैतिक जीवन का आरम्भ होने पर हम से सत्कर्म होने लगते है व वह हमे शाबाशी देता है। फिर चित्त के सूक्ष्म मल धो डालने के लिए, अपने प्रयत्नो को अपर्याप्त देखकर भक्त जब पुकारता है तो वह अनाथों के साथ सहायता के लिए दौड़ पडता है। उसके बाद फल को भी भगवान् के अर्पण करके उसे भोक्ता बना देता और अन्त मे तमाम सकल्प उसीके अर्पण करके सारा जीवन हरिमय कर देना है। यही मानव का अन्तिम साध्य है। कर्म-योग व भक्ति-योग रूपी दोनो पखों से उडते हुए साधक को इस अन्तिम मंजिल तक जा पहुंचना है।

इस सबको साधने के लिए नैतिक साधना की मजबूत बुनियाद आवश्यक है। सत्य-असत्य का विवेक करके सत्य को ही सदा ग्रहण करना चाहिए। सार-असार का विचार करके सार ही लेना चाहिए।

सीप को छोड़कर मोती ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार जीवन की शुरुआत करना है। फिर अपने प्रयत्न व परमेश्वरी कृपा के बल पर ऊपर चढते जाना है। इस सारी साधना में यदि हम देह से आत्मा को अलग करने का अभ्यास डाल लें तो हमे बडी मदद मिलेगी। ऐसे समय मुझे हजरत ईसा का बलिदान याद आ जाता है। उन्हें कीलें ठोक-ठोककर मार रहे थे। उस समय उनके मुंह से ये उद्‌गार निकले—'भगवन्, इतनी यातना क्यो देते हो;' किन्तु फौरन् भगवान् ईसा ने अपने मन का तोल संभाला व कहा—"अच्छा जो तेरी मर्जी, तेरी ही इच्छा पूर्ण होने दे। इन लोगो को क्षमा कर—ये नही जानते कि ये क्या कर रहे है।" हजरत ईसा के इस उदाहरण मे बडा रहस्य भरा हुआ है। देह से आत्मा को कितना अलग करना चाहिए, इसका यह चिह्न है। कहां तक मंजिल तय करना चाहिए, कहां तक तय की जा सकती है, यह ईसा-मसीह के जीवन से मालूम हो जाता है। देह एक कवच, एक छिलके की तरह अलग हो रहा है—यहां तक मंजिल आ पहुंची है। जब-जब आत्मा को देह से अलग करने का विचार मेरे मन मे आता है, तब-तब ईसा-मसीह का यह जीवन, यह दृश्य मेरी आंखो के सामने आ जाता है। देह से अपनी साफ पृथक्ता का, उसका सम्बन्ध टूटने जैसा हो जाने-का नमूना ईसा-मसीह का जीवन है।

देह व आत्मा का यह पृथक्करण तब तक शक्य नहीं है जब तक सत्य-असत्य का विवेक न किया जाय। यह विवेक, यह ज्ञान हमारी रग-रग मे व्याप्त हो जाना चाहिए। ज्ञान का अर्थ हम करते हैं 'जानना', परन्तु बुद्धि से जानना ज्ञान नही है। मुंह मे कौर डाल लेना, भोजन कर लेना नही है। मुंह का कौर चबाकर गले में जाना चाहिए व वहां से पेट मे जाकर पचन होकर उसका रस-रक्त सारे शरीर मे पहुंच कर पुष्टि मिलनी चाहिए। तभी वह सच्चा भोजन होगा। उसी तरह कोरे बुद्धि-गत ज्ञान से काम नहीं चल सकता। वह जानकारी, वह ज्ञान सारे जीवन

मे व्याप्त होना चाहिए। हृदय मे संचरित होना चाहिए। हमारे हाथ-पांव, आंख आदि इन्द्रियों के द्वारा प्रकट होना चाहिए। ऐसी स्थिति हो जानी चाहिए कि सारी ज्ञानेन्द्रियां व कर्मेन्द्रियां विचार-पूर्वक ही सब कर्म करें। इसलिए इस तेरहवे अध्याय में भगवान् ने ज्ञान की बहुत बढिया व्याख्या की है। स्थित-प्रज्ञ के लक्षण की तरह ही ज्ञान के भी लक्षण बताये है।

'नम्रता, दम्भशून्यत्व, अहिंसा, ऋजुता, क्षमा' आदि बीस गुण भगवान् ने बताये है। वे केवल यह कहकर नही रुके कि इन गुणो को ज्ञान कहते है, बल्कि यह भी साफ तौर पर बताया है कि इसके विपरीत जो कुछ है वह अज्ञान है। ज्ञान की साधना का ही अर्थ है ज्ञान। सुकरात कहता कि है—सद्गुण को ही मै ज्ञान मानता हूं। साधना व साध्य दोनों एक-रूप ही हैं।

गीता के इन बीस साधनो को ज्ञानदेव ने अठारह ही कर दिये है। उन्होंने इनका वर्णन बडी हार्दिकता से किया है। इस साधना, इन गुणो से संबन्ध रखनेवाले केवल पांच ही श्लोक भगवद्गीता मे है। परन्तु ज्ञानदेव ने अपनी ज्ञानेश्वरी मे इन पर सात सौ ओवियां एक छंद मे लिखी है। वे इस बात के लिए बहुत उत्सुक थे कि समाज मे सद्गुणो का विकास हो, सत्य-स्वरूप परमेश्वर की महिमा फैले। इन गुणो का वर्णन करते हुए उन्होंने अपना सारा अनुभव उन ओवियो मे उंडेल दिया है। पाठकों पर उनका यह अनंत उपकार है। ज्ञानदेव के रोम-रोम मे ये गुण व्याप्त थे। भैसे को जो चाबुक लगाया गया तो उसका निशान ज्ञानदेव की पीठ पर उठ आया। भूत-मात्र के प्रति इतनी समवेदना उनमे थी। ज्ञानदेव के ऐसे करुणापूर्ण हृदय से ज्ञानेश्वरी प्रकट हुई है। उन्होंने उसमे जो इन गुणो का विवेचन किया है वह पढने योग्य है, मनन करने व हृदय मे अङ्कित कर लेने योग्य है। ज्ञानदेव की यह मधुर भाषा मै चख सका—इस के लिए मै अपने को धन्य मानता हूं। उनकी मधुर भाषा मेरे मुंह मे आकर बैठ जाय—इसके लिए यदि मुझे फिर से जन्म लेना पड़े तो मै धन्यता ही अनुभव करूंगा। अस्तु।

सार यह कि उत्तरोत्तर अपना विकास करते हुए आत्मा से देह की सत्ता को पृथक् मानते व समझते हुए सब लोग अपने जीवन को परमेश्वर-मय बनाने का यत्न करें।

चौदहवां अध्याय

रविवार, ता० २२-५-३२

(१)

भाइयो, आज का चौदहवां अध्याय एक अर्थ मे पिछले अध्याय का पूरक ही है। सच पूछो तो आत्मा को खुद कुछ करने की आवश्यकता नही है। क्योकि वह स्वयंपूर्ण है।

आत्मा की गति स्वभावत ही ऊर्ध्वगामी है; परन्तु जब किसी वस्तु के साथ कोई जड यानी भारी वजन बांध दिया जाता है तो जैसे वह नीचे खिचती चली जाती है। उसी तरह शरीर का यह बोझ आत्मा को नीचे खीच ले जाता है पिछले अध्याय मे हमने यह देखा कि किसी भी उपाय से यदि देह और आत्मा को हम पृथक् कर सके तो हमारी प्रगति हो सकती है। यह बात चाहे कठिन हो, पर इसका फल भी महान् निकलेगा। आत्मा के पाव की यह देह-रूपी बेडी यदि हम काट सकें तो हम बडे आनन्द को अनुभव करेगे। फिर मनुष्य देह के दु ख से दु.खी न होगा। वह स्वतन्त्र हो जायगा। यदि इस एक देह-रूपी वस्तु को मनुष्य जीत ले तो फिर कौन ससार मे उस पर सत्ता चला सकता है? जो अपने पर राज्य करता है वह विश्व का सम्राट् हो जाता है। अत देह की जो सत्ता आत्मा पर हो गई है उसे हटा दो। देह के ये जो सुख-दु.ख है सब विदेशी है, विजातीय हैं। आत्मा से उनका तिल-मात्र भी सम्बन्ध नही है।

इन सुख-दुःखो को किस अंश तक देह से अलग किया जाय, इसका अन्दाज मैने भगवान् ईसा के उदाहरण से बतला दिया है।

उन्होंने दिखा दिया है कि देह को मर्मान्तक वेदना होते हुए भी किस तरह मन को शान्त और आनन्दमय रखा जा सकता है। परन्तु इस तरह देह को आत्मा से अलग रखना जहां एक ओर विवेक का काम है तहां दूसरी ओर निग्रह का भी काम है।

विवेक के साथ, वैराग्य का बल।

तुकाराम ने कहा है विवेक और वैराग्य दोनो की जरूरत है। वैराग्य एक प्रकार का निग्रह, तितिक्षा है। इस चौदहवे अध्याय मे निग्रह की दिशा बताई गई है। नाव को खेने का काम तो बल्लियां करती हैं, परन्तु दिशा दिखाने का काम पतवार करता है। अतः बल्लियां और पतवार दोनो चाहिए। उसी तरह देह के सुख-दुःखो से आत्मा को अलग रखने के लिए विवेक और निग्रह दोनो की आवश्यकता है।

वैद्य जिस तरह मनुष्य की प्रकृति को देखकर दवा बताता है उसी तरह भगवान् ने चौदहवे अध्याय मे तमाम प्रकृति की परीक्षा करके, पृथक्करण करके, कौन-कौन-सी बीमारिया है,सो बताया है। इसमे प्रकृति के ठीक-ठीक विभाग किये गये है। राजनीति-शास्त्र मे विभाजन विषयक बड़ा सूत्र है। जो शत्रु सामने है उसके दल मे यदि विभाजन, भेद किये जा सके तो वह जल्दी पराजित किया जा सकता है। भगवान् ने यहां ऐसा ही किया है।

मेरी, आपकी, सब जीवो की, सारे चराचर की जो प्रकृति है उसमें तीन गुण हैं। जिस तरह आयुर्वेद मे कफ, पित्त, वात है, उसी तरह यहां सत्व, रज, तम ये तीन गुण प्रकृति में मौजूद है। सब जगह इन्ही तीन गुणो का मसाला भरा हुआ है। कहीं कम हैं तो कही ज्यादा। जब इन तीनो से आत्मा को अलग करेंगे तभी देह से आत्मा को अलग किया जा सकेगा। देह से आत्मा को अलहदा करने का तरीका ही है इन तीन गुणो की परीक्षा करके उन्हे जीत लेना। निग्रह के द्वारा एक-

एक वस्तु को जीत कर अन्त को मुख्य वस्तु तक जा पहुंचना है ।

(२)

पहले हम तमोगुण को लें ।·वर्तमान समाज-स्थिति मे हमे तमो-गुण के वहुत ही भद्दे परिणाम दिखाई देते हैं । इसका मुख्य परिणाम है आलस्य । इसी से फिर नींद व प्रमाद का जन्म होता है । इन तीन वातो को जीत लिया तो फिर तमोगुण को जीत लिया ही समझो । इनमें आलस्य वडा ही भयंकर है । अच्छे-से-अच्छे आदमी भी इस आलस्य से वेकार हो जाते हैं । समाज की सारी सुख-शान्ति को मिटा डालने वाला यह रिपु है । यह छोटे-से-वडे तक सव को वेकार कर देता है । इस शत्रु ने सव को ग्रसित कर रखा है । वह हम पर हावी होने के लिए घात लगाकर वैठा ही रहता है । जरा-सा मौका मिला कि भीतर घुसा ही । जरा खाना ज्यादा खाया कि उसने लेटने पर मजबूर किया । जहा जरा ज्यादा लेटे कि आंखो मे आलस छाया। अत जबतक इसे न पछाडा तबतक सव प्रयत्न व्यर्थ हैं । मगर हम तो आलस्य के लिए उत्सुक रहते हैं । इच्छा रहती है कि एक बार दिन-रात मेहनत करके रुपया इकट्ठा करले तो फिर चैन से कटेगी । बहुत रुपये कमाने का अर्थ है आगे के लिए आलस्य की तैयारी कर रखना । हम लोग आमतौर पर मानते हैं कि बुढापे मे आराम की जरूरत रहती है। परन्तु यह धारणा गलत है । यदि हम जीवन मे ठीक तरह से रहे तो बुढापे में भी काम करते रहेगे । वल्कि अधिक अनुभवी होजाने से वुढापे मे ज्यादा उपयोगी साबित होंगे । और उलटा हम·कहते हैं, उसी समय आराम करेंगे ।

ऐसी सावधानी रखनी चाहिए कि जिससे आलस्य को विलकुल ही मौका न मिले । नल राजा इतना महान् था । परन्तु पाव धोते हुए जरा-सा हिस्सा कोरा रह गया तो उसी में से कलि भीतर वैठ गया । नल राजा तो था अत्यन्त शुद्ध,सव तरह से स्वच्छ,परन्तु जरा-सा शरीर कोरा रह गया, इतना आलस्य या असावधानी रह गई तो फौरन

'कलि' भीतर घुस गया ! पर हमारा तो सारा का सारा ही शरीर कोरा रखा हुआ है। कही से भी आलस्य हमारे अन्दर घुस सकता है। जहां शरीर अलसाया नही कि मन-बुद्धि भी अलसा जाते है। आज के समाज की रचना इस आलस्य पर ही की गई है। इससे अनन्त दु.ख उत्पन्न हो गये हैं। अतः यदि हम इस आलस्य को निकाल सके तो सब नही तो बहुतेरे दु.खों को हम दूर कर सकेंगे।

आजकल चारो ओर समाज-सुधार की चर्चा चलती है। यह सोचा जाता है कि साधारण आदमी को भी कम-से-कम इतना सुख मिलना चाहिए, और इसके लिए अमुक तरह की समाज-रचना होनी चाहिए। एक ओर अतिशय सुख तो दूसरी ओर अतिशय दु.ख है। एक ओर सम्पत्ति का ढेर तो दूसरी ओर दरिद्रता की गहरी खाई ! यह सामाजिक विषमता कैसे दूर हो ? तमाम आवश्यक सुख सहज तौर पर प्राप्त करने का एक ही उपाय है। और वह है आलस्य छोडकर सब श्रम करने को तैयार हो। हमारा मुख्य दु.ख हमारे आलस्य के ही कारण है। यदि सब लोग शारीरिक श्रम करने का निश्चय करले तो यह दु.ख दूर हो जाय।

परन्तु आज समाज मे हम देखते क्या है ? एक ओर जग चढ-चढकर निरुपयोगी हुए लोग दीखते है। धनी-मानी-राजा-रईस के शरीर, अंग-प्रत्यंग थकते जा रहे हैं। उपयोग न होने से वे सुस्त बेकार-से हो रहे हैं। दूसरी ओर इतनो काम करना पड रहा है कि सारा शरीर ही छीज रहा है। यों समाज में शारीरिक श्रम से बचने की प्रवृत्ति हो रही है। जो मर-पच कर काम करते हैं वे भी खुशी-खुशी ऐसा नहीं करते। बदर्जे मजबूरी करते हैं। पढे-लिखे, समझदार लोग श्रम से बचने के लिए नाना कारण खडे करते है। कोई कहते है—"फजूल क्यों शारीरिक श्रम मे समय गवावे ?" परन्तु कोई ऐसा नही कहता—'यह नीद क्यों फिजूल लें ?' 'भोजन में समय क्यों बरबाद करें ?' भूख लगते ही खाते है। नीद आते ही सोजाते है। परन्तु जब शारीरिक

काम का सवाल आता है तो अलबत्ते हम कहते है—"फिजूल इसमें क्यों समय बरबाद करें ? क्यों अपने शरीर को इतने कष्ट मे डाले ? हमतो मानसिक श्रम जो कर लेते है ।" तो जनाब, यदि काम मानसिक करते हैं तो फिर खाना भी मानसिक खा लीजिए व नीद भी मानसिक ले लीजिए ! मनोमय नीद व मनोमय भोजन करने की तजवीज कर लीजिए न ?

इस तरह समाज मे दो तरह के लोग हो गये हैं। एक तो वे जो दिन-रात पिसते-मरते हैं, दूसरे वे जिन्हे हाथ तक हिलाना नही पडता। मेरे एक मित्र ने एक रोज कहा—कुछ रुण्ड व कुछ मुण्ड। एक ओर धड़ है, दूसरी ओर सिर। धड सिर्फ खपता रहे, सिर सिर्फ विचार करता रहे। इस तरह समाज मे यह राहु-केतु रुण्ड व मुण्ड दो प्रकार हो गये है। परन्तु यदि सचमुच ही ये रुण्ड-मुण्ड होते तो कोई बात नही थी। तब अंध-पंगु-न्याय से ही कोई व्यवस्था हो सकती थी। अंधा लंगडे को रास्ता दिखावे, लंगडा अंधे को कन्धे पर बिठाले। परन्तु इन रुण्ड-मुण्डो के ऐसे अलग टुकडे, समूह नही है। प्रत्येक मे रुण्ड व मुण्ड दोनो हैं। ये जुडे रुण्ड-मुण्ड सब जगह हैं। इससे और मजबूरी है। अत. प्रत्येक को चाहिए कि आलस्य से बाज आवे।

आलस्य छोडने के लिए शारीरिक श्रम करना चाहिए। आलस्य को जीतने का एक यही उपाय है। यदि इससे काम न लिया गया तो इसकी सजा भी कुदरत की ओर से मिले बिना न रहेगी। बीमारियों के या किसी और कष्ट के रूप मे वह सजा भोगनी ही पडेगी, जब कि शरीर हमको मिला है तो श्रम हमे करना ही होगा। शरीर-श्रम मे जो समय लगता है वह व्यर्थ नही जाता। इसका बदला जरूर मिलता है। उत्तम आरोग्य प्राप्त होता है। बुद्धि सतेज, तीव्र और शुद्ध होती है।

बहुतेरे विचारको के विचारो मे भी उनके पेट-दर्द और सिर-दर्द का प्रतिबिम्ब आ जाता है। अतः विचारशील लोग यदि धूप मे, खुली हवा मे, कुदरत की गोद में मेहनत करेगे तो उनके विचार भी तेजस्वी

हो जायगे। शारीरिक रोग का जैसे मन पर असर होता है वैसे ही शारीरिक आरोग्य पर भी होता है। यह अनुभवसिद्ध है। बाद में तपेदिक हो जाने पर भुवाली या और कहीं पहाड़ पर शुद्ध हवा में जाने या सूर्य-किरणों का प्रयोग करने के पहले ही यदि बाहर कुदाली लेकर खोदने, बाग में पेडो को पानी पिलाने और लकडी काटने का काम करें तो क्या बुरा ?

(३)

आलस्य पर विजय प्राप्त करना एक बात हुई। दूसरी बात है नींद को जीतना। नींद वस्तुतः पवित्र वस्तु है। सेवा करके थके हुए साधु-सन्तो की नीद एक योग ही है। इस प्रकार की शान्त और गहरी नींद महाभाग्यवानो को ही मिलती है। नीद गहरी, गाढी होनी चाहिए। नीद का महत्त्व लम्बाई-चौडाई पर नही है। बिछौना कितना लम्बा था और उसपर मनुष्य कितनी देर पडा रहा, इस बात पर नीद अवलम्बित नही है। कुआं जितना गहरा होगा उतना ही उसका पानी अधिक साफ और मीठा होगा। उसी तरह नींद चाहे थोडी हो, पर यदि गहरी हो तो उससे अधिक काम बनता है। मन लगाकर किया आधा घण्टा पठन चंचलता से किये गए तीन घण्टे के पठन से ज्यादा फलदायी होता है। यही बात नीद की है। लम्बी नींद अन्त में हितकर ही होती है, ऐसा नही कह सकते। बीमार चौबीसों घण्टे बिस्तर पर पडा रहता है। उससे जुदा नही होता। फिर भी नीद उसके पास आकर नहीं फटकती। सच्ची नीद वह जो गहरी व निःस्वप्न हो। मरने पर यम-यातना जो कुछ होती हो सो हो; परन्तु जिसे नींद अच्छी नही आती, दुःस्वप्न आते रहते हैं, उसकी यम-यातना का हाल मत पूछिए। वेद में ऋषि त्रस्त होकर कहते हैं—

"परा दुःस्वप्नं सुव"

'ऐसी दुष्ट नींद मुझे नही चाहिए।' नीद आराम के लिए होती है।

परन्तु यदि उसमें भी तरह-तरह के सपने व विचार पिंड न छोड़ते हों तो फिर वहां आराम कहां रहा ?

तो अब गहरी व गाढी नींद आवे कैसे ? जो उपाय आलस्य के लिए बताया गया है वही नींद के लिए भी है। शरीर से सतत काम लेते रहना चाहिए। फिर बिछौने पर पडते ही मुर्दे की तरह हो जाओगे। नींद एक छोटी-सी मृत्यु ही है। ऐसी सुन्दर मृत्यु आने के लिए दिन में पूर्व तैयारी अच्छी होनी चाहिए। शरीर थककर चूर हो जाना चाहिए। शेक्सपीयर ने कहा है—"राजा के सिर पर तो मुकट है, परन्तु सिर मे चिन्ता है।" उस राजा को नीद नही आती। उसका एक कारण यह है कि वह शारीरिक श्रम नहीं करता है। जो जागृति मे सोता है वह सोने के समय क्यो न जगेगा ? दिन मे बुद्धि व शरीर का उपयोग न करना नीद नही तो क्या है ? फिर नीद के समय बुद्धि क्यो न विचार करती रहेगी और शरीर वास्तविक निद्रा-सुख से वंचित रहेगा ? भले ही आप लम्बे होकर क्यो न पडे रहे ? इस तरह जिस जीवन मे परम पुरुषार्थ साधना है उसे यदि नीद ने खा डाला तो पुरुषार्थ की नौबत आयगी कब ? आधा जीवन यदि नीद से ही चला गया तो फिर हम क्या ज्यादा हासिल कर सकेंगे ?

जब बहुत-सा समय नीद में ही चला जाता है तो फिर तमोगुण का तीसरा दोष—प्रमाद अपने-आप होने लगता है। निद्राशील मनुष्य का चित्त दक्ष और सावधान नहीं रह सकता और उलटा अनवधान उत्पन्न होता है। अधिक नीद से फिर आलस्य बढता है और आलस्य से विस्मृति। विस्मृति परमार्थ के लिए नाशक हो जाती है। व्यवहार में भी विस्मृति से हानि होती है। परन्तु हमारे समाज मे तो विस्मृति एक स्वाभाविक बात हो बैठी है। विस्मृति कोई बडा दोष है, ऐसा किसी को मालूम ही नही होता। किसी से मिलना तय करते हैं, परन्तु फिर जाते नहीं। पूछने पर कहते हैं—'अरे भाई, मैं तो भूल ही गया।' फिर ऐसा नहीं प्रतीत होता कि इन्हे उसका बडा पश्चात्ताप होता हो,

और सुननेवाला भी इससे सन्तुष्ट हो जाता है। ऐसा मालूम होता है मानो लोगों ने यह खयाल बना लिया है कि इस विस्मरण का कोई इलाज नही है। परन्तु यह गफलत क्या परमार्थ में व क्या प्रपञ्च में दोनों जगह हानिकर ही है। वास्तव मे विस्मरण एक बड़ा रोग है। उससे बुद्धि में घुन लग जाती है। जीवन खोखला हो जाता है।

मन का आलस्य विस्मरण का कारण है। मन यदि जाग्रत रहे तो फिर भूल नही हो सकती। इधर-उधर डोलनेवाले मन को विस्मरण-रूपी बीमारी हुए बिना नहीं रहती। इसीलिए भगवान् बुद्ध कहते है—

"परमादो मच्चुनो पदं"

प्रमाद—विस्मरण—मानो मृत्यु ही है। इस प्रमाद पर विजय पाने के लिए आलस्य व निद्रा को वशीभूत करना चाहिए। शरीर-श्रम कीजिए व सतत सावधान रहिए। जो-जो काम करने हो उन्हे विचार-पूर्वक कीजिए, यो ही बिना विचारे कोई काम मत कीजिए। कृति के पहले भी विचार, बाद मे भी विचार से काम लीजिए। आगे-पीछे सर्वत्र विचार-रूपी परमेश्वर खडा रहना चाहिए। जब ऐसी आदत डाल लेंगे तो फिर अनवधान-रूपी रोग दूर हो जायगा। सारे समय को ठीक तौर से बांध रखिए। एक-एक क्षण का हिसाब रखिए तो फिर आलस्य को घुसने की जगह न रहेगी। इस रीति से सारे तमोगुण को जीतने का प्रयत्न करना चाहिए।

(४)

अब रजोगुण पर मोर्चा लगाइए। रजोगुण भी एक भयानक शत्रु है। यह तमोगुण का ही एक दूसरा पहलू है। बल्कि यही कहना चाहिए कि दोनो पर्यायवाची शब्द है। जब शरीर बहुत सो चुकता है तो वह हल-चल करने लगता है और जो शरीर बहुत दौड़-धूप कर चुकता है वह बिस्तर पर पड़ना चाहता है। तमोगुण से रजोगुण की व रजोगुण से तमोगुण की प्राप्ति होती है। जहां एक है वहां दूसरा आया हुआ ही समझिए।

जिस तरह रोटी एक ओर आग व दूसरी ओर भूभर मे फंस जाती जाती है उसी तरह मनुष्य के आगे-पीछे ये रजोगुण-तमोगुण लगे ही रहते है। रजोगुण कहता है—"इधर आओ, तुम्हें तमोगुण की तरफ ले उडता हूं।" तमोगुण कहता है—"मेरी तरफ आये कि मैंने रजोगुण की ओर धकेला।" इस प्रकार ये रजोगुण व तमोगुण परस्पर सहायक होकर मनुष्य का नाश कर डालते है। फुटबाल का जन्म जैसे चारों ओर से लात-ठोकरे खाने के लिए है, वैसे ही मनुष्य का जीवन रजोगुण व तमोगुण की ठोकरें खाने मे ही जाता है।

रजोगुण का प्रधान लक्षण है नाना प्रकार के काम करने की उमंग। अनन्त कर्म करने की अपार आसक्ति। रजोगुण के द्वारा अपरंपार कर्म-संग होता है। लोभात्मक कर्मासक्ति उत्पन्न होती है। फिर वासना-विकारो का वेग संभलने नही पाता। इधर का पहाड़ उधर ले जाने व उधर का खड्ड भर डालने की इच्छा होती है। इधर समुद्र मे मिट्टी डालकर उसे पूर डालने व उधर सहारा के रेगिस्तान मे पानी छोडकर समुद्र बनाने की प्रेरणा होतीहै। इधर स्वेज-नहर खोदूं उधर पनामा नहर बनाऊं ऐसी उधेड-बुन शुरु होती हैं। जोड-तोड के सिवा चैन नहीं पडती। छोटा बच्चा जैसे एक चिट्ठी को लेकर उसे फाडता है, फिर कुछ बनाता है, ऐसी ही यह क्रिया है। इसमे यह मिलाओ, उसमें वह डुबाओ, उसे यों उडाओ, इसे यों बनाओ—ऐसेही अनंत खेल रजोगुण के होते है। पंछी आकाश में उडता है, हम भी आकाश मे क्यो न उडे? मछली पानी मे रहती है, हम भी पनडुब्बी बनाकर जल में क्यो न रहें? इस तरह, नर-देह मे आकर भी पशु-पक्ष की बराबरी करने मे हमें कृतार्थता मालूम होती है। पर-काया-प्रवेश की तथा दूसरे देहों के आश्चर्यों का अनुभव करने की उमंगें इस नर-देह में ही सूझती है। कोई कहता है—चलो, मंगल की सैर कर आवे व वहा की आबादी देख आवे। चित्त हमारा एक-सा भ्रमण करता रहता है। मानो अनेक वासनाओ का भूत ही हमारे शरीर में बैठ गया है। जो-

जहां है वह वहां देखा ही नहीं जाता। उथल-पुथल होना चाहिए। उसे लगता है—मैं इतना बडा मनुष्य-जीव, मेरे जीवित रहते यह सृष्टि जैसी की तैसी कैसे रहे? मानो कोई पहलवान है, जिसकी शक्ति उसके रोम-रोम से फूटकर निकलना चाहती है, उसे हजम करने के लिए वह कभी दीवार से टक्कर लेता है, कभी पेड़ को लपेटता, मरोड़ता, तोडता है। रजोगुण की उमंग को ऐसी ही समझिए। इसके प्रभाव मे आकर मनुष्य धरती को गहरी खोदता है, उसके पेट मे से चमकीले पत्थर निकलता है व उन्हें हीरा, माणिक, जवाहर नाम देता है। इसी लहर के वशीभूत होकर वह समुद्र में गोता लगाता है व उसके तले का कूडा-करकट ऊपर लाकर उसे मोती नाम देता है। परन्तु मोती में छेद नहीं होता, अतः उनमे छेद करता है। अब वे मोती पहनें कहां? तो सुनार से नाक-कान छिदाते हैं। तो मनुष्य यह सब उखाड-पखाड़ क्यों करता है? यह सारा रजोगुण का प्रभाव है।

रजोगुण का दूसरा परिणाम यह होता है कि मनुष्य में स्थिरता नही रहती। रजोगुण तत्काल फल चाहता है। अत. जरा ही विघ्न-बाधा आते वह अंगीकृत मार्ग छोड देता है। रजोगुणी मनुष्य सतत इसे ले, उसे छोड-ऐसा करता रहता है। उसका चुनाव रोज बदलता रहता है, इसका परिणाम अन्त मे यह आता है कि उसके पल्ले कुछ भी नहीं पडता।

"राजसं चलमध्रुवम्"

रजोगुण की सारी कृति चंचल व अनिश्चित रहती है। छोटे बच्चे जैसे गेहूं बोते हैं और उसी समय खोदकर देखते हैं—वैसा ही हाल रजोगुणी मनुष्य का होता है। झट-झट सब-कुछ उसके पल्ले पडना चाहिए। वह अधीर हो उठता है। संयम खो देता है। एक जगह पांव जमाना वह जानता ही नहीं। यहां जरा-सा काम किया, वहां थोडा-सा बोल दिया, अब चला तीसरी जगह। आज मदरास में मान-पत्र, तो कल कलकत्ते मे सभा व परसो बम्बई-नागपुर में जुलूस! जितनी

म्युनिस्पल्टियां हो उतने ही मान-पत्र लेने की उसे उत्कण्ठा रहती है। मान ही मान उसे सब जगह दीखता है। एक जगह जमकर काम करने की उसे आदत ही नहीं होती। इससे रजोगुणी मनुष्य की स्थिति बडी भयानक हो जाती है।

रजोगुण के प्रभाव से मनुष्य विविध धन्धो-कार्यो मे टांग अडाता रहता है। स्वधर्म जैसा उसके लिए कुछ नहीं रहता। वास्तविक स्वधर्माचरण का अर्थ है इतर नाना कर्मों का त्याग। गीता का कर्मयोग रजोगुण का रामबाण उपाय है। रजोगुण मे सब-कुछ चञ्चलता पर्वत के शिखर पर गिरा पानी यदि विविध दिशाओ मे बहने लगा तो फिर वह कही का नही रहता, सारा का सारा बिखर कर बेकार हो जाता है। परन्तु वही यदि एक दिशा मे बहेगा तो उसकी आगे चलकर एक नदी हो जायगी। उसमे एक शक्ति उत्पन्न होगी। देश को उससे लाभ पहुंचेगा। उसी तरह मनुष्य यदि अपनी सारी शक्ति विविध उद्योगो मे न लगाकर उसे एकत्र करके एक ही कार्य मे सुव्यवस्थित रूप से लगावे तो उसके हाथ से अच्छा कार्य हो जायगा। इसलिए स्वधर्म का बडा महत्त्व है।

अतः स्वधर्म का सतत चिन्तन करके उसी मे सारी शक्ति लगानी चाहिए। दूसरी बात की ओर ध्यान ही न जाने पावे। यही स्वधर्म की कसौटी है। कर्मयोग कोई अति अथवा असीम कर्म नही है। केवल अमित कर्म करने का नाम कर्मयोग नही है। गीता का कर्मयोग कुछ और ही चीज है। उसकी विशेषता यह है—फल की ओर ध्यान न देते हुए केवल स्वभाव प्राप्त अपरिहार्य स्वधर्म का पालन करना और उसके द्वारा चित्त-शुद्धि करते रहना। नहीं तो यो सृष्टि मे एकसा कर्म-कलाप होता ही रहता है। अतः कर्मयोग के मानी है विशिष्ट मनोवृत्ति से समस्त कर्म करना। खेत मे बीज बोना और यो ही मुट्ठीभर अनाज लेकर कही फेक देना—दोनो मे बडा अन्तर है। दोनो बिलकुल अलग-अलग बाते है। हम जानते है कि अनाज बोने से कितना फल मिलता

है और यों ही उसे फेंक देने से कितना नुकसान होता है। गीता जिस कर्म का उपदेश देती है वह बुआई की तरह है। ऐसे स्वधर्म-रूप कर्त्तव्य में अमित शक्ति रहती है। वहां तमाम श्रम नाकाफी होते है। अत. उसमें भारी दौड-धूप के लिए कोई अवसर ही नही रहता।

(५)

तो अब यह स्वधर्म निश्चित कैसे किया जाय ? ऐसा कोई प्रश्न करें तो उसका सरल उत्तर है—वह स्वाभाविक होता है। स्वधर्म सहज होता है। उसे खोजने की कल्पना ही विचित्र मालूम होती है। मनुष्य के जन्म के साथ ही उसका स्वधर्म भी जन्मा है। बच्चे के लिए जैसे उसकी मां तलाश नही करनी पडती वैसे ही स्वधर्म भी किसी को तलाशना नही पडता। वह तो पहले से ही प्राप्त है। हमारे जन्म के पहले भी दुनिया तो थी ही। हमारे बाद भी वह रहेगी ही। हमारे पीछे भी एक बडा प्रवाह था और आगे भी वह है ही—ऐसे प्रवाह मे हमारा जन्म हुआ है। जिन मां-बाप के यहां मैंने जन्म लिया है उनकी सेवा, जिन अडौसी-पडौसी मे मेरा घर है उनकी सेवा-ये दो कर्म मुझे निसर्गत. ही मिले है। फिर मेरी वृत्तियां तो मेरे नित्य अनुभव की ही है न ? मुझे भूख लगती है, प्यास लगती है; अत. भूखे को भोजन देना, प्यासे को पानी पिलाना यह धर्म मुझे अपने-आप प्राप्त हो गया। इस प्रकार यह सेवा-रूप भूतदया-रूप स्वधर्म हमे खोजना नही पडता। जहां कहीं स्वधर्म की खोज हो रही हो वहां निश्चित समझ लेना चाहिए कि कुछ-न-कुछ परधर्म अथवा अधर्म हो रहा है।

सेवक को सेवा खोजने कहीं जाना नही पडता। वह अपने-आप उसके पास आ जाती है। परन्तु एक बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि जो अनायास प्राप्त हो वह सब सदा धर्म्म ही होता हो ऐसी बात नहीं है। किसी किसान ने मुझे रात को कहा—'चलो वह बाड ४-५ हाथ आगे हटादे। मेरे खेत की सीव बढ जायगी। अभी कोई है नहीं, बिना गुल-गपाडे के ही सब काम हो जायगा।'' यद्यपि यह काम मुझे अपने

पडौसी ने बताया है, वह सहज प्राप्त है. तो भी उसमें असत्य का आश्रय होने के कारण वह मेरा कर्त्तव्य नहीं ठहरता। चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था जो मुझे मधुर मालूम होती है उसका कारण यही है कि उसमे स्वाभाविकता व धर्म दोनों है। इस स्वधर्म को छोडने से काम नही चल सकता। जो मां-बाप मुझे प्राप्त हुए है वही मेरे मां-बाप रहेंगे। यदि मैं यह कहूं कि वे मुझे पसंद नही है, तो वैसे काम चलेगा? मां-बाप का पेशा स्वभावत. ही लडके को विरासत मे मिलता है। जो पेशा पूर्वापर से चला आया है वह यदि नीति-विरुद्ध न हो तो उसी को करना, उसी काम या उद्योग को जारी रखना चातुर्वर्ण्य की एक बडी विशेषता है। यह वर्ण-व्यवस्था आज अस्तव्यस्त हो गई है। उसका पालन आज बहुत कठिन होगया है। परन्तु यदि वह ठीक ढंग पर लाई जा सके तो वह बहुत सुन्दर हो जायगी। नहीं तो आज शुरू के पच्चीस-तीस साल तो नया काम, नये पेशे को सीखने मे ही चले जाते हैं। काम सीख लेने पर फिर मनुष्य अपने लिए सेवा-क्षेत्र, कार्य-क्षेत्र तलाशता है। इस तरह शुरू के २५ साल तक तो वह सीखता ही रहता है। फिर इस शिक्षा का उसके जीवन से कोई सबंध नही रहता। वह कहता है—मैं भावी जीवन की तैयारी कर रहा हूं। शिक्षा प्राप्त करते समय मानो जीवन-जगत् रहा ही न हो। उसके बाद हम जीवित होते या रहते है। कहते है मानो, पहले सीखो व फिर जियो। मानो जीना व सीखना ये दोनो चीजे अलग अलग कर दी गई हो। परन्तु हां जीने का–जीवन का संबंध नहीं उसे मरना ही तो कहेंगे! हिन्दुस्तान की औसत उम्र २३ साल है। तब तक तो, पच्चीस साल तक तो, वह तैयारी ही करता रहता है। इस तरह एक नवीन काम-धन्धा सीखने मे ही दिन चले जाते है। तब कही उसके काम-धन्धे की शुरुआत होती है। इससे आशा के व महत्त्व के साल तो फजूल ही चले जाते है। जो उत्साह, जो आशा-आकांक्षा जन-सेवा मे खर्च होकर जीवन सार्थ किया जा सकता है, वह यो ही व्यर्थ चले जाते हैं। जीवन कोई-हंसी खेल

नही है। पर दुःख की बात है कि जीवन का पहला बेशकीमती भाग तो जीवन का काम-धन्धा खोजने मे ही चला जाता है। हिन्दू-धर्म ने इसीलिए यह वर्ण-धर्म-रूपी तरकीब निकाली है।

परन्तु चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था को एक ओर रख दें तो भी सभी राष्ट्रों मे सर्वत्र, जहां यह व्यवस्था नही है वहां भी स्वधर्म सब को प्राप्त ही है। हम सब इस प्रवाह मे किसी एक परिस्थिति को साथ लेकर जन्मे हैं। इसीलिए स्वधर्माचरण-रूपी कर्तव्य अपने-आप ही हमें प्राप्त रहता है। अतः जो दूरवर्ती कर्त्तव्य हैं—उन्हे वास्तव में कर्त्तव्य ही नहीं कहना चाहिए—उन्हें उनके अच्छे दिखाई देने पर भी ग्रहण न करना चाहिए। बहुत बार दूर के ढोल सुहावने लगते है। मनुष्य दूर की बातों पर लट्टू हो जाता है। देखिए, मनुष्य जहां खडा रहता है वहां भी गहरा धुंआ फैला रहता है, परन्तु वह दूर उंगली दिखाकर कहता है—वहां बडा धुंआ है, किन्तु पास का गहरा धुंआ उसे नहीं दीखता। इसी तरह मनुष्य को दूर की बातो से आकर्षण दिखाई देता है। नजदीक का कोने मे पडा रहता है और दूर का स्वप्न मे दीखता है। परन्तु यह मोह है। इसे छोडना ही चाहिए। प्राप्त स्वधर्म यदि साधारण हो, अपर्याप्त मालूम होता हो, नीरस प्रतीत होता हो तो भी वही भला है। वही मेरे लिए सुन्दर है। जो मनुष्य समुद्र मे डूब रहा हो उसे यदि टेढा-मेढा और भद्दा-सा लकडी का टुकडा हाथ आ जाय तो वही गनीमत होता है। दूर पडा हुआ लकडी का तख्ता यदि पालिश किया हुआ भी हो तो वह उसके किस काम का। बढई के कारखाने मे बहुत से बढ़िया चिकने और बेल-बूटेदार टुकड़े पडे रहते है, परन्तु वे तो है, कारखाने मे, और यह यहां मनुष्य समुद्र मे डूब रहा है। अतएव जैसे वह बेढंगा लकडी का टुकडा ही उसका तारक है उसी को उसे पकड लेना चाहिए। उसी तरह जो सेवा मुझे प्राप्त हो गई है वह कम दर्जे की मालूम होने पर भी वही मेरे काम की और हितकर है। उसी मे मग्न हो रहना मेरे लिए उचित है। उसी मे मेरा उद्धार है। उसको छोडकर

यदि मै दूसरी सेवा खोजने के चक्कर मे पड़ूंगा तो यह पहली भी चली जायगी और दूसरी हाथ लगने की नही। इससे मनुष्य सेवा-वृत्ति से ही दूर भटक जाता है। इसीलिए स्वधर्म-रूप कर्त्तव्य मे ही हमे मग्न रहना चाहिए।

जब हम स्वधर्म में मग्न रहने लगते हैं तो रजोगुण फीका पड जाता है, दब जाता है। क्योकि तब चित्त एकाग्र हो जाता है। वह स्वधर्म को छोड कर कही जाता ही नही, इससे चंचल रजोगुण का सारा जोर ही कम पड़ जाता है।। नदी जब शांत और गहरी होती है तो कितना ही पानी उसमे बढ आये तो भी वह उसे अपने पेट मे समा लेती है। इसी तरह स्वधर्म—रूपी नदी मनुष्य का सारा बल, सारा वेग, सारी शक्ति, पचा सकती है। अत. स्वधर्म में जितनी शक्ति लगाओगे उतनी वह कम ही है। स्वधर्म मे आप सब शक्ति लगा देंगे तो फिर रजोगुण की दौड-धूप करने वाली वृत्ति नही-सी हो जायगी। मानो आपने चंचलता का मुंह ही कुचल दिया। यह रीति है रजोगुण को वशीभूत करने की।

(६)

अब रहा सत्त्वगुण। इससे बहुत संभल कर रहना चाहिए। प्रश्न यह है कि इससे आत्मा को अलग कैसे करें? इसका सम्बन्ध बडे सूक्ष्म विचार से है। सत्त्वगुण को निर्मूल करने की आवश्यकता नहीं है। रज-तम का तो पूर्ण उच्छेद ही करना पडता है परन्तु सत्त्व-गुण की भूमिका कुछ अलग ही है। जब बहुत भीड इकट्ठी हो गई हो और उसे तितर-बितर करना हो तो सिपाहियो को यह हुक्म दिया जाता है कि कमर के ऊपर नहीं, पांव की तरफ, गोलियां चलाओ। इससे मनुष्य मरता नहीं, घायल भले ही हो जाय। इसी तरह सत्त्वगुण को घायल कर देना है, मार नही डालना है। रजोगुण व तमोगुण के चले जाने पर शुद्ध सत्त्वगुण रह जाता है। जबतक हमारा शरीर कायम है तबतक हमें किसी-न-किसी भूमिका में—अवस्था में रहना ही पड़ेगा; तो फिर रज-

तम• के चले जाने पर जो सत्त्वगुण रहेगा उससे अलग रहने•के मानी आखिर क्या हैं ?

सत्त्वगुण के साथ जब किसी कारण से अभिमान जुड़ जाता है तब वह आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप से नीचे खीच लाता है। लालटेन की की ज्योति की प्रभा को स्वच्छ रूप मे बाहर फैलाना हो तो उसके अंदर का सारा काजल पोंछ ही देना पडता है; परन्तु यदि कांच पर धूल जम गई हो तो वह भी धो डालनी पडती है। इसी तरह आत्मा की प्रभा के आस-पास जो तमोगुण-रूपी काजल जमी रहती है उसे अच्छी तरह दूर कर डालनी चाहिए, उसके बाद रजोगुण-रूपी धूल को भी साफ कर ही देना है। इस तरह जब तमोगुण को धो डाला, रजोगुण को साफ कर डाला, तो अब सत्त्वगुण-रूपी कांच बाकी रह गया। इस सत्त्वगुण को भी दूर करने का अर्थ क्या यह लें कि उस कांच को भी फोड डाले ? नही। यदि कांच ही फोड डालेंगे तो फिर लालटेन का क्या होगा ? ज्योति का प्रकाश फैलाने के लिए कांच की तो जरूरत रहेगी ही। अत. इस शुद्ध चमकदार कांच को फोडे तो नही, परन्तु एक ऐसा छोटा-सा कागज का टुकडा उसके सामने जरूर लगा दे जिससे आंखे चकाचौंध न हो जायं। जरूरत सिर्फ आंखो को चकाचौंध न होने देने की है। सत्त्वगुण पर विजय पाने का अर्थ यह है कि उसके प्रति हमारा अभिमान—हमारी आसक्ति हट जाय। सत्त्वगुण से काम तो ले लेना हैं, परन्तु ढंग से, तरकीब से। सत्त्वगुण को निरहंकारी बना देना चाहिए।

तो अब इस सत्त्वगुण मे से अहंकार कैसे निकाला जाय ? इसका एक उपाय है। सत्त्वगुण को हम अपने अन्दर स्थिर कर लें। सातत्य से उसका अभिमान चला जाता है। सत्त्वगुणी कर्मों को ही हम सतत करते रहें। उसे अपना स्वभाव ही बना लें। सत्त्वगुण हमारे यहां घडी भर के लिए आया हुआ मेहमान ही नहीं रहे, बल्कि वह घर का आदमी हो जाय। जो क्रिया कभी-कभी हमसे होती है उसका हमें अभिमान होता

है। सोते हम रोज हैं परन्तु उसकी चर्चा दूसरो से नहीं करते। लेकिन जब किसी बीमार को पंद्रह दिन नीद न आई हो और फिर जरा-सी नींद लगी हो तो वह सब से कहता है—"कल जरा झपकी लगी थी।" उसे वह बात महत्त्वपूर्ण मालूम होती है। इससे भी अच्छा उदाहरण हम श्वासोच्छ्वास क्रिया का ले। सांस हम चौबीसो घण्टे लेते है, परन्तु हर किसी से उसका जिकर नही करते। क्या कभी कोई किसी से अभिमान के साथ कहता है कि 'मै एक सांस लेने वाला प्राणी हू ? हरद्वार से फैंका तिनका यदि गगा मे वहता-बहता १४०० मील दूर कलकत्ता मे पहुच गया तो क्या वह उस पर गर्व करेगा ? वह तो धारा के साथ सहज-रूप से बहता चला आया। परन्तु यदि कोई भर बाढ मे उलटी धारा मे दस-बीस हाथ तैर गया तो वह कितनी शेखीं बघारेगा ? मतलब यह कि जो बात स्वाभाविक है उसका हमें अहंकार नही मालूम होता।

जब कोई अच्छा काम हमारे हाथ से हो जाता है तो उसका अभिमान हमे मालूम होता है। क्यो ? इसलिए कि वह बात सहज-रूप से नही हुई। मुन्ना के हाथ से कोई काम अच्छा हो गया तो मा उसकी पीठ ठोकती है। रात के घने अंधकार मे कोई एकाध जुगनू हो तो फिर देखिए उसकी ऐंठ। वह एक बार भी अपनी सारी चमक वही दिखाता। कभी-कभी लुक-लुक करता है। फिर रुकता है फिर लुक-लुक करता है। प्रकाश को ढाकता और खोलता रहता है। परन्तु उसका प्रकाश यदि सतत रहने लगे तो फिर उसकी ऐंठ नही रहे। सातत्य के कारण विशेषता मालूम नहीं होती। इस तरह सत्त्वगुण यदि हमारी क्रियाओ मे सतत प्रकट होने लगे तो फिर वह हमारा स्वभाव ही हो जायगा। सिह को अपने शौर्य का अभिमान नही रहता। बल्कि भान भी नही रहता। इसी तरह अपनी सात्त्विक वृत्ति को इतनी सहज हो जाने दो कि हमें उसकी स्मृति भी न होने पावे। प्रकाश देना सूर्य की नैसर्गिक क्रिया है। उसका सूर्य को कोई अभिमान नही रहता। उसके लिए यदि कोई

सूर्य को मान-पत्र देने जाय तो वह कहेगा 'इसमे मैने विशेष क्या किया ?' मैं प्रकाश देकर अधिक क्या करता हूं, प्रकाश देना तो मेरा जीवन ही—जीता रहना ही है। प्रकाश न दूं तो मै मर जाऊंगा। मै दूसरी कोई चीज ही नही जानता। ऐसी स्थिति सात्त्विक मनुष्य की हो जानी चाहिए। सात्त्विक गुण उसके रोम-रोम मे पैबस्त हो जाना चाहिए। जब ऐसा स्वभाव ही हमारा हो जाय तो हमे उसका अभिमान न होगा। सत्त्वगुण को निस्तेज करने की—उसे जीतने की यह एक तरकीब हुई।

अब, दूसरी तरकीब है सत्त्वगुण की आसक्ति तक छोड देना। अहंकार व आसक्ति ये दो अलग-अलग चीजे है। यह भेद जरा सूक्ष्म है। अतः दृष्टान्त से जल्दी समझ मे आ जायगा। सत्त्वगुण का अहंकार चला जाने पर भी आसक्ति रह जाती है। श्वासोच्छ्वास का ही उदाहरण लें। सांस लेने का अभिमान तो चला गया, परन्तु उसमे आसक्ति बनी रहती है। यदि कहो कि पांच मिनट तक सांस रोके रहो तो नहीं बनता। नाक को श्वासोच्छ्वास का अभिमान भले ही न हो, परन्तु वह हवा बराबर लेती रहती है। सुकरात की एक मजेदार कहानी है। उसकी नाक थी चपटी। अतः लोग उसे देखकर हंसा करते। परन्तु हंसोड सुकरात कहता—"मेरी नाक सबसे बढिया है। जिन नाक के नासापुट बडे हो वह भरपूर हवा ले सकती है और इसलिए वही सबसे सुन्दर है।" मतलब यह कि नाक को श्वासोच्छ्वास का अभिमान तो नहीं, पर आसक्ति है। सत्त्वगुणो के प्रति इसी तरह आसक्ति हो जाती है। जैसे भूत-दया। यह गुण अत्यन्त उपयोगी है। परन्तु उसकी भी आसक्ति से दूर रह सकना चाहिए। भूत-दया तो आवश्यक है, परन्तु उसकी आसक्ति न होनी चाहिए।

संत लोग इस सत्त्वगुण की ही बदौलत दूसरे के लिए मार्ग-दर्शक होते हैं। उनका देह भूतदया के कारण सार्वजनिक हो जाता है। मक्खियां जिस प्रकार गुड की भेली को ढाँक लेती हैं, उसी प्रकार सारी दुनिया

संतों पर अपने प्रेम की चादर ओढाती है। संतो के अन्दर प्रेम का इतना प्रकर्ष हो जाता है कि सारा विश्व उनसे प्रेम करने लगता है। संत अपने देह की आसक्ति छोड़ देते हैं, अतः सारे संसार की आसक्ति उनमे हो जाती है। सारी दुनिया उनके शरीर की चिन्ता करने लगती है। परन्तु यह आसक्ति भी संतो को दूर करनी चाहिए। यह जो संसार का प्रेम है, यह जो महान् फल है, इससे भी आत्मा को पृथक् करना चाहिए। मैं कोई विशेष व्यक्ति हूं—ऐसा उन्हे कभी न मालूम होना चाहिए। इस तरह सत्त्वगुण को शरीर मे पचा डालना चाहिए।

पहले अहंकार को जीतो, फिर आसक्ति को। सातत्य से अहंकार जीत लिया जायगा; और फलासक्ति को छोडकर सत्त्वगुण से प्राप्त फल को भी ईश्वरार्पण करने से आसक्ति पर विजय हो सकती है। जीवन में जब सत्त्वगुण स्थिर हो जाता है तो कभी सिद्धि के रूप में व कभी कीर्ति के रूप मे फल सामने आता है। परन्तु उस फल को भी तुच्छ मानिए। आपका पेड अपने एक भी फल को खुद नहीं खाता। वह फल कितना ही बढिया हो, कितना ही मीठा हो, कितना ही रसीला हो। उसे खाने की अपेक्षा न खाना ही मधुरतर होता है। उपभोग की बनिस्वत त्याग अधिक मधुर है। धर्मराज ने जीवन के सारे पुण्य के सार-स्वरूप स्वर्ग-सुखरूपी फल को भी अन्त मे ठुकरा दिया। जीवन के सारे त्यागो पर मानो उन्होने कलश चढा दिया। उन मधुर फलो को चखने का उन्हे हक था, परन्तु यदि वह उन्हे चख लेते तो वे खतम हो जाते। "क्षीणे पुण्ये मर्त्य लोकं विशन्ति।" यह चक्र फिर उनके पीछे लग जाता। धर्मराज का कितना जबरदस्त यह त्याग! यह सदैव मेरी आंखो के सामने खडा रहता है। इस तरह सत्त्वगुण के सतत आचरण द्वारा उसके अहंकार को जीत लेना चाहिए। तटस्थ रहकर सब फल ईश्वर को सौंपकर उसकी आसक्ति से छूट जाना चाहिए। तब कह सकते हैं कि सत्त्वगुण पर भी विजय प्राप्त हो गई।

(७)

अब आखिरी बात सुनिए। भले ही आप सत्त्वगुणी हो जाइए, अहंकार को जीत लीजिए, फलासक्ति को भी छोड दीजिए, फिर भी जब तक यह शरीर कायम है तबतक बीच-बीच में रज-तम के हमले होते ही रहेंगे। थोडी देर के लिए हमे ऐसा लगा भी कि हमने इन गुणों को जीत लिया तो भी वे फिर-फिर जोर मारेंगे। अतः सतत जाग्रत रहना चाहिए। समुद्र का पानी भीतर घुस-घुसकर जिस तरह बडी खाडियां बना लेता है उसी तरह रज-तम के जोरदार प्रवाह हमारी मनोभूमि में प्रविष्ट होकर खाडियां बना लेते है। अत. जरा भी छिद्र न रहने दीजिए। पक्का इन्तजाम व पहरा रखिए। व आप चाहे कितनी ही सावधानी, दक्षता रखिए जबतक आत्म-ज्ञान नही हुआ है, आत्म-दर्शन नही हो गया है तबतक खतरा ही समझिए। अतः हर तरह से उद्योग करके आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लीजिए।

आत्म-ज्ञान कोरी जागृति की कसरत से नही होगा। तो फिर होगा कैसे? क्या अभ्यास से? नही—उसका एक ही उपाय है। वह है "सच्चे हृदय से, हार्दिक व्याकुलता से भगवान् की भक्ति करना" आप इन गुणों को जीत सकते है। सत्त्वगुण को भी स्थिर करके उसकी फलासक्ति छोड देंगे। परन्तु इतने से काम नहीं चलेगा। जबतक आत्म-ज्ञान नही हुआ है तबतक गुजर न होगी। अतः अन्त में भगवत्कृपा चाहिए ही। सच्ची हार्दिक भक्ति के द्वारा उसकी कृपा का पात्र बनना चाहिए। इसके सिवा मुझे दूसरा उपाय नही दिखाई देता। इस अध्याय के अन्त में अर्जुन ने यही प्रश्न पूछा है व भगवान् ने उत्तर दिया है—"अत्यन्त एकाग्र मन से निष्काम भाव से मेरी भक्ति करो, मेरी सेवा करो। जो इस प्रकार मेरी सेवा करता है वह माया के उस पार जा सकता है। नहीं तो इस गहन माया को तर जाना आसान नही है।" यह भक्ति का सरल उपाय है। यह एक ही मार्ग उसके लिए है।

पंद्रहवां अध्याय

रविवार २१-५-३२

(१)

आज एक अर्थ में हम गीता के छोर पर आ पहुंचे है। पन्द्रहवें अध्याय मे सब विचारो की परिपूर्णता हो गई है। १६-१७ ये अध्याय परिशिष्ट-रूप है व अठारहवां उपसहार है। यही कारण है जो भगवान् ने इस अध्याय के अन्त मे इसे शास्त्र सज्ञा दी है—

"कहा निष्पाप है मैने गूढ अत्यन्त शास्त्र ये"

अन्त मे भगवान् ने कहा है। यह इसलिए नही कि यह अन्तिम अध्याय है, बल्कि इसलिए कि अबतक जीवन का जो शास्त्र, जो सिद्धांत बताये उनकी परिपूर्णता इस अध्याय में की गई है। इस अध्याय से परमार्थ समाप्त हो गया। वेदो का सारा सार इसमे आ गया। परमार्थ की चेतना मनुष्य मे उत्पन्न कर देना ही वेदो का कार्य है। वह इस अध्याय में किया गया है, अतः इसे 'वेद का सार' यह गौरवपूर्ण पदवी मिली है।

तेरहवे अध्याय मे देह से आत्मा को अलग करने को आवश्यकता देखी। चौदहवे मे तत्संबंधी प्रयत्नवाद की छान-बीन की। रजोगुण व तमोगुण के निग्रह द्वारा त्याग का अवलम्बन करना चाहिए, सत्त्वगुण का विकास करके उसकी आसक्ति को जीत लेना चाहिए। इस तरह यह प्रयत्न करना है। अंत मे कहा गया कि इन प्रयत्नो के सोलहो आने सफल होने के लिए आत्म-ज्ञान की आवश्यकता है और आत्म-ज्ञान बिना भक्ति के शक्य नही है।

परन्तु भक्ति-मार्ग प्रयत्न-मार्ग से भिन्न नही है। यही दिखाने के लिए इस पंद्रहवें अध्याय के आरम्भ में ही संसार की एक महान् वृक्ष

से उपमा दी गई है! त्रिगुणों से पोषित प्रचण्ड शाखाएं इस वृक्ष की है। अतः आरम्भ में ही यह कह दिया है कि अनासक्ति व वैराग्य-रूपी शस्त्रो से इस वृक्ष को काटना चाहिए। पिछले अध्याय मे जो साधनमार्ग बताया गया है वही फिर आरम्भ में यहां दुहराया गया है। रजतम को मिटाकर सत्त्वगुण की पुष्टि-द्वारा अपना विकास कर लेना चाहिए। इनमें एक काम विनाशक है, दूसरा विधायक। दोनों को मिलाकर मार्ग एक ही होता है। घास-फूस काटना व बीज बोना—दोनों एक ही क्रिया के भिन्न-भिन्न अंग है। वैसी ही यह बात है। रामायण में रावण, कुम्भकरण, विभीषण ये तीन भाई है। कुम्भकरण तमोगुण है, रावण रजोगण व विभीषण सत्त्वगुण है। हमारे शरीर मे इन तीनों का रामायण रचा जा रहा है। इस रामायण मे रावण व कुम्भकरण का तो नाश ही विहित है। एक विभीषण-तत्त्व, यदि वह हरिचरण-शरण हो जाय तो उन्नति का साधक व पोषक हो सकेगा और इसलिए वह अपनाने जैसा है। हमने चौदहवे अध्याय मे इस चीज को समझ लिया है। पंद्रहवे अध्याय मे फिर वही बात दुहराई गई है। सत्त्व-रज-तम से भरे संसार को असंग-रूपी शस्त्र से छेद डालो। रजतम का विरोध करो। सत्त्वगुण का विकास करके पवित्र होओ व उसकी आसक्ति को जीतकर अलिप्त रहो। कमल का यही आदर्श भगवद्गीता प्रस्तुत कर रही है। भारतीय संस्कृति मे जीवन की आदर्श वस्तुओ की, उत्तमोत्तम वस्तुओ की कमल से उपमा दी गई है। कमल भारतीय संस्कृति का प्रतीक है। उत्तमोत्तम विचार प्रकट करने का चिह्न कमल हैं। कमल स्वच्छ व पवित्र होकर भी अलिप्त रहता है। पवित्रता व अलिप्तता ऐसी दुहेरी शक्ति कमल के पास है। भगवान् के भिन्न-भिन्न अवयवों की कमल से उपमा देते हैं। नेत्र-कमल, पद-कमल, कर-कमल, मुख-कमल, नाभि-कमल, हृदय-कमल, शिर-कमल आदि। इनके द्वारा यह भाव हमारे हृदय मे अंकित किया है कि सर्वत्र-सौन्दर्य व पवित्रता के साथ ही अलिप्तता है।

पिछले अध्याय में बताई साधना को पूर्णता पर पहुंचाने के लिए यह अध्याय लिखा गया है। प्रयत्न मे जब आत्म-ज्ञान व भक्ति मिल जाय तो फिर पूर्णता आ जायगी। भक्ति प्रयत्न-मार्ग का ही एक भाग है। आत्मज्ञान व भक्ति ये उसी साधना के अंग हैं। वेदों में ऋषि कहते हैं:—

"यो जागार त ऋच. कामयन्ते
यो जागार तमु सामानि यन्ति"

"जो जाग्रत रहते है उनसे वेद प्रेम करते है, उनसे भेट करने के लिए वे आते है।" अर्थात् जो जाग्रत है उसके पास वेदनारायण आते हैं। उसके पास ज्ञान आता है, भक्ति आती है। प्रयत्न-मार्ग से ज्ञान व भक्ति अलग नही है। इस अध्याय में यही दिखाना है कि ये दोनो तत्त्व प्रयत्न मे मधुरता लानेवाले है। अत. एकाग्र चित्त से भक्ति-ज्ञान का यह स्वरूप श्रवण कीजिए।

(२)

जीवन के मैं टुकडे नही कर सकता। कर्म, ज्ञान, भक्ति इनको मैं जुदा-जुदा नहीं कर सकता, न ये जुदा है ही। उदाहरण के लिए जेल के रसोई बनाने के काम को ही देखिए। पांच-सात सौ मनुष्यों की रसोई बनाने का काम थोडे से लोग करते हैं। यदि इनमे कोई ऐसा शख्स होगा जो रसोई बनाने का ज्ञान ठीक-ठीक न रखता हो तो वह रसोई खराब कर देगा। रोटियां कच्ची रह जायंगी, या जल जायंगी। परन्तु यहां हम यह मानकर चले कि रसोई बनाने का उत्तम ज्ञान है। फिर भी यदि उस व्यक्ति के हृदय मे उस कर्म के प्रति प्रेम न हो, भक्ति का भाव न हो, 'ये रोटियां मेरे भाइयो को अर्थात् नारायण को ही मिलने वाली है,' इन्हे अच्छी तरह बेलना व सेंकना चाहिए, यह प्रभु की सेवा है,' ऐसा भाव उसके हृदय मे न हो तो पूर्वोक्त ज्ञान होकर भी वह योग्य नहीं साबित होगा। इस रसोई-काम के लिए जैसे ज्ञान आवश्यक है, वैसे ही प्रेम भी। भक्ति-तत्त्व का रस जबतक हृदय में न हो तबतक

वह रसोई स्वादिष्ट नहीं हो सकती। इसीलिए तो बिना मां की रसोई फीकी रहती है। मां के सिवा कौन इस काम को इतनी आस्था से, प्रेमभाव से करेगा? फिर इसके लिए तपस्या भी चाहिए। ताप सहन किये बिना, कष्ट उठाये बिना यह काम कैसे होगा? इससे यह सिद्ध होता है कि किसी भी काम को सफल बनाने के लिए प्रेम, ज्ञान व कर्म तीनों चीजों की जरूरत है। जीवन के सारे कर्म इन तीन गुणों पर खड़े हैं। तिपाई का यदि एक पांव भी टूट जाय तो वह खड़ी नहीं रह सकती। तीनों पांव मजबूत चाहिए। उसके नाम से ही उसका स्वरूप निहित है। यही हाल जीवन का है। ज्ञान, भक्ति व कर्म अर्थात् श्रम-सातत्य ये जीवन के तीन पाये हैं। इन तीनों खम्भों पर जीवन-रूपी द्वारका खड़ी करनी है। ये तीन पाये मिलाकर ही एक वस्तु बनती है। तिपाई का दृष्टान्त अक्षरशः इस पर चरितार्थ होता है। तर्क के द्वारा भले ही आप भक्ति, ज्ञान, कर्म को अलग-अलग मानिए, परन्तु प्रत्यक्षतः इनको अलग नही किया जा सकता। तीनों मिलकर एक ही विशाल वस्तु बनती है।

ऐसा होने पर भी यह बात नही कि भक्ति में विशेष गुण न हो। किसी भी कर्म में जब भक्ति-तत्त्व मिलेगा तभी वह सुलभ मालूम होगा। 'सुलभ मालूम होगा' का मतलब यह नही कि कष्ट नही होंगे, परन्तु यह कि वे कष्ट कष्ट नही मालूम होंगे। बल्कि उलटा आनंद-रूप मालूम होंगे। शूल फूल-जैसे प्रतीत होंगे। अच्छा तो भक्ति-मार्ग सरल है, इसका तात्पर्य भी आखिर क्या? यही कि भक्ति-भाव के कारण कर्म का बोझ नही मालूम होता। कर्म की कठिनता चली जाती है। कितना ही कर्म करो वह न किये-सा मालूम होता है। भगवान् ईसा-मसीह एक जगह कहते हैं—यदि तू उपवास करता है तो चेहरे पर उपवास की थकान न मालूम होनी चाहिए। उलटा तेरे गाल व चेहरा आनंदित, प्रफुल्लित दिखाई देना चाहिए। उपवास से कष्ट हो रहा है ऐसा न दीखना चाहिए। सारांश यह कि वृत्ति इतनी भक्ति-मय, तल्लीन हो जानी चाहिए कि कष्ट

भूल जायं। हम कहा करते हैं कि फलां बहादुर, शूरवीर, भक्त हँसते-हँसते फांसी पर चढ गया। सुधन्वा तेल की कढ़ाई मे हँस रहा था। मुंह से कृष्ण, विष्णु, हरि, गोविन्द की ध्वनि निकल रही थी। इसका इतना ही अर्थ है कि अपार कष्ट आ पढने पर भी भक्ति के प्रभाव से वे कुछ भी न मालूम हुए। पानी पर पडी हुई नाव को उलट देना कठिन नहीं है; परन्तु यदि उसी को धरती पर से, चट्टानो पर से खींच के ले जाना हो तो कितनी मेहनत पडेगी? नाव के नीचे यदि पानी होगा तो हम आसानी से पार कर जायंगे—सहज ही तर जायंगे। इसी तरह हमारी जीवन-नौका के नीचे यदि भक्ति-रूपी पानी होगा तो वह आनंद से खेई जा सकेगी। परन्तु यदि जीवन शुष्क होगा, रास्ते मे रेता पडा होगा, कंकड-पत्थर होंगे, खड्डे-खाई होगे तो इस नौका को खीचकर ले जाना बडा विकट काम हो जायगा। अत: यह भक्ति-तत्त्व हमारी जीवन-नौका को पानी की तरह सुलभता प्राप्त करा देता है।

भक्ति-मार्ग से साधना मे सुलभता आ जाती है। परन्तु आत्म-ज्ञान के बिना सदा के लिए त्रिगुणो के उस पार जाने की आशा नहीं। तो फिर आत्म-ज्ञान-के लिए साधन क्या? यही कि सत्त्व-सातत्य से सत्त्व गुण को आत्मसात् करके उसका अहंकार, व भक्ति के द्वारा उसके फल की आसक्ति को, जीतने का प्रयत्न। इस साधना के द्वारा सतत, अखड प्रयत्न-करते हुए एकदिन आत्म-दर्शन हो जायगा। तबतक हमारा प्रयत्न जारी रहना चाहिए, उसका अन्त नहीं आ सकता। यह परम-पुरुषार्थ के द्वारा साध्य है। आत्म-दर्शन कोई हँसी-खेल नहीं है। रास्ते चलते यो ही आत्म-दर्शन हो जायगा—ऐसा मत समझिए। उसके लिए सतत प्रयत्न की धारा बहानी होगी। परमार्थ मार्ग की शर्त ही यह है कि मैं निराशा को तिल-मात्र जगह न दूं। छिन भर भी मैं निराश होकर न बैठूं। इसके सिवा परमार्थ का दूसरा साधन नहीं है। तो कभी-कभी साधक थक जाता है व कहने लगता है—

"तुव कारन तप संयम किरिया
कहो कहां लौं कीजै"

'भगवन्, मै तुम्हारे लिए कहां तक तप करता रहूं?' परन्तु यह स्थिति गौण है। तप व संयम का हम इतना अभ्यास कर लें कि वे हमारा स्वभाव ही बन जायं। कहां तक साधना करते रहें, यह भाषा भक्ति-मार्ग मे शोभा नहीं देती। अधीर-भाव, निराशा-भाव से कभी भक्ति पैदा नही हो सकती—जी ऊबने जैसी कोई बात उसमे न होनी चाहिए। भक्ति मे उत्तरोत्तर उल्लास व उत्साह मालूम होता रहे, इसके लिए बहुत उम्दा विचार इस अध्याय में बताये गये है।

(३)

इस विश्व मे हमे अनन्त वस्तुएं दिखाई देखी हैं। इनके तीन भाग कर डालें। जब कोई भक्त सुबह उठता है तो तीन ही चीजें उसकी आंखों के सामने आती हैं। पहले उसका ध्यान भगवान् की तरफ जाता है। तब वह उनकी पूजा की तैयारी करता है। मै सेवक भक्त, वह सेव्य, भगवान्, स्वामी ये दो चीजे उसके यहां सदैव तैयार रहती है; अब रही बाकी सृष्टि, सो वह है उसकी पूजा का साधन। फूल, गंध, धूप-दीप इनके लिए यह सारी सृष्टि है। तीन ही चीजे कुल है—सेवक भक्त, सेव्य परमात्मा व सेवा-साधन के रूप मे यह सृष्टि। यही शिक्षा इस अध्याय मे दी गई हैं। परन्तु जो सेवक किसी एक ही मूर्ति की पूजा करता है उसे सृष्टि के सब पदार्थ पूजा के साधन नही मालूम होते। वह बगीचे से चार फूल तोड़कर लाता है, कहीं से अगरबत्ती ले आता है, व थोडा-सा नैवेद्य लगा देता है। वह चुनकर, छांटकर ही चीजें लेना चाहता है। परन्तु पन्द्रहवें अध्याय की शिक्षा के अनुसार यह चुनाव करने की जरूरत नहीं है। जो कुछ भी तपस्या के साधन हैं, कर्म के साधन हैं, वे सब परमेश्वर की सेवा मे लगा देने है। उनमें से कुछ को हम फूल कहेंगे, कुछ को गंध, और किसी को नैवेद्य—इस तरह जितने भी कर्म है उन सबको पूजा-द्रव्य बना देना है। यह दृष्टि

हमें समझ लेनी चाहिए। बस, संसार में सिर्फ ये तीन ही चीजें हैं। गीता जिस वैराग्यमय साधन-मार्ग को हमारे मन पर अंकित करना चाहती है उसी का यह भक्तिमय स्वरूप यहां बताया जा रहा है। उस में से कर्मता हटाई जा रही है जिससे उसमें सुलभता आ रही है।

आश्रम में जब किसी को बहुत ज्यादा काम करना पड़ता है तब उसके मन मे यह विचार कभी नहीं आता—'मैं ही क्यो ज्यादा काम करूं?' इस बात मे बड़ा सार है। पूजक को यदि दो की जगह चार घण्टे पूजा करनी पड़े तो क्या वह उकता कर ऐसा कहेगा—'अरे राम, आज तो चार घण्टा पूजा करनी पड़ी!' बल्कि उससे उसे अधिक ही आनंद मालूम होगा। आश्रम में हमे ऐसा अनुभव होता है। यही अनुभव हमे जीवन मे सर्वत्र होना चाहिए। जीवन सेवा-परायण हो जाना चाहिए। सेव्य पुरुषोत्तम की सेवा के लिए सदैव तत्पर मै अक्षर पुरुष हूं। अक्षर पुरुष का अर्थ है कभी स्थान न छोड़ने वाला, सृष्टि के आरंभ से लेकर सेवा करनेवाला सनातन सेवक, जैसे हनूमान राम के सामने सदैव हाथ जोड़कर खड़े ही हैं। उन्हे आलस छू तक नहीं गया है। हनूमान की तरह ही चिरंजीव यह सेवक तत्पर खड़ा है।

ऐसे आजन्म सेवक का ही नाम अक्षर पुरुष है। 'परमात्मा'—यह संस्था जीवित है और मै उसका सेवक भी सदैव कायम हूं। प्रभु कायम हैं तो मैं भी कायम हूं। देखे वह सेवा लेते हुए थकता है या मैं सेवा करते हुए? यदि उसने दस अवतार लिये हैं तो मेरे भी दस अवतार हुए है। वह राम हुआ है तो मै हनूमान, वह कृष्ण हुआ तो मैं उद्धव। जितने उसके अवतार उतने मेरे भी। खासी होड़ ही लग रही है। परमेश्वर की इस तरह युग-युग सेवा करने वाला, कभी नाश न पाने वाला यह जीव, अक्षर पुरुष है। वह पुरुषोत्तम स्वामी व मैं उसका बन्दा सेवक। यह भावना एक-सी हृदय में रखनी चाहिए। और यह प्रतिक्षण बदलने वाली, अनंत रूपों से सजनेवाली सृष्टि, इसे

पूजा-साधन, सेवा का साधन बनाना है। प्रत्येक क्रिया मानो पुरुषोत्तम की पूजा ही है।

सेव्य परमात्मा पुरुषोत्तम, सेवक जीव अक्षर पुरुष। परन्तु यह साधन-रूप सृष्टि क्षर है। इस 'क्षर' होने मे बड़ा अर्थ है। सृष्टि का यह दूषण नही भूषण है। इससे सृष्टि में नित्य नवीनता आती है। कल के फल आज काम नही दे सकते। वे निर्माल्य हो गये। सृष्टि नाशमान् है, यह बडे भाग्य की बात है। यह सेवा का वैभव है। रोज नवीन फूल सेवा के लिए तैयार मिलता है। उसी तरह मै यह शरीर भी नया-नया धारण करके परमेश्वर की सेवा करूंगा। अपने साधनों को मै नित्य नवीन रूप दूंगा व उन्ही से उसकी पूजा करूंगा। इस नाशमानता के कारण यह सौन्दर्य है। चन्द्र की कला जो आज है वह कल नहीं। चन्द्र का रोज नया लावण्य। दूज के उस बढते हुए चांद को देखकर कितना आनंद होता है? शंकर के ललाट पर यह दूज का चांद कैसा चमकता है? अष्टमी के चन्द्र का सौन्दर्य कुछ और ही होता है। उस दिन आकाश मे बिखरे हुए मोती ही मोती दिखाई देते है। पूर्णिमा को चन्द्रमा के तेज से तारे छिप जाते है। पूनो को परमेश्वर का मुख-चन्द्र दीखता है। अमावस्या का आनंद बड़ा गम्भीर होता है। उस रात को कितनी निस्तब्ध शान्ति छाई रहती है। चन्द्रमा के प्रकाश का दबाव हट जाने से छोटे-बडे अगणित तारे बडी आजादी से खुलकर चमकते रहते है। अमावस्या को स्वतन्त्रता पूर्ण-रूप से विलास करती है। अपने तेज से उद्दीप्त चन्द्रमा आज वहां नही है। अपने प्रकाशदाता सूर्य से वह आज एक-रूप हो गया है। वह परमेश्वर मे मिल गया है। मानो जीव स्वात्मार्पण द्वारा, यह दिखाना चाहता है कि मेरे द्वारा संसार को जरा भी कष्ट न पहुंचे। चन्द्र का स्वरूप क्षर है, परिवर्तनशील है। और वह भिन्न-भिन्न रूप में आनंद देता है।

सृष्टि की जो नाशवानता, नश्वरता है वही उसकी अमरता है।

सृष्टि का रूप छलछल, मन्द-मन्द बह रहा है। यह रूप-गंगा यदि बहती न रहे तो उसका एक डोह बन जायगा। नदी का पानी अखण्ड-रूप से बहता रहता है। वह सतत बदलता रहता है। एक बूंद गया दूसरा आया। अत: वह पानी जीवित रहता है। वस्तु मे जो आनन्द मालूम होता है वह उसकी नवीनता के कारण। गरमियों मे परमात्मा को और तरह के फूल चढ़ाये जाते हैं। बरसात मे हरी-हरी दूब चढाई जाती है। शरद ऋतु मे सुरम्य कमल के पुष्प। तत्तत ऋतु-कालोद्भव फल-पुष्पो से भगवान् की पूजा की जाती है। इसीसे वह पूजा जगमग व नित्य नूतन मालूम होती है। उससे जी नही ऊबता। छोटे बच्चे को जब 'क' लिखकर कहते हैं इस पर हाथ फेरो। तो यह क्रिया उसे उबा देने वाली मालूम होती है। वह समझ नही पाता कि इसे मोटा क्यों बनाया जाता है। वह बत्ती आडी करके उसे जल्दी मोटा बना देता है। फिर वह नये अक्षरों को, उनके समुदाय को देखता है। तरह-तरह की पुस्तकें पढने लगता है। 'साहित्यिक नानाविध सुमनमाला का अनुभव उसे होता है। तब उसे अपार आनन्द मालूम होता है। यही बात सेवा-प्रान्त की है। साधनो की नित्य नवीनता से सेवा की उमंग बढती है। सेवा-वृत्ति का विकास होता है।

सृष्टि की यह नाशवानता नित्य नये फूल खिला रही है। गांव के निकट स्मशान है, इससे गांव रमणीय मालूम होता है। पुराने लोग जा रहे हैं, नये बालक जन्म ले रहे हैं। सृष्टि नित्य नवीन बढ रही है। बाहर का वह स्मशान यदि मिटा दोगे तो वह घर म आकर बैठ जायगा। तुम ऊब उठोगे उन्ही-उन व्यक्तियो को रोज अखण्ड देख-देखकर। गरमियोमे गरमी पडती है। धरती तप जाती है। परन्तु इससे तुम घबरा मत जाओ। यह रूप बदल जायगा। बरसात का सुख लेने के लिए यह तपन जरूरी है। यदि जमीन खूब तपी न होगी तो पानी बरसते ही वह कीचड होजायगी। फिर तृण-धान्य उसमें नहीं सजने पावेंगे। मैं एक बार गर्मियो मे घूम रहा था। सिर तप रहा था। बडा

आनन्द आ रहा था। एक मित्र ने मुझसे कहा—'सिर मे गर्मी चढ जायगी। फिर तकलीफ होगी।' मैंने कहा—'नीचे जमीन भी तो तप रही है। इस मिट्टी के पुतले को भी जरा तपने दो।' अहा—इधर सिर तपा हुआ हो, उधर पानी की फुहारे पडने लगें—क्या बहार हो। परन्तु जो गरमियो मे तपता नहीं, वह पानी बरसने पर भी अपनी पुस्तक मे सिर घुसाकर बैठा रहेगा। अपने कमरे मे, उस घरौंदे में ही घुसा रहेगा। बाहर के इस विशाल अभिषेक-पात्र के नीचे खडा रहकर आनन्द से नाच न उठेगा। परन्तु हमारे वे महर्षि मनु बडे रसिक व सृष्टि-प्रेमी थे। अपनी स्मृति मे लिखते हैं—"जब पानी बरसने लगे तो 'छुट्टी, कर दो।" जब बरसा हो रही हो तो क्या आश्रम मे बैठे रह कर संथा रटते रहे? वर्षा मे तो नाचना गाना चाहिए। सृष्टि से एक-रूप होना चाहिए। वर्षा में पृथ्वी व आकाश एक-दूसरे से मिलते है। यह भव्य दृश्य कितना आनन्ददायी है? यह सृष्टि स्वतः हमें शिक्षा दे रही है।

सारांश सृष्टि की क्षरता, नाशवानता, का अर्थ है साधनो की नवीनता। इस तरह यह नव-नव प्रसवा साधनदात्री सृष्टि, कमर कसके सेवा के लिए खडा सनातन अक्षर सेवक व वह सेव्य परमात्मा, पुरुषोत्तम। यह खेल चल रहा है। वह परम पुरुष पुरुषोत्तम नये-नये विचित्र सेवा-साधन देकर मुझसे प्रेम-मूलक सेवा ले रहा है। नाना प्रकार के साधन देकर वह मुझे खिला रहा है। तरह-तरह के प्रयोग मुझसे करा रहा है। यदि हमे जीवन मे ऐसी दृष्टि आजाय तो कितना आनन्द मिले।

(४)

गीता चाहती है कि हमारी प्रत्येक कृति भक्तिमय हो। हम जो घण्टा-आध-घण्टा ईश्वर की पूजा करते है सो तो ठीक ही है। प्रातःकाल व सायंकाल जब सुन्दर सूर्य-प्रभा अपना रंग छिटकाती है तब चित्त को स्थिर करके थोडी देर के लिए संसार को भूल जाना और अनन्त का चिन्तन करना उत्तम विचार है। इस सदाचार को कभी न छोड़ना चाहिए। परन्तु गीता को इतने से सन्तोष नहीं है। सुबह से शाम तक

की सारी क्रियाएं भगवान् की पूजा के लिए होनी चाहिए, नहाते, खाते, चलते, झाडते उसका स्मरण रहना चाहिए। झाडते समय यह भावना होनी चाहिए कि मैं अपने प्रभु, मेरे जीवन-देव का आंगन साफ कर रहा हूं। हमारे समस्त कर्म इस तरह पूजा-कर्म होजाने चाहिए। यदि यह दृष्टि आगई तो फिर देखिएगा आपके व्यवहार मे कितना अन्तर पड जायगा। हम कितनी चिन्ता से फिर पूजा के लिए फूल चुनेंगे, उन्हे जतन से संभाल कर रखेंगे, वे दब न जायं, कुचल न जायं, कुम्हला न जायं इसका कितना ध्यान रखेगे। कही मलिन न हो जायं इस खयाल से उन्हें नाक के पास नही ले जायंगे। यह दृष्टि, यही भावना हमारे जीवन के प्रतिदिन के कर्मों में होजानी चाहिए अपने इस गांव मे,मेरे पडौसी के रूप मे मेरा नारायण, मेरा प्रभु, ही तो रम रहा है। अतः इस गांव को मै साफ-सुथरा, निर्मल रखूंगा। गीता हमे यह दृष्टि देना चाहती है। गीता की उच्च आकांक्षा यह है कि हमारे तमाम कर्म प्रभु-पूजा ही हो जायं। गीता जैसे ग्रन्थराज को घण्टा-आध-घण्टा की पूजा से समाधान नही। सारा जीवन हरिमय होना चाहिए, पूजा-रूप होना चाहिए। यह गीता की उत्कट इच्छा है।

अतः गीता पुरुषोत्तम-योग बताकर कर्ममय जीवन को पूर्णता पर पहुंचाती है। सेव्य पुरुषोत्तम, मैं उसका सेवक व सेवा के साधन-रूप यह सारी सृष्टि—यदि इस बात का दर्शन हमे एकबार होजाय तो फिर और क्या चाहिए? तुकाराम कह रहे हैं—

होयगा दर्शन तो करूंगा सेवा।
और कुछ नही, चाहूं प्रभो॥

फिर तो अखण्ड सेवा ही हम से होती रहेगी। तब 'मै'—जैसा कुछ रही नहीं जायगा। मै-मेरापन सब पोछ डालूंगा, अब जो कुछ है व होगा सब परमात्मा के लिए। पर-हितार्थ जीने के सिवा दूसरा विषय-काम ही नहीं रहेगा। गीता पुकार-पुकार कर यही कह रही है कि मैं अपने में से मैं-पन को निकाल कर हरिपरायण जीवन बनाऊं, भक्तिमय

जीवन रचूं। सेव्य परमात्मा, मैं सेवक व साधन-रूप यह सृष्टि। परिग्रह का नाम कहां रहा? जीवन मे अब किस बात की चिन्ता रही?

(५)

इस तरह अबतक हमने यह देखा कि कर्म मे भक्ति का योग करना चाहिए। परन्तु उसमे ज्ञान की पुट भी जरूरी है। नहीं तो गीता को सन्तोष न होगा। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि ये तीनो चीजे भिन्न-भिन्न है। सिर्फ समझने के लिए हम तीन जुदा-जुदा भाषा बोलते है। कर्म का मतलब ही है भक्ति। भक्ति कोई अलग से लाकर कर्म मे मिलानी नहीं पडती। यही बात ज्ञान की है। यह ज्ञान मिलेगा कैसे? गीता कहती है—"सर्वत्र पुरुष-दर्शन से" तुम सेवा करने वाले सनातन सेवक—तुम सेवा पुरुष; वह पुरुषोत्तम सेव्य पुरुष; और नाना रूपधारिणी यह प्रवाहमयी सृष्टि, नाना साधनदायिनी यह भी पुरुष ही।

ऐसी दृष्टि रखने का तात्पर्य क्या? सर्वत्र अव्यय निर्मल सेवा-भाव रखना! तुम्हारे पैर की जूती चर्र-चूं बज रही है—जरा उसे तेल दे दो; उसमें भी परमात्मा का ही अंश है, अतः उसे संभाल कर अच्छी हालत मे रखना चाहिए। यह सेवा का साधन चर्खा उसमें भी तेल डालो। देखो वह आवाज दे रहा है। "नेति-नेति" सूत नही कतेगा, कहता है। यह चरखा—यह सेवा-साधन—यह भी पुरुष ही है। इसकी माला, उसकी यह जनेऊ, उसे भले प्रकार रक्खो। सारी सृष्टि को चैतन्य-मय मानो। इसे जड मत समझो। ॐकार का सुन्दर नाद करने वाला वह चरखा, क्या जड़ है? वह तो परमात्मा की मूर्ति ही है। श्रावण की अमावस्या को हम अहंकार छोडकर नंदी - बैल की पूजा करते हैं। बडी भारी बात है यह। इस उत्सव का खयाल रोज करके, बैलों को अच्छी हालत मे रखके, उनसे उचित काम लेना चाहिए। उत्सव के दिन की भक्ति उसी दिन समाप्त न होनी चाहिए। बैल भी परमात्मा की ही मूर्ति है। वह हल, खेती के सब औजार, इन्हें अच्छी हालत में रखूंगा। क्योंकि सेवा के सभी साधन पवित्र

होते हैं। कितनी विशाल है यह दृष्टि। पूजा करने का अर्थ यह नही है कि गुलाल, गंधाक्षत, व फूल चढ़ावे। उन बरतनों को कांच की तरह साफ-सुथरा रखना बरतनों की पूजा है। दिये को साफ पोछना दीपक-पूजा है। हंसिये को तेज करके घास काटने के लिए तैयार रखना उसकी पूजा है। दरवाजे का कब्जा जंग खायगा तो उसे तेल लगाकर सन्तुष्ट कर देना उसकी पूजा है। जीवन मे सर्वत्र इसी दृष्टि से काम लेना चाहिए। सेवा-द्रव्य को उत्कृष्ट व निर्मल रखना चाहिए। सारांश यह कि मै अक्षर-पुरुष, वह पुरुषोत्तम व साधन-रूप सृष्टि वह भी पुरुष ही, परमात्मा ही। सर्वत्र एक ही चैतन्य रम रहा है। जब यह दृष्टि आ गई तो समझ लो कि हमारे कर्म में ज्ञान भी आ गया।

पहले कर्म मे भक्ति की पुट दी, अब ज्ञान का भी योग कर दिया तो इससे एक अपूर्व जीवन-रसायन बन गया। गीता ने हमें अन्त मे अद्वैतमय सेवा के रास्ते पर लाकर छोड दिया। इस सारी सृष्टि में जहां देखिए वहीं तीन पुरुष विद्यमान् है। एक ही पुरुषोत्तम ने ये तीन रूप धारण किये है। तीनो को मिलाकर वास्तव मे एक ही पुरुष है। केवल अद्वैत है। यहां गीता ने हमे सबसे ऊंचे शिखर पर लाकर बिठा दिया है। कर्म, भक्ति, ज्ञान सब एक-रूप हो गये। जीव, शिव, सृष्टि सब एक-रूप, एक-जीव हो गये। कर्म-भक्ति व ज्ञान मे कोई विरोध नहीं रह गया। ज्ञानदेव ने अमृतानुभव मे अपना प्रिय दृष्टान्त दिया है—

> देव, मन्दिर, परिवार—बनाया काट डूंगर
> ऐसा भक्ति का आचार—क्यो न होवे ?

एक ही पत्थर को कुरेद के उसी का मन्दिर बनाया, उस मन्दिर में पत्थर की ही गढ़ी हुई एक भगवान् की मूर्ति और उसके सामने पत्थर का ही एक भक्त, उसके पास पत्थर के ही बनाये हुए फल ये जैसे सब एक ही पत्थर की चट्टान मे खोद-काटकर बनाते हैं—एक ही पत्थर अनेक-रूपों में सजा हुआ है, वैसा ही भक्ति के विषय में भी क्यों न

होना चाहिए ? स्वामि-सेवक-संबंध रह कर भी ऐसी एकता क्यों नहीं हो सकती ? यह बाह्य सृष्टि, यह पूजा-द्रव्य जुदा रहकर भी सब आत्म-रूप क्यो न हो जाय ? तीनों पुरुष एक ही तो है। ज्ञान, कर्म, भक्ति इन तीनो को मिलाकर एक विशाल जीवन-प्रवाह बना दिया जाय। यह परिपूर्ण पुरुषोत्तम-योग है। स्वामी, सेवक व सेवा-द्रव्य सब एक-रूप ही हैं—अब भक्ति व प्रेम का खेल खेलना है।

ऐसा यह पुरुषोत्तम-योग जिसके हृदय मे अङ्कित हो जाय वही सच्ची भक्ति करता है।

"स सर्वविद् भजति मां सर्व भावेन भारत"

ऐसा पुरुष ज्ञानी होकर भी सोलहो आना भक्त रहता है। जिसमें ज्ञान है उसमे प्रेम हई है। परमेश्वर का ज्ञान व परमेश्वर का प्रेम ये दो अलग चीजे नहीं है। जब 'कड़ुआ करैला' जैसा ज्ञान उत्पन्न हो गया तो फिर क्या प्रेम नहीं होगा ? एकाध अपवाद होगा भी। परन्तु जहां कड़ुएपन का अनुभव हुआ कि जी ऊबा। परन्तु मिश्री का ज्ञान होते ही वह गलने लगा। तुरन्त ही प्रेम का स्रोत उमड पडता है। परमेश्वर के विषय में ज्ञान होना और प्रेम उत्पन्न होना दोनो बातें एक ही हैं। परमेश्वर के रूप की मधुरता की उपमा क्या रही शकर से दी जाय ? उस परमेश्वर का ज्ञान होते ही उसी क्षण प्रेम-भाव भी पैदा हो जायगा। यही मानिए कि ज्ञान होना व प्रेम होना ये दो भिन्न क्रियाएं ही नहीं है। अद्वैत मे भक्ति को स्थान है या नही इस बहस में कुछ नहीं रखा है। ज्ञानदेव कहते है—

सो ही भक्ति, सो ही ज्ञान।
एक विट्ठल ही जान ॥

भक्ति व ज्ञान एक ही वस्तु के दो नाम हैं।

जब जीवन मे परम भक्ति का सञ्चार हो गया तो फिर जो कर्म होगा वह भक्ति व ज्ञान से अलग नही रहता। कर्म, भक्ति व ज्ञान मिल कर एक ही रमणीय रूप बन जाता है। इस रमणीय रूप से अद्भुत

प्रेममय, ज्ञानमय सेवा सहज ही होने लगती है। मां पर प्रेम है, किन्तु यह प्रेम कर्म के द्वारा प्रदर्शित होना चाहिए। प्रेम सदैव मरता, खपता रहता है, सेवा-रूप में व्यक्त होता रहता है। प्रेम का बाह्य रूप है सेवा। प्रेम अनन्त सेवा-कर्म के द्वारा सजकर नाचता है। प्रेम हो तो फिर ज्ञान भी वहां आ जाता है। जिसकी सेवा मुझे करनी है उसे कौन-सी सेवा प्रिय है, या प्रिय होगी इसका ज्ञान मुझे होना चाहिए; नहीं तो वह सेवा अ-सेवा या कु-सेवा हो रहेगी। सेव्य वस्तु का ज्ञान प्रेम को होना चाहिए। प्रेम का प्रभाव कार्य द्वारा फैलाने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। परन्तु उसके मूल मे प्रेम होना चाहिए। वह न हो तो ज्ञान निरुपयोगी, बेकार हो जाता है। प्रेम के द्वारा होने वाला कर्म मामूली कर्म से जुदा होता है। खेल से थके-मादे आये लड़के पर मां सहज प्रेम की दृष्टि डालती है व कहती है—"बेटा थक गये हो ?" परन्तु इस छोटे-से कर्म मे, देखिए तो, कितना सामर्थ्य है। अतः अपने जीवन के समस्त कर्मों मे ज्ञान व भक्ति को ओत-प्रोत कीजिए। यही पुरुषोत्तम-योग कहलाता है।

(६)

यह सब वेदो का सार है। वेद अनन्त है। परन्तु उन अनन्त वेदो का सार-संक्षिप्त यह पुरुषोत्तम-योग है। पर यह वेद है कहां ? वेदों की बात विचित्र है। "पत्र है जिसके वेद।" भाई, वेद तो इसके —संसार रूपी वृक्ष के एक-एक पत्ते मे भरे हुए हैं। वेद उन सहिताओं में, आपके ग्रन्थो व पोथियो मे छिपे हुए नही हैं। वह विश्व मे सर्वत्र फैले हुए, छाये हुए हैं। शेक्सपीअर क्या कहता है—

"बहते हुए झरनो मे सद्ग्रन्थ मिलते हैं, पत्थरों-चट्टानो से प्रवचन सुनाई पडते हैं" मतलब यह कि वेद न संस्कृत में है, न संहिताओं मे, वे सृष्टि मे है। सेवा करो तो वे दिखाई देंगे। "प्रभाते कर दर्शनम्"। सुबह उठते ही अपनी हथेली देखनी चाहिए। सारे वेद उसी हाथ मे भरे है। वह वेद कहता है "सेवा करो।" कल हाथ ने काम

किया था या नही, आज करने योग्य है या नहीं, उसमे काम के निशान हुए हैं या नही, यह देखिए। सेवा करके जब हाथ थकता है तो फिर ब्रह्मलिखित खुलता है, पढा जा सकता है। यह अर्थ है "प्रभाते-कर दर्शनम्" का।

पूछते हैं वेद कहां है? तो भाई तुम्हारे हाथो मे ही तो है। शंकराचार्य के लिए कहते है कि उन्हे आठवे साल ही सारे वेदो का ज्ञान होगया था। बेचारे शंकराचार्य तो थे मन्द-बुद्धि। उन्हें आठ साल लग गये! परन्तु हमे तो जन्मतः ही वे प्राप्त है। आठ साल की भी क्या जरूरत? मै खुद ही जीता-जागता वेद हूं। अबतक की सारी परम्परा मुझमे आत्मसात हुई है। मै उस परम्परा का फल हूं। उस वेद-बीज का जो फल है वही तो मै हूं। अपने फल मे मैंने अनंत वेदो का बीज सचित कर रखा है। मेरे उदर मे वेद पांच-पचास गुना बडे होगये है। सारांश वेदो का सार हमारे हाथो मे है। सेवा, प्रेम व ज्ञान इनकी नींव पर हमे जीवन रचना होगा। तभी हम कह सकेगे कि वेद हाथो मे है। मैं जो अर्थ करूंगा वही वेद होगा, वेद कही बाहर नही है। सेवा-मूर्ति संत कहते है—"वेदो का सो अर्थ जानें एक हमी।" भगवान् बता रहे है—'सारे वेद मुझे ही जानते है। मैं ही सब वेदो का अर्थ पुरुषोत्तम हूं।" यह जो वेदो का सार, पुरुषो-त्तम-योग है, उसे यदि हम अपने जीवन मे ला सके तो कितनी बहार हो! तो फिर ऐसा पुरुष जो कुछ करेगा, गीता सुझाती है कि उसमे से मानो वेद ही प्रकट होरहे है। इस अध्याय मे सारी गीता का सार आगया है। गीता की शिक्षा इसमें पूर्ण-रूप से छिटक पडी है। उसे अपने जीवन मे उतारने का हमे रात-दिन प्रयत्न करना चाहिए।

सोलहवां अध्याय

रविवार, ५-६-३२

(१)

गीता के पहले पांच अध्यायो मे हमने जीवन के प्रकार और हम अपना जन्म सफल कैसे कर सकते है, यह देखा। उसके बाद छठे अध्याय से ग्यारहवे अध्याय तक हमने भक्ति का भिन्न-भिन्न प्रकार से विचार किया। ग्यारहवें मे भक्ति का दर्शन हुआ। उस मे सगुण व निर्गुण भक्ति की तुलना करके भक्ति के महान् लक्षणो को जाना। बारहवें अध्याय के अन्त तक कर्म व भक्ति इन दो तथ्यो की छानबीन की। ज्ञान-रूपी एक तीसरा विभाग रह गया था, उसकी हमने १३, १४ व १५ अध्यायो मे परीक्षा की। उसमे हमे जीवन का सम्पूर्ण शास्त्र मिला —आत्मा को देह से अलग करना व उसके लिए तीनो गुणो को जीत-कर अन्त मे सर्वत्र प्रभु को देखना। फिर पुरुषोत्तम-योग मे जीवन की पूर्णता होती है। उसके बाद फिर कुछ बाकी नही रहता।

कर्म, ज्ञान व भक्ति इनकी पृथक्ता मुझे सहन नही होती। कुछ साधको को अपनी निष्ठा के अनुसार सिर्फ कर्म ही सूझता है। कोई भक्ति का स्वतत्र मार्ग ढूंढते है और उसी पर बहुत जोर देते है। कुछ लोगों का झुकाव ज्ञान की ओर होता है। जीवन माने कोरा कर्म, केवल भक्ति, महज ज्ञान—ऐसा 'केवल'वाद मुझे मानने की इच्छा नही होती। इसके विपरीत कर्म, भक्ति व ज्ञान के योग रूप समुच्चयवाद को भी मै नही मानता। फिर कुछ भक्ति, कुछ ज्ञान व कुछ कर्म ऐसा उपयोगितावाद भी मुझे नहीं जंचता। न मैं पहले कर्म, फिर भक्ति, फिर ज्ञान इस तरह

का क्रमवाद ही मानता हूं। तीनों चीजों का मेल मिलाने वाला समन्वयवाद भी मंजूर नहीं है। मुझे तो यह अनुभव करने की तबियत होती है कि जो कर्म है वही भक्ति है, और वही ज्ञान है। बर्फी के एक टुकडे की मिठास, उसका आकार और उसका वजन ये बातें अलग-अलग नहीं है। जिस समय हम बर्फी का टुकडा मुंह में डालते है उसी समय उसका आकार भी हमने खा लिया, उसका वजन भी पचा लिया और उसकी मिठास भी चख ली। तीनो बाते एकत्र एक-साथ है। बर्फी के प्रत्येक कण में आकार, वजन व मधुरता है। यह नही कि उसके एक टुकडे मे केवल आकार है, दूसरे में कोरी मिठास है, व तीसरे मे सिर्फ वजन ही है। उसी तरह जीवन की प्रत्येक क्रिया मे परमार्थ खचाखच भरा रहना चाहिए—प्रत्येक कृत्य सेवामय, प्रेममय व ज्ञानमय होना चाहिए। जीवन के सब अंग-प्रत्यंग मे कर्म, भक्ति व ज्ञान भरा रहना चाहिए, इसे पुरुषोत्तम-योग कहते हैं। सारे जीवन को एक परमार्थमय ही कर डालना—यह बात कहने मे तो बडी आसान है,परन्तु इस उच्चार मे जो भाव है उसका यदि विचार करने लगे तो केवल निर्मल सेवा करने के लिए अन्तःकरण मे शुद्ध ज्ञान व भक्ति की हार्दिकता गृहीत करके चलना होगा। इसलिए कर्म, भक्ति व ज्ञान जब अक्षरशः एक रूप हो जाते हैं तब उस परम दशा को पुरुषोत्तम-योग कहते है। यहां हम जीवन की अन्तिम सीमा को पहुंच जाते है।

अब आज इस सोलहवे अध्याय मे क्या कहा गया है? जिस प्रकार सूर्योदय होने के पहले उसकी प्रभा फैलने लगती है उसी तरह जीवन में कर्म, भक्ति व ज्ञान से पूर्ण पुरुषोत्तम-योग के उदय होने के पहले सद्गुणों की प्रभा बाहर प्रकट होने लगती है। परिपूर्ण जीवन की इस आगामी प्रभा का वर्णन इस सोलहवें अध्याय में किया गया है। किस अन्धकार से झगड कर यह प्रभा प्रकट होती है उसका भी वर्णन इसमें किया गया है। किसी बात को प्रमाणित करना हो तो हम किसी प्रत्यक्ष बात की मांग करते हैं। सेवा, भक्ति व ज्ञान हमारे जीवन में

आ गये हैं, यह कैसे जाना जाय ? खेत पर हम मिहनत करते हैं तो उसके फलस्वरूप अनाज को फसल हम तौल-नाप कर घर ले आते हैं। इसी तरह हम जो साधना करते है, उससे हमे क्या-क्या अनुभव हुए, कितनी सद्वृत्तियां गहरी पैठी, कितने सद्गुण प्रविष्ट हुए, जीवन सचमुच सेवामय कितना हुआ, इसकी जांच करने की ओर यह अध्याय संकेत करता है। जीवन की कला कितनी बढ़ी व चढी है इसकी नाप यह अध्याय बताता है। जीवन की इस वृद्धिमती कला को गीता दैवी-सम्पत्ति कहती है। इसके विरुद्ध जो वृत्तियां है उन्हें आसुरी कहा है। सोलहवें अध्याय मे दैवी व आसुरी सम्पत्तियो का संघर्ष बताया गया है।

(२)

जिस तरह पहले अध्याय में एक ओर कौरव व दूसरी ओर पाण्डव आमने-सामने खडे किये है, उसी तरह यहां सद्गुणरूपी दैवी सेना व दुर्गुण-रूपी आसुरी सेना एक-दूसरे के सामने खडी की है। बहुत प्राचीन काल से मानवी मन मे सदसत-प्रवृत्तिओ का जो झगडा चल रहा है उसका रूपकात्मक वर्णन करने की परिपाटी पड गई है। वेद मे इन्द्र व वृत्र, पुराणो मे देव व दानव, वैसे ही राम व रावण, पारसियों के धर्म-ग्रन्थो मे अहुरमज़्द और अहरिमान, ईसाई मजहब मे प्रभु व शैतान, इस्लाम मे अल्लाह व इब्लीस—ऐसी परस्पर विरुद्ध शक्तियां व उनके झगडे सभी धर्म-ग्रन्थो मे आते हैं। काव्य में स्थूल विषयों का वर्णन सूक्ष्म वस्तुओ के रूपों के द्वारा किया जाता है व धर्म-ग्रन्थो में सूक्ष्म मनोभावनाओ का वर्णन उन्हे स्थूल रूप देकर किया जाता है। काव्य में स्थूल का सूक्ष्म द्वारा वर्णन किया जाता है तो यहां सूक्ष्म का स्थूल के द्वारा। इससे यह सूचित नही करना है कि गीता के आरंभ मे जो युद्ध का वर्णन है वह काल्पनिक है। हो सकता है कि वह ऐतिहासिक घटना हो, परन्तु कवि यहां उसका उपयोग अपने इष्ट हेतु को सिद्ध करने के लिए कर रहा है। कर्त्तव्य के विषय में जब मन में मोह

पैदा हो जाता है तब मनुष्य को क्या करना चाहिए, यह बात युद्ध के एक रूपक के द्वारा समझाई गई है। इस सोलहवें अध्याय में भलाई व बुराई का झगडा बताया गया है। गीता मे युद्ध का रूपक भी दिया गया है।

कुरुक्षेत्र बाहर की तरह हमारे भीतर भी है। बारीकी से देखा जाय तो जो झगडा हमारे मन मे होता या रहता है, वही हमे बाहरी जगत् मे मूर्तिमान् दिखाई देता है। बाहर जो मुझे अपना शत्रु खडा दीखता है वह मेरे ही मन का साकार-रूप तो है। आइने में जिस प्रकार मेरा ही बुरा-भला प्रतिबिम्ब मुझे दीखता है उसी तरह मेरे मन के बुरे-भले विचार मुझे बाहर शत्रु-मित्र के रूप मे दिखाई देते है। इस तरह जैसे हम जागृति मे स्वप्न को देखते है उसी तरह जो हमारे मन मे है वही हम बाहर देखते है। भीतर के व बाहर के युद्ध मे कोई फर्क नहीं है। सच पूछिए तो असली युद्ध तो भीतर ही होता है।

हमारे अन्तःकरण मे एक ओर सद्‌गुण तो दूसरी ओर दुर्गुण खडे रहते है। उन्होने अपनी-अपनी व्यूह-रचना ठीक-ठीक कर रक्खी है। सेना में जिस प्रकार सेनापति आवश्यक है वैसे ही सद्‌गुणो ने भी एक सेनापति बना रक्खा है। उसका नाम है अभय। इस अध्याय मे अभय को पहला स्थान दिया गया है। यह कोई आकस्मिक बात नही है। जान-बूझकर ही इस 'अभय' शब्द को पहला स्थान दिया गया है। बिना अभय के कोई भी गुण पनप नही सकता। सच्चाई के बिना सद्‌गुण का कोई मूल्य नहीं है। किन्तु सच्चाई के लिए निर्भयता आवश्यक है। भयभीत वातावरण मे सद्‌गुण फैल नही सकते। बल्कि उसमे वे उल्टा दुर्गुण बन जाते है। सत्प्रवृत्तियां भी कमजोर पड जाती है। अतः निर्भयता सब सद्‌गुणों का मुख्य नायक है। परन्तु सेना को आगे-पीछे दोनों तरफ संभालना पडता है। सीधा हमला तो सामने से ही होता है; परन्तु पीछे से चुपचाप चोर हमला भी हो सकता है। अतः सामने 'अभय' खम ठोक कर खडा है, तो पीछे से 'नम्रता' रक्षा

कर रही है। इस तरह यह बड़ी बढ़िया रचना—व्यवस्था की गई है। कुल छब्बीस गुण बताये गये हैं। इनमे यदि पच्चीस गुण प्राप्त हो गये व यदि कहीं अहंकार आ घुसा तो समझो कि पीछे से चोर-हमला हो गया है और आज तक की सारी कमाई खो जाने का भय है। इसलिए पीछे रक्षक 'नम्रता' सद्‌गुण को रक्खा गया है। यदि नम्रता न हो तो यह जय कब पराजय मे परिणत हो जायगी, नही कह सकते। इस तरह सामने 'निर्भयता' व पीछे 'नम्रता' को तैनात करके उनकी रक्षा मे सब सद्‌गुणो का विकास किया जा सकेगा। इन दो महान् गुणों के बीच मे जो चौबीस गुण रखे गये है उन्हे बहुत-कुछ अहिंसा के ही पर्यायवाची कहे तो अनुचित नही। भूत-दया, मार्दव, क्षमा, शान्ति, अक्रोध, अहिंसा, अद्रोह ये सब अहिसा के ही दूसरे नाम है। अहिसा व सत्य इन दो गुणो मे सब सद्‌गुणो का समावेश हो जाता है। सब सद्‌गुणो का यदि संक्षेप किया जाय तो अन्त मे अहिसा व सत्य यही दो बाकी रह जायंगे। शेष सब सद्‌गुण इन के उदर मे समा जायंगे। परन्तु निर्भयता और नम्रता की बात जुदा है। निर्भयता से प्रगति की जा सकती है, व नम्रता से बचाव होता है। (निर्भयता सत्य का व नम्रता अहिसा का प्रतीक है।) इस तरह सत्य व अहिसा इन दो गुणो की पूंजी लेकर हमे बेधड़क आगे बढते रहना चाहिए। जीवन विशाल है। उसमे हमे बेरोक सचार करते चले जाना चाहिए। पांव इधर-उधर गलत न पड़ जाय, इसके लिए नम्रता के साथ रहने से फिर कोई खतरा नही रह जाता। अब शौक से सत्य-अहिसा के प्रयोग करते हुए बेधड़क चले जाइए। तात्पर्य यह कि सत्य व अहिसा का विकास निर्भयता व नम्रता के द्वारा होता है।

इस तरह एक ओर जहा सद्‌गुणो की फौज खडी है तहां दूसरी ओर दुर्गुणो की भी तैयार है। दम्भ, अज्ञान आदि दुर्गुणो के सम्बन्ध मे अधिक कहने की आवश्यकता नही है। इनमे हमारा नित्य का परिचय है। दम्भ तो मानो हमारे जीवन का अनिवार्य अग-सा हो बैठा है। सारा जीवन ही मानो दम्भ की बुनियाद पर खडा किया गया है।

अज्ञान के बारे में अधिक क्या कहूं—वह तो एक मनोहर कारण बन गया है, जिसे हम कदम-कदम पर आगे कर देते है। मानो अज्ञान कोई गुनाह ही न हो। परन्तु सुनिए, भगवान् कहते है—'अज्ञान पाप है।' सुकरात ने इससे उल्टा कहा था। अपने मुकदमे के दौरान मे उसने कहा—'जिसको तुम पाप समझते हो वह अज्ञान है और अज्ञान क्षम्य है। अज्ञान के बिना पाप हो ही कैसे सकता है और अज्ञान को तुम सजा कैसे दोगे ?' परंतु भगवान् कहते है "अज्ञान भी एक पाप ही है।" कानून मे कहा है कि कानून का अज्ञान सफाई दलील नही हो सकती। इसी तरह ईश्वरी कानून का अज्ञान भी बहुत बडा अपराध है। भगवान् के व सुकरात के कथन का भावार्थ एक ही है। अपने अज्ञान की ओर किस दृष्टि से देखना चाहिए यह भगवान् बताते है तो दूसरे के पाप की ओर किस दृष्टि से देखना चाहिए, यह सुकरात बताता है। दूसरे के पाप के लिए उसे क्षमा क रन चाहिए, परंतु खुद अपने अज्ञान को क्षमा करना पाप है। अपना अज्ञान तो हमे जरा भी शेष न रखना चाहिए।

(२)

इस तरह एक ओर दैवी सम्पत्ति व दूसरी ओर आसुरी-सम्पत्ति रूप दो सेनाएं सजी खडी है। इसमे से आसुरी सम्पत्ति को छोडना व दैवी को पकड लेना चाहिए। सत्य, अहिंसा आदि दैवी गुणों का विकास अनादि काल से होता चला आया है। बीच मे जो काल अबतक गया है उसमे यद्यपि बहुत-कुछ विकास हुआ है, तो भी अभी बहुत विकास बाकी है। विकास की मर्यादा खतम हो गई हो सो बात नही। जब तक हमें सामाजिक शरीर प्राप्त है तब तक विकास के लिए हमें अनन्त अवकाश है। वैयक्तिक विकास हो गया तो सामाजिक, राष्ट्रीय, जागतिक विकास शेप रहता ही है। व्यक्ति को अपने विकास का खाद देकर फिर समाज, राष्ट्र के लाखों व्यक्तियो के विकास की शुरुआत करनी है। जैसे मानव द्वारा अहिंसा का विकास अनादि काल से हो

रहा है तो भी, आज भी, वह विकास-क्रिया जारी ही है।

अहिंसा का विकास किस तरह होता गया, यह देखने लायक है। उससे यह समझ मे आ जायगा कि पारमार्थिक जीवन का विकास किस तरह उत्तरोत्तर हो रहा है और उसे अभी कितना पूर्ण अवकाश है। पहले अहिंसक मानव यह विचार करने लगा कि हिंसक लोगो के हमले से कैसे बचाव किया जाय? तो शुरू मे समाज की रक्षा के लिए क्षत्रिय-वर्ग बनाया गया। परन्तु वह आगे जाकर समाज भक्षण करने लगा। तब इन उन्मत्त-क्षत्रियों से समाज का बचाव कैसे किया जाय, यह विचार अहिंसक ब्राह्मण करने लगे। परशुराम ने खुद अहिंसक होकर भी हिंसा का अवलम्बन किया व क्षत्रियो का विनाश करने लगे। क्षत्रियो से हिंसा छुडाने के लिए वे स्वतः हिंसा करने लगे। यह अहिंसा का प्रयोग हो रहा था। परन्तु वह सफल नही हुआ। इक्कीस बार क्षत्रियो का सहार उन्होने किया, फिर भी क्षत्रिय बच ही रहे। क्योंकि यह प्रयोग मूल मे ही गलत था। क्षत्रियो को नष्ट करने चले व खुद क्षत्रियत्व स्वीकार करके उल्टा उनका बल बढाया तो फिर क्षत्रिय-वर्ण नष्ट कैसे होता? मै खुद ही हिंसक क्षत्रिय बन गया। वह बीज तो कायम ही रहा। बीज को कायम रखकर जो झाड-पेड तोडता है उसे वे पेड पुनः-पुनः पैदा हुए ही दीखेगे। परशुराम थे भले आदमी। परन्तु उनका प्रयोग बडा विचित्र हुआ। स्वत. क्षत्रिय बनकर वे पृथ्वी को नि.क्षत्रिय बनाना चाहते थे। सच तो यह कि उन्हे खुद से अपना प्रयोग शुरू करना चाहिए था। उन्हे चाहिए था कि पहले वे खुद अपना ही सिर उडा देते। परन्तु मै जो यहां परशुराम का दोष दिखाना चाहता हूं तो इस खयाल से नही कि मै उनसे ज्यादा बुद्धिमान हूं। मै तो बच्चा हूं, परन्तु उनके कन्धे पर खडा हूं। इससे मुझे अपने-आप अधिक दूर दिखाई देता है। परशुराम के प्रयोग की बुनियाद ही गलत थी। हिंसामय होकर हिंसा दूर करना तीन काल मे भी सम्भव नही। इससे उल्टा हिंसको की संख्या अलबत्ते बढती है। परन्तु उस समय यह बात

ध्यान में नहीं आई। उस समय तो उन भले-भले आदमियों ने, महान् अहिंसामय लोगों ने जैसा उन्हे सूझा,प्रयोग किया। परशुराम उस काल के महान् अहिंसावादी थे। हिंसा के उद्देश्य से उन्होंने हिंसा नही की। अहिंसा की स्थापना के लिए उन्होंने हिसा का अवलम्बन किया था। किन्तु वह प्रयोग असफल हो गया। बाद में राम का युग आया। उस समय फिर ब्राह्मणो ने विचार किया। उन्होने खुद तो हिंसा छोड दी थी। उन्होंने निश्चय किया था कि हम खुद तो हिंसा नही करेगे। परन्तु तब राक्षसो के आक्रमण से बचाव कैसे हो? उन्होंने सोचा कि ये क्षत्रिय हिंसा करनेवाले तो हई है। उन्हीं से राक्षसो का संहार करा डालना चाहिए। कांटे से कांटा निकाल डालना चाहिए। हम खुद अपने अलग-थलग बने रहे। तदनुसार विश्वामित्र ने राम लक्ष्मण को ले जा कर उनसे राक्षसो का सहार करवाया। आज जरूर हम ऐसा विचार करते है कि जो अहिंसा स्वसंरक्षित नही है, जो अपने पांव पर नहीं खडी है, जो खुद लंगडी-लूली है वह खडी कैसे रहेगी? परन्तु उस समय वशिष्ठ-विश्वामित्र जैसो को क्षत्रियो के बल पर अपनी रक्षा करा लेने मे कोई दोष या त्रुटि नहीं मालूम हुई। परन्तु यदि राम के जैसा क्षत्रिय न मिला होता तो? विश्वामित्र ने कहा 'मैं मर भले ही जाऊं, पर हिसा नही करूंगा।' क्योंकि हिंसक बनकर हिंसा करने का प्रयोग खतम हो चुका था। अब इतना तो निश्चित हो ही चुका था कि खुद हिंसा नही करेगे। कोई क्षत्रिय यदि नही मिला तो अहिसक मर जाना पसंद करेगे—यह भूमिका तैयार हो चुकी थी। विश्वामित्र के साथ जाते हुए राम पूछते है—'ये ढेर किस चीज के है?' विश्वामित्र ने कहा—"ये ब्राह्मणो की हड्डियो के ढेर हैं। अहिंसक ब्राह्मणो ने आक्रमणकारी हिंसक राक्षसो का प्रतिकार न किया। वे मर मिटे। उन्ही की हड्डियों के ये ढेर हैं।" इस अहिंसा मे ब्राह्मणों का त्याग तो था; परन्तु साथ ही दूसरों से अपने संरक्षण की अपेक्षा वे रखते थे। ऐसी दुर्बलता के रहते हुए अहिंसा पूर्णता को नहीं पहुंच सकती थी।

अब तीसरा प्रयोग संतो ने किया। उन्होंने तय किया–"हम अपने बचाव के लिए दूसरों की सहायता नही लेगे। हमारी अहिंसा ही हमारा बचाव करेगी। ऐसा बचाव ही सच्चा बचाव होगा।" इन का यह प्रयोग व्यक्ति-निष्ठ था। इस व्यक्तिगत प्रयोग को उन्होंने पूर्णता तक पहुंचा दिया। परन्तु आखिर रहा यह व्यक्तिगत ही। समाज पर जब हिंसक लोगों के हमले होते व समाज सन्तों से आकर पूछता कि 'अब क्या करे' तो शायद सन्त उसका निश्चित उत्तर न दे पाते। व्यक्तिगत जीवन मे परिपूर्ण अहिंसा ले आने वाले वे सन्त समाज को यही जवाब दे पाते—'भाई, हम लाचार है।' सन्तो की इस प्रकार कमी बताना मेरा बाल-साहस है,परन्तु उनके कन्धे पर बैठ कर मुझे जो-कुछ दीखता है वही मै बता रहा हूं। वे मुझे इसके लिए क्षमा करे' और वे कर भी देंगे। क्योंकि वे क्षमावानो मे महान् है। अहिंसा की साधना के द्वारा साम्प्रदायिक प्रयोग की ओर उन्होने ध्यान ही नही दिया। शायद उस समय इसकी इतनी आवश्यकता ही न प्रतीत हुई हो। अतः उन्होने अपने अपने लिए खुद प्रयोग कर लिये। परन्तु ऐसे पृथक् पृथक् किये प्रयोगो से ही शास्त्र की रचना होती है। सम्मिलित अनुभवो से शास्त्र बनता है।

सन्तो के व्यक्तिगत प्रयोग के बाद अब हम चौथा प्रयोग कर रहे हैं। वह है—सारा समाज मिल कर अहिसात्मक साधन के द्वारा हिंसा का प्रतिकार करे। इस तरह ये चार प्रयोग अब तक हुए हैं। हमने देखा कि प्रत्येक प्रयोग मे अपूर्णता थी, रही व है भी। विकास-क्रम में यह बात अपरिहार्य ही है। परन्तु यह तो कहना ही होगा कि उस काल में वे प्रयोग पूर्ण थे या समझे जाते थे। अगले दस हजार साल मे आज के इस हमारे अहिसक युद्ध में बहुत कुछ हिसा का भाग दिखाई देगा शुद्ध अहिंसा के और प्रयोग होते ही रहेगे। इस तरह केवल ज्ञान, कर्म व भक्ति ही नही, तमाम सद्गुणो का विकास हो रहा है। पूर्ण वस्तु एक ही है। वह है परमात्मा। भगवद्गीता का पुरुषोत्तम-योग पूर्ण है।

परन्तु व्यक्ति और समुदाय के जीवन मे अभी उसका पूर्ण विकास होना बाकी है। वचनों का भी विकास होता है। ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा समझे जाते है, कर्त्ता नहीं, क्योंकि उन्हे मन्त्रों का जो अर्थ दीखा वही उसका अर्थ हो सो बात नहीं। उन्हे उनका एक दर्शन-मात्र हुआ। उसके बाद हमे उसका और विकसित अर्थ दीख सकता है। उनसे यदि हमे कुछ अधिक दीख जाता है तो यह हमारी विशेषता नही है। क्योंकि उन्ही के आधार पर हम आगे बढते हैं। मै यहां जो अहिंसा के ही विकास की बात कर रहा हूं उसका कारण यह है कि यदि हम सब सद्गुणो का साधारण रूप से सार निकालें तो वह 'अहिंसा' के रूप मे ही निकलेगा। और दूसरे, हम आज अहिंसात्मक युद्ध मे लीन भी हो रहे हैं। अतः मैने बताया कि इस तत्व का विकास कैसे हो रहा है।

(४)

अब तक हमने अहिंसा का यह एक पहलू देखा कि यदि हिंसकों के हमले हो तो अहिंसक अपना बचाव कैसे करे ? व्यक्तियो के पारस्परिक झगडो में अहिंसा का विकास किस तरह हो रहा है, यह हमने देखा।

लेकिन झगडा तो मनुष्य व पशु मे भी हो रहा है। मनुष्य अभी तक अपने आपस के झगडे मिटा नही पाया है, व पशु को पेट मे डाल कर वह जी रहा है। अपने झगडे वह अभी तक मिटा नही पाता है, वह अपने से हीन कोटि के दुर्बल पशुओ–जीवो को खाये बिना वह जी नहीं सकता है। परन्तु अभी मनुष्य ने यह विचार तो किया ही नही है कि हजारो वर्ष रहकर कैसे जिये ? मनुष्य मनुष्य रहकर नही जी सकता। परन्तु इस बात का भी विकास हो रहा है। एक समय था जब मनुष्य केवल पशुओ पर ही अपना निर्वाह करता था। परन्तु जो उत्तम व बुद्धिमान् लोग थे उन्हे यह नही जंचा। उन्होने यह पाबन्दी लगाई कि यदि मांस ही खाना हो तो यज्ञ मे बलि दिये गये पशु का ही मांस खाना चाहिए। इसमें हेतु यह था कि हिंसा की रोक हो। कइयो ने तो

पूर्णरूप से भी मांस छोड़ दिया। परन्तु जो पूरापूरा मास नहीं छोड़ सकते थे उन्हे यह अनुमति दी गई कि वे उसे यज्ञ मे परमेश्वर को अर्पण करके, कुछ तपस्या करके फिर खावें। उस समय यह समझा गया था कि 'यज्ञ मे ही मांस खा सकते है' ऐसी पाबन्दी लगा देने से हिसा रुक जायगी। परन्तु बाद मे यज्ञ एक रोजमर्रा की चीज हो गया। जिसके जी मे आता वही यज्ञ करने लगा व मांस खाने लगा। तब भगवान् कुछ आगे बढे। उन्होने कहा—'तुम्हे मांस खाना हो तो खाओ परन्तु निदान भगवान् का नाम लेकर तो मत खाओ।' इन दोनो वचनों का हेतु एक ही था—हिसा की रोक हो। गाडी किसी-न-किसी तरह संयम के मार्ग पर आवे। यज्ञयाग करो या न करो—दोनो से हमने मांसाशन त्याग सीखा। इस तरह हम धीरे-धीरे मांस खाने से परहेज करने लगे।

संसार के इतिहास मे अकेले भारतवर्ष मे ही यह महान् प्रयोग हुआ। करोडो लोगो ने मांस खाना छोड दिया। आज जो हम मांम नहीं खाते है इसमे हमारी कोई बडाई नही है। यह तो हमारे पूर्वजों की पुण्याई है। वह हमारे सस्कारो मे आ गया है। इतना कि यदि आज हम पढते हैं कि पहले के ऋषि मांस खाते थे, तो बडा आश्चर्य मालूम होता है। 'क्या बकते हो? ऋषि और मांस खाते थे?' परन्तु सच तो यह है कि मांसाशन करते हुए भी उन्होने सयम कर-करके उसका त्याग ही किया है। इसका श्रेय उनको है। उन कष्टों का अनुभव आज हमे नहीं होता। उनकी पुण्याई रास्ते चलते, धरी-धराई हमें मिल गई। भवभूति के 'उत्तर रामचरित' मे एक प्रसग आया है। वाल्मीकि के आश्रम मे वसिष्ठ ऋषि आये हैं। उनके स्वागत मे एक छोटा गाय का बछडा मारा गया। तो एक छोटा लडका बडे लडके से पूछता है—'आज अपने आश्रम मे एक डाढी वाला शेर आया है। उसने हमारा बछडा खा डाला न?' बडा लडका जवाब देता है—'हट्, वे तो वसिष्ठ ऋषि है। ऐसा मत बको।' पहले वे मांसाशन

करते थे और आज हम नहीं करते है—इसका अर्थ यह नहीं कि हम आज उनसे बड़े हो गये हैं। बल्कि यह कि उनके अनुभव का लाभ हमे अनायास ही मिल गया है। हमें उनके इस अनुभव का विकास करना चाहिए। हमें बिलकुल दूध ही छोड देने का प्रयोग करना चाहिए। मनुष्य का अन्य जीवों का दूध पीना भी है तो अनुचित ही। दस हजार साल आगे आने वाले लोग कहेंगे—'क्या हमारे पूर्वजों को दूध न पीने का व्रत लेना पड़ा था? राम राम, वे दूध कैसे पी सकते होंगे? क्या वे इतने जंगली थे?' मतलब यह कि हमें बेधड़क निडर होकर, लेकिन नम्रतापूर्वक, अपने प्रयोग करते हुए निरंतर आगे बढते जाना चाहिए। सत्य का क्षितिज विशाल करते जाना चाहिए। विकास के लिए अभी बहुत गुंजायश है। अभी तक किसी भी गुण का पूर्ण विकास नहीं हो पाया है।

(५)

तो हमे दैवी सम्पत्ति का विकास करना है व आसुरी सम्पदा से दूर रहना है। आसुरी सम्पत्ति का वर्णन भगवान ने इसीलिए किया है कि हम उससे दूर रह सकें। इसमें कुल तीन बातें मुख्य हैं। असुरों के चरित्र का सार "सत्ता, संस्कृति व सम्पत्ति" इनमें है। वे कहते है—एक हमारी ही संस्कृति उत्कृष्ट है और उनकी महत्वाकांक्षा होती है कि वही सारे संसार पर लादी जाय। वही संस्कृति क्यों लादी जाय? तो कहते हैं वह सबसे अच्छी है। अच्छी क्यों है? क्योंकि वह हमारी है। आसुरी चाहे व्यक्ति हों, चाहे उनसे बने साम्राज्य हों, उनके लिए ये तीन चीजें आवश्यक हैं।

ब्राह्मण भी तो ऐसा ही समझते हैं कि हमारी संस्कृति सर्वश्रेष्ठ है। सारा ज्ञान हमारे वेदों में भरा हुआ है। वैदिक संस्कृति की विजय सारी दुनिया में होनी चाहिए। "अग्रतश्चतुरो वेदाः पृष्ठतः सशरं धनुः"—इस तरह सज्ज होकर सारी पृथ्वी पर अपनी संस्कृति का झण्डा फहराओ! परन्तु पीठ पर जहां "सशरं धनुः" रहा तो फिर

बेचारे आगे हाथ में रक्खे वेदों का खातमा ही समझिए। मुसलमान भी तो ऐसा ही समझते हैं कि कुरानशरीफ में जितना कुछ लिखा है वही सच है। ईसाई भी ऐसा ही मानते हैं। दूसरे मजहब का आदमी कितना ही उच्चकोटि का क्यों न हो, वह जब तक ईसा-मसीह पर विश्वास नही लाता तब तक वह स्वर्ग में नहीं जा सकता। भगवान् के मंदिर का उन्होने सिर्फ एक ही दरवाजा रक्खा है, वह है ईसामसीह वाला। लोग तो अपने-अपने घरो में अनेक दरवाजे व खिडकिया लगाते हैं; परन्तु बेचारे भगवान् के मन्दिर का सिर्फ एक ही दरवाजा वे रखते हैं।

"मैं ही कुलीन श्रीमंत, मेरी जोड कही नहीं।"

यही सब मानते है। मैं कौन ? तो भारद्वाज-कुल का ? मेरी यह परम्परा अबाधित रूपसे चल रही है। यही हाल पश्चिमी लोगो का है। हमारी नसों मे, कहते है, नार्मन लोगो का खून बहता है ! हमारे यहां गुरु-परम्परा है न। मूल आदि गुरु है शकर। फिर ब्रह्मदेव, और और कोई, फिर नारद, व्यास, फिर कोई और ऋषि, फिर बीच में दस-पाच नाम आते है, बाद में अपने गुरु का नाम व फिर मै—ऐसी परम्परा बताई जाती है। इस वंशावलि से यह सिद्ध किया जाता है कि हम बडे, हमारी सस्कृति श्रेष्ठ। भाई यदि आपकी संस्कृति सचमुच ही श्रेष्ठ है तो उसे आपके आचरण मे दीखने दो न ! उसकी प्रभा आपके जीवन मे फैलने दो न ! परन्तु ऐसा नही होता। जो सस्कृति खुद हमारे जीवन मे नही है, हमारे घर मे नहीं है, उसे ससार भर में फैलाने की आकांक्षा रखना—इस विचार सरणि को आसुरी कहते हैं।

फिर, जैसे मेरी संस्कृति सुन्दर, बढिया है, वैसे ही यह विचार भी है कि, संसार की सारी सम्पत्ति रखने के योग्य भी मै ही हूं। संसार की सारी सम्पत्ति मुझे चाहिए व मैं उसे प्राप्त करके रहूंगा। यह सम्पत्ति प्राप्त किस लिए करूं ? तो सबमे समान रूप से बाटने के लिए, इसके लिए मै स्वत. अपने को धन-सम्पत्ति में गाड लेता हू।

अकबर ने यही तो कहा था—ये राजपूत अभी मेरे साम्राज्य मे क्यों नही शरीक होते ? एक बडी सल्तनत हो जाय तो दुनिया मे अमनो-अमान कायम हो जायगा।' वह सचमुच ईमानदारी से ऐसा मानता था। वर्त्तमान असुरो की भी ऐसी ही धारणा है। दुनिया भर की सम्पत्ति बटोरी क्यो जाय ? तो उसे फिर सब मे बांटने के लिए !

उसके लिए मुझे सत्ता चाहिए। सारी सत्ता एक हाथ मे केन्द्रीभूत हुए बिना यह नही हो सकता। सारी दुनिया मेरे तन्त्र मे आजानी चाहिए। स्वतन्त्र, मेरे तन्त्र, के अनुसार चलनी चाहिए। जो कुछ मेरे अधीन होगा, जो मेरे तन्त्र से चलेगा वही स्वतन्त्र। इस तरह संस्कृति, सत्ता व सम्पत्ति इन तीन मुख्य बातों पर आसुरी सम्पत्ति मे जोर दिया जाता है।

एक समय ऐसा था जब समाज मे ब्राह्मणो का जोर,प्रभुत्व था। वे शास्त्रों को, कानून की रचना करते थे। राजा उन्हे बडा मानता था। वह युग बदला। क्षत्रियों का युग आया—घोडे छोडे जाने लगे, दिग्विजय होने लगे। यह क्षत्रिय संस्कृति भी आई व चली गई। ब्राह्मण कहता—"मै विद्या देने वाला, दूसरे लेने वाले, मेरे सिवा गुरु कौन ?" ब्राह्मणो को अपनी संस्कृति का अभिमान था, क्षत्रियों का जोर सत्ता पर था। "आज इसे मारा, कल उसे मारूंगा।" इसी बात पर उनका सारा जोर रहता था। फिर वैश्यों का युग आया। उनका सिद्धान्त रहा—"पीठ पर मारो, पर पेट मे मत मारो"। पेट की ही सारी अक्ल, सारी शिक्षा वे देते। 'यह धन मेरा, और वह भी मेरा हो जायगा।' यही जप और यही संकल्प। अंग्रेज हमें कहते है न—"स्वराज्य चाहिए तो ले लो; परन्तु हमारा तैयार माल बेचने की सुविधा, सहूलियत हमें देनी होगी। फिर भले ही आप अपनी संस्कृति का अध्ययन करते रहिए। लंगोटी लगाओ व अपनी संस्कृति को लिये बैठे रहो।" आज-कल जो युद्ध होते है वे व्यापार के लिए ही यह युग भी जायगा, जाने की शुरुआत हो गई है। इस तरह ये आसुरी सम्पत्ति के प्रकार हैं।

अतः हमें चाहिए कि हम आसुरी सम्पत्ति को दूर हटाते रहें। थोडे मे कहें तो आसुरी सम्पत्ति का अर्थ है "काम, क्रोध, लोभ।" यही तीनों सारे संसार को नचा रहे हैं। अब इस नाच को खतम करो। इससे हमें बाज आना ही चाहिए। क्रोध व लोभ काम की बदौलत पैदा होते है। काम के अनुकूल परिस्थिति पैदा होने से लोभ पैदा होता है व प्रतिकूलता आने से क्रोध। गीता मे हर कदम पर यह कहा है कि इन तीनो से बचते रहो। सोलहवें अध्याय के अन्त मे यही कहा है—काम-क्रोध-लोभ यही नरक के तीन बडे फाटक है। इनमें बहुत शाहदारी होती है। अनेक लोग आते-जाते है। नरक का रास्ता खूब चौडा है। उसमें मोटरें चलती है। बहुतेरे साथी भी रास्ते में मिल जाते है परन्तु सत्य की राह संकडी है।

तो अब इन काम-क्रोध-लोभ से बचें कैसे? संयम-मार्ग अंगीकार करके। शास्त्रीय संयम का पल्ला पकड लेना चाहिए। सन्तों का अनुभव ही शास्त्र है। प्रयोग-द्वारा जो अनुभव सन्तो को हुए उन्हीं से शास्त्र बनता है। अतः इस संयम-सिद्धान्त का हाथ पकडो। फजूल शंका-कुशंका मत रक्खो। कृपा करके ऐसा तर्क, ऐसी शका मत लाइए कि यदि काम-क्रोध उठ गये तो फिर दुनिया का क्या हाल होगा, वह कैसे चलेगी? काम-क्रोध थोडे भी न रहने चाहिए? मेरे भाइयो, काम-क्रोध पहले से ही भरपूर हैं—आपको जितने चाहिए उससे भी कही ज्यादा है। तो फिर आप क्यो व्यर्थ मे बुद्धि-भेद पैदा करते है? काम-क्रोध-लोभ आपकी चाह से इंच भर अधिक ही दुनिया मे है। यह चिंता मत रखिए कि काम मर जायगा तो सन्तति कैसे पैदा होगी? आप चाहे कितनी ही सन्तति पैदा कीजिए, एक दिन ऐसा आने ही वाला है जब पृथ्वी पर से मनुष्य का नाम-निशान एकदम मिट जायगा। शास्त्रज्ञों का, विज्ञानियो का ऐसा ही कहना है। पृथ्वी धीरे-धीरे ठंडी होती जा रही है। एक समय पृथ्वी अत्यन्त उष्ण थी। तब उस पर जीवधारी नही रहते थे। जीव पैदा ही नहीं हुआ था। अब एक समय

ऐसा आ जायगा कि पृथ्वी ठंडी हो जायगी व सारी जीव सृष्टि का लय हो जायगा। इस बात को लाख साल लग जायेंगे। अतः आप कितनी ही सन्तान-वृद्धि क्यों न करें, अन्त को यह प्रलय निश्चित रूप से आने ही वाला है। परमेश्वर जो अवतार लेता है सो धर्म-संरक्षण के लिए, संख्या-संरक्षण के लिए नहीं। जबतक एक भी धर्मपरायण मनुष्य है, एक भी पाप-भीरु व सत्यनिष्ठ मनुष्य है, तबतक कोई चिन्ता नहीं। उसकी ओर ईश्वर की दृष्टि बनी रहेगी। जिनका धर्म मर चुका है, ऐसे हजारों लोग रहें तो क्या, व न रहें तो क्या; दोनों एक-से हैं।

इस बात पर ध्यान रखकर सृष्टि मे ढंग से रहिए; संयम से चलिए। सीमा छोडकर बेतहाशा मत भागिए। लोक-संग्रह का अर्थ यह नहीं कि लोग जैसा कहे वैसा किया या चला जाय। मनुष्यों का संघ बढ़ाते जाना, सम्पत्ति का ढेर इकट्ठा करते जाना—यह सुधार–प्रगति–नहीं है। विकास संख्या पर अवलम्बित नहीं है। समाज यदि बेशुमार बढने लगेगा तो लोग एक-दूसरे का खून करने लग जायँगे। पहले पशु-पक्षियों को खाकर मनुष्य-समाज जियेगा। फिर अपने लड़के-बच्चों को खाकर रहना पड़ेगा। काम-क्रोध मे कुछ सार, अर्थ, उपयोग है, यह बात यदि मान लें तो फिर अन्त मे मनुष्य मनुष्य को फाड खाएगा—इसमें तिल-मात्र संदेह नहीं है। अत· लोक-संग्रह का अर्थ है सुन्दर व विशुद्ध नीति-मार्ग लोगों को दिखाना। काम-क्रोध से मुक्त हो जाने पर यदि मनुष्य का लोप पृथिवी से हो जायगा, तो आप चिन्ता न करें वह मंगल (ग्रह) मे उत्पन्न हो जायगा। अव्यक्त परमात्मा सब जगह व्याप्त है, वह कहाँ नहीं है? वह हमारी चिन्ता कर लेगा। अतः पहले हम मुक्त हो लें। आगे दूर देखने की जरूरत नहीं है। सारी सृष्टि व मानव-जाति की चिन्ता मत करो। तुम अपनी नैतिक शक्ति को बढाओ; काम-क्रोध का पल्ला झाडकर फेंक दो। "अपना तो गला लो पहले छुडा।" तुम्हारी गर्दन जो फँस रही है, पहले उसे तो छुडा लो। इतना कर लिया तो बहुत काम बन गया।

संसार-समुद्र से दूर किनारे खडे रहकर समुद्र की मौज देखने मे आनंद है। जो समुद्र में डूबता उतराता है, जिसकी आँख-नाक मे पानी भर गया है, उसे समुद्र मे क्या आनंद है? सत समुद्र-तट पर खड़े रहकर आनंद लूटते है। संसार से अलिप्त रहने की इस सन्तवृत्ति का जीवन मे संचार हुए विना आनंद नही हो सकता। अत. कमल-पत्र की तरह अलिप्त रहो। बुद्ध ने कहा है—'संत महान् पर्वत के शिखर पर खडे रहकर नीचे संसार की ओर देखते है। तब उन्हे ससार क्षुद्र, नकुछ मालूम होता है।" अतः आप भी ऊपर चढकर देखिए तो फिर यह विशाल, नि.सीम विस्तार क्षुद्र दिखाई देगा। फिर संसार में मन नहीं लगेगा।

सारांश, भगवान् ने इस अध्याय मे बार-बार आग्रह-पूर्वक हृदय की गहराई से कहा है कि आसुरी सम्पत्ति को हटाकर दैवी सम्पत्ति प्राप्त करो। आइए, हम ऐसा ही यत्न करें।

सत्रहवां अध्याय

रविवार, १२-६-३२

(१)

प्यारे भाइयो, हम धीरे-धीरे अपने अग्रभाग की ओर बढते आ रहे हैं। पंद्रहवें अध्याय मे हमने जीवन के संपूर्णशास्त्र का अवलोकन किया। सोलहवें अध्याय में उसका एक परिशिष्ट देखा। मनुष्य के मन मे, और उसके मन के प्रतिबिम्ब-स्वरूप समाज मे, दो वृत्तियों, दो संस्कृतियो अथवा दो संपत्तियो का झगड़ा चल रहा है। इनमे से हमें दैवी-संपत्ति का विकास करना चाहिए। यह शिक्षा हमें सोलहवें अध्याय के परिशिष्ट से मिलती है। आज सत्रहवें अध्याय मे हमे दूसरा परिशिष्ट देखना है। एक दृष्टि से कह सकते है कि इसमे कार्य-क्रम-योग कहा गया है। गीता इस अध्याय मे रोज का कार्य-क्रम बताती है। आज के अध्याय में हमें नित्य-क्रिया पर विचार करना है।

अगर हम चाहते हैं कि हमारी वृत्ति मुक्त और प्रसन्न रहे तो हमें अपने व्यवहार का एक क्रम बांध लेना चाहिए। हमारा नित्य का कार्य-क्रम किसी निश्चित आधार पर चलना चाहिए। मन तभी मुक्त रह सकता है जबकि हमारा जीवन उसी मर्यादा मे और उसी निश्चित नियमित रीति से चलता रहे। नदी स्वच्छन्दता से बहती है; परन्तु उसका प्रवाह नियम से बहता है। यदि वह नियमित न हो तो उसकी मुक्तता व्यर्थ चली जायगी। ज्ञानी पुरुष का उदाहरण अपनी आंखों के सामने लाओ। सूर्य ज्ञानी पुरुषों का आचार्य है। भगवान् ने पहले-पहल कर्म-योग सूर्य को सिखाया; फिर सूर्य से मनु को—अर्थात् विचार

करने वाले मनुष्य को,वह प्राप्त हुआ। सूर्य स्वतन्त्र और मुक्त है। वह नियमित है। इस नियमितता में ही उसकी स्वतन्त्रता का सार है। यह हमारे अनुभव की बात है कि अगर हमें एक निश्चित रास्ते से घूमने जाने की आदत है तो रास्ते की ओर ध्यान न देते हुए भी मन से विचार करते हुए हम घूम सकते हैं। यदि घूमने के लिए हम रोज-रोज नये रास्ते निकालते रहेंगे तो सारा ध्यान रास्तों में ही लगाना पडेगा। फिर मन को मुक्तता नहीं मिल सकती। मतलब यह कि हमें अपना व्यवहार इसीलिए नियमित करना चाहिए कि जीवन एक बोझ-सा मालूम न हो, बल्कि आनन्दमय प्रतीत हो।

इसलिए भगवान् इस अध्याय मे कार्य-क्रम बता रहे हैं। हम पैदा होते ही तीन संस्थाएं साथ लेकर आते हैं। मनुष्य इन तीनों सस्थाओं का कार्य भली-भांति चलाकर अपना ससार सुखमय बना सके इसीलिए गीता यह कार्य-क्रम बताती है।

वे तीन सस्थाएं कौन सी हैं? पहली सस्था है—हमारे आस-पास लपेटा हुआ यह शरीर। दूसरी संस्था है—हमारे आस-पास फैला हुआ यह विशाल ब्रह्माण्ड—यह अपार सृष्टि, जिसके कि हम एक अंश हैं। जिससे हमारा जन्म हुआ वह समाज, हमारे जन्म की प्रतीक्षा करनेवाले माता-पिता, भाई-बहन, अडौसी-पडौसी—यह हुई तीसरी सस्था। हम रोज इन तीन सस्थाओ का उपयोग करते हैं—इन्हें छिजाते हैं। गीता चाहती है कि हमारे द्वारा इन सस्थाओ मे जो छीजन आती है उसकी पूर्ति के लिए हम सतत प्रयत्न करें और अपने जीवन को सफल बनायें। इन संस्थाओं के प्रति हमारे जो जन्मजात कर्त्तव्य हैं उन्हें हमें निरहंकार भावना से करना चाहिए।

इन कर्त्तव्यों को पूरा तो करना है, परन्तु उनकी पूर्ति की योजना क्या हो? यज्ञ, दान और तप—इन तीनों के योग से ही यह योजना बनती है। यद्यपि इन शब्दों से हम परिचित हैं, तो भी इनका अर्थ हम अच्छी तरह नहीं समझते हैं। अगर हम इनका अर्थ समझ लें और

इन्हें अपने जीवन का धर्म बनाने का प्रयत्न करें तो ये तीनों संस्थाएं सफल हो जायँ और हमारा जीवन भी मुक्त और प्रसन्न रहे।

(२)

इस अर्थ को समझने के लिए पहले हम यह देखें कि यज्ञ का अर्थ क्या है। सृष्टि-संस्था से हम प्रति दिन काम लेते है। अगर सौ आदमी एक जगह रहते हैं तो दूसरे दिन वहां की सारी सृष्टि दूषित दिखाई देने लगती है। वहां की हवा हम दूषित कर देते हैं, जगह गंदी कर देते है, अन्न खा जाते है और इस तरह सृष्टि को छिजाते है। सृष्टि-संस्था की इस छीजन की हमें पूर्ति करनी चाहिए। इसीलिए यज्ञ-संस्था का निर्माण हुआ है।

यज्ञ का उद्देश्य क्या है ? सृष्टि की जो हानि हो गई है उसे पूरा करना ही यज्ञ है। आज हजारो वर्षों से हम जमीनें जोतते आ रहे हैं, उससे जमीन का कस कम होता जा रहा है। यज्ञ कहता है—"पृथ्वी को उसका कस वापिस लौटा दो। जमीन जोतो, उसे सूर्य की धूप खाने दो। उसमे खाद डालो।" जमीन की हानि पूरी करना—यह है यज्ञ का एक हेतु। दूसरा हेतु है उपयोग मे लाई हुई वस्तुओं का शुद्धीकरण। हम कुएं का उपयोग करते है जिससे आस-पास गन्दगी हो जाती है, पानी इकट्ठा हो जाता है। कुए के पास की यह सृष्टि जो खराब हो गई है उसे शुद्ध करना चाहिए। वहां का गंदा पानी निकाल डालना चाहिए। कीचड दूर कर देना चाहिए। क्षति-पूर्ति करने और सफाई करने के साथ ही वहां कुछ प्रत्यक्ष निर्माण-कार्य भी करना चाहिए। यह तीसरी बात भी यज्ञ के अन्तर्गत है। हम रोज कपडे पहनते है तो हमे चाहिए कि रोज सूत कातकर उसकी कमी पूरी करदें। कपास पैदा करना, अनाज उत्पन्न करना व सूत कातना यह भी यज्ञ-क्रिया ही है। यज्ञ में जो कुछ निर्माण किया जाता है वह स्वार्थ के लिए नहीं होता है। बल्कि हमने जो क्षति की है उसे पूरा करने की कर्त्तव्य-भावना ही उसमें होनी चाहिए। यह परोपकार नहीं है। हम तो पहले से ही

कर्जदार है ! जन्मतः ही अपने सिर पर ऋण लेकर हम आते है। इस ऋण को चुकाने के लिए हम जो कुछ निर्माण करे वह यज्ञ अर्थात् सेवा है; परोपकार नही। उस सेवा के जरिये हमे अपना कर्ज चुकाना है। हम पद-पद पर सृष्टि-सस्था का उपयोग करते है। अतः उस हानि की पूर्ति करने के लिए, उसकी शुद्धि करने के लिए व नवीन वस्तु उत्पन्न करने के लिए हमे यज्ञ करने की जरूरत है।

दूसरी संस्था है हमारा मनुष्य-समाज। मा-बाप, गुरु, मित्र ये सब हमारे लिए मेहनत करते है। इस समाज का ऋण चुकाने के लिए दान की व्यवस्था की गई है। दान का अर्थ है समाज का ऋण चुकाने के लिए किया गया प्रयोग। दान का अर्थ परोपकार नही। समाज से मैने बहुत सेवा ली है। जब मैं इस ससार मे आया तो दुर्बल और असहाय था। इस समाज ने मुझे छोटे से बडा किया है। इसलिए मुझे समाज की सेवा करना चाहिए। परोपकार कहते है—दूसरे से कुछ न लेकर की हुई सेवा को। परन्तु यहा तो हम समाज से पहले ही भरपूर ले चुके है। समाज के इस ऋण से मुक्त होने के लिए जो सेवा की जाय वही दान है। सृष्टि की हानि पूरा करने के लिए जो श्रम किया जाता है वह यज्ञ है, और समाज का ऋण चुकाने के लिए तन, मन, धन तथा अन्य साधनो से जो सहायता की जाती है वह दान है।

इसके अलावा एक तीसरी सस्था और है। वह है शरीर। शरीर भी दिन प्रतिदिन छीजता जाता है। हम अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय—सब से काम लेते है—इनको छिजाते है। इस शरीर-रूपी संस्था मे जो विकार—जो दोष उत्पन्न हो उनकी शुद्धि के लिए तप बताया गया है।

इस प्रकार सृष्टि, समाज और शरीर इन तीनो संस्थाओ का कार्य जिससे अच्छी प्रकार चल सके उसी तरह व्यवहार करना हमारा कर्त्तव्य है। हम अनेक योग्य-अयोग्य संस्थाएं निर्माण करते हैं। परन्तु ये तीन संस्थाएं हमारी बनाई हुई नही है। ये तो स्वभावतः ही हमको मिल गई हैं। ये संस्थाएं कृत्रिम नही हैं। अतः इन तीन संस्थाओ की हानि

यज्ञ, दान और तप इन साधनों से पूरी करना हमारा स्वभाव-प्राप्त धर्म है। अगर हम इस तरह से चले तो जो कुछ शक्ति हमारे अन्दर है वह सारी इसमें लग जायगी। अन्य बातों के लिए और शक्ति बाकी ही नहीं बचेगी। सृष्टि, समाज और शरीर इन तीनों संस्थाओं को समुचित रखने के लिए हमे अपनी सारी शक्ति खर्च करनी पडेगी। यदि कबीर की तरह हम भी कह सकें कि "हे प्रभो, तूने मुझे जैसी चादर दी थी वैसी ही मैं लौटा कर जा रहा हूं, तू इसे अच्छी तरह संभाल कर देख ले" तो वह कितनी बड़ी सफलता है! परन्तु ऐसी सफलता प्राप्त करने के लिए यज्ञ, दान व तप यह त्रिविध कार्यक्रम व्यवहार में पूरा करना चाहिए।

यज्ञ, दान और तप को हमने यहां अलग अलग माना है। परन्तु सच पूछा जाय तो इनमे भेद नही है। क्योंकि सृष्टि, समाज और शरीर ये बिलकुल भिन्न-भिन्न सस्थाएं हैं ही नहीं। यह समाज सृष्टि से बाहर नही है, न यह शरीर ही सृष्टि से बाहर है। इन तीनो को मिलकर एक ही भव्य सृष्टि-संस्था बनती है। इसलिए हम जो उत्पादक श्रम करेंगे, जो दान देंगे, जो तप करेंगे उस सबको व्यापक अर्थ में यज्ञ ही कह सकते हैं। गीता ने चौथे अध्याय मे द्रव्य-यज्ञ, तपो-यज्ञ आदि यज्ञ बताये है। इनमें गीता ने यज्ञ के अर्थ को विशाल बना दिया है।

इन तीनों संस्थाओं के लिए हम जो जो सेवा-कार्य करेंगे वे यज्ञ-रूप ही होंगे। सिर्फ जरूरत है उस सेवा को निरपेक्ष रखने की। उसमें फल की अपेक्षा तो की ही नही जा सकती; क्योंकि फल तो हम पहले ही ले चुके हैं। कर्जा तो पहले से ही सिर पर चला आ रहा है। जो ले लिया है उसे ही वापस करना है। यज्ञ से सृष्टि-संस्था में साम्यावस्था प्राप्त होती है। दान से समाज को साम्यावस्था प्राप्त होती है और तप से शरीर में साम्यावस्था रहती है। इस तरह तीनो ही संस्थाओं

मे साम्यावस्था रखने का यह कार्यक्रम है। इससे शुद्धि होगी। दूषित भाव नष्ट हो जायगा।

यह जो सेवा करनी है उसके लिए भोग भी ग्रहण करना पडेगा। भोग भी यज्ञ का ही एक अग है। इस भोग को गीता आहार कहती है। इस शरीर-रूपी यन्त्र को अन्न रूपी कोयला देने की जरूरत है। यद्यपि यह आहार स्वयं यज्ञ नही है तथापि यज्ञ सिद्ध करने का एक अंग जरूर है। हम कहा करते है—"उदर भरण जानो है नहीं यज्ञ-कर्म।" बगीचे से फूल लाकर देवता के सिर पर चढाना ही पूजा है। परन्तु फूल उत्पन्न करने के लिए, बगीचे में जो मेहनत की जाती है वह भी पूजा ही है। शरीर तभी हमारे काम मे आ सकेगा जब हम उसे आहार देगे। यज्ञ को पूरा करने के लिए जो कुछ क्रिया की जाती है वह एक प्रकार की पूजा ही है। गीता इन कर्मों को 'तदर्थीय कर्म' 'यज्ञार्थ-कर्म' कहती है। सेवार्थ योग्य रखने के लिए इस शरीर में मै जो कुछ डालूंगा वह भी यज्ञ-रूप ही है। सेवा के लिए ग्रहण किया हुआ आहार पवित्र है।

इन सब बातो के मूल में फिर श्रद्धा की जरूरत है। सारी सेवा को ईश्वरार्पण करने का भाव मन मे होना चाहिए। यह बहुत महत्त्व की बात है। ईश्वरार्पण-बुद्धि सेवामयता के बिना नही आ सकती। इस प्रधान वस्तु, ईश्वरार्पणता, को भुला देने से काम नही चलेगा।

(३)

परन्तु हम अपनी सब क्रिया ईश्वर को कब अर्पण कर सकेंगे? तभी जब कि वह सात्त्विक होगी। जब हमारे सब कर्म सात्त्विक होगे तभी हम उन्हे ईश्वरार्पण कर सकेगे। यज्ञ, दान और तप सब सात्त्विक होने चाहिए। क्रियाओं को सात्त्विक कैसे बनाना चाहिए, यह हमने चौदहवें अध्याय मे देख लिया है। इस अध्याय मे गीता उस तत्त्व का विनि-योग बता रही है।

सात्त्विकता की यह योजना करने मे गीता का उद्देश्य दुहेरा है।

एक तो यह कि बाहर से यज्ञ, दान व तप-रूप जो मेरी सेवा चल रही है उसी को भीतर से आध्यात्मिक साधना का नाम दिया जा सके। सृष्टि की सेवा और साधना के भिन्न-भिन्न कार्यक्रम नहीं होने चाहिए। सेवा और साधना ये दो भिन्न बातें बिलकुल है ही नहीं। दोनों के लिए एक ही प्रयत्न, एक ही कर्म। इस प्रकार जो कर्म किया जाय उसे भी अन्त में ईश्वरार्पण ही करना है। समाज-सेवा, अधिक साधना और अधिक ईश्वरार्पणता यह योग एक ही क्रिया से सिद्ध होना चाहिए।

यज्ञ को सात्त्विक बनाने के लिए दो बातों की आवश्यकता है। निष्फलता और सकामता का अभाव। ये दो बाते यज्ञ मे होनी चाहिए। यदि सकामता हुई तो वह राजस हो जायगा और यदि निष्फलता हुई तो वह तामस यज्ञ हो जायगा।

सूत कातना यज्ञ है परन्तु यदि सूत कातते हुए हमने उसमे अपनी आत्मा नहीं उंडेली, हमारे चित्त की एकाग्रता नहीं हुई तो वह सूत्र-यज्ञ जड हो जायगा। यदि बाहर से हाथ काम कर रहे है और अन्दर से मन का मेल—मनोयोग—नहीं है तो वह सारी क्रिया विधि-हीन हो जायगी। विधि-हीन कर्म जड होते हैं। विधि-हीन क्रिया में तमोगुण आ जाता है। वह क्रिया उत्कृष्ट वस्तु का निर्माण नहीं कर सकती। उसमे से फल की निष्पत्ति नहीं होगी। यदि यज्ञ मे सकामता न हो तो भी उससे उत्कृष्ट फल मिलना चाहिए। यदि कर्म मन लगाकर न हुआ, अन्तःकरण से न हुआ तो कर्म एक बोझ होगा। फिर उससे उत्कृष्ट फल कहां? यदि बाहर से काम बिगड़ा तो यह निश्चित समझो कि अन्दर मन का योग नही है। अतः कर्म मे अपनी आत्मा उडेलो। आन्तरिक सहयोग रखो। सृष्टि-संस्था का ऋण चुकाने के लिए हमें उत्कृष्ट फलोत्पत्ति करनी चाहिए। कर्मों में फल-हीनता न आने पाए, इसीलिए आन्तरिक मेल—यह विधि-युक्तता होनी आवश्यक है।

इस प्रकार जब हमारे अन्दर निष्कामता आ जायगी और विधि-पूर्वक सफल कर्म होगा तभी हमारी चित्त-शुद्धि होने लगेगी। तो अब चित्त-शुद्धि की कसौटी क्या है? बाहरी काम की जांच करके देखो, यदि वह निर्मल और सुन्दर न हो तो चित्त को भी मलिन समझ लेने में कोई बाधा नहीं। भला, कर्म मे सुन्दरता कैसे आती है? शुद्ध चित्त से परिश्रम के साथ किये हुए कर्म पर ईश्वर अपनी पसन्दगी की, अपनी प्रसन्नता की मुहर लगा देता है। जब प्रसन्न परमेश्वर कर्म की पीठ पर प्रेम की थपकी लगाता है तो वहां सौंदर्य उत्पन्न हो जाता है। सौंदर्य क्या है? पवित्र श्रम को मिला परमेश्वरी प्रसाद है। कोई शिल्पकार जब मूर्ति बनाते समय तन्मय हो जाता है तो उसे ऐसा अनुभव होने लगता है कि यह सुन्दर-मूर्ति मेरे हाथो से नही बनी। मूर्ति का आकार घडते-घडते अन्तिम क्षण मे न जाने कहां से उसमें अपने-आप सौदर्य आ जाता है। क्या चित्त-शुद्धि के बिना यह ईश्वरी कला प्रकट हो सकती है? मूर्ति मे जो कुछ स्वारस्य—माधुर्य है वह यही कि उसने अपने अन्त करण का सारा सौदर्य उसमे उंडेल दिया है। मूर्ति क्या है? वह तो हमारे चित्त की प्रतिमा ही है। हमारे समस्त कर्म क्या है? हमारे मन की मूर्तियां। अगर मन सुन्दर है तो वह कर्ममय मूर्ति भी सुन्दर होगी। बाहर के कर्मों की शुद्धि मन की शुद्धि से और मन की शुद्धि बाहर के कर्मो से जांच लेनी चाहिए।

एक बात और कहना रह गई। वह यह कि इन सब कर्मों में मन्त्र की भी आवश्यकता है। मन्त्र-हीन कर्म व्यर्थ है। सूत कातते समय यह मन्त्र अपने हृदय मे रखो कि मैं इस सूत से गरीब जनता के साथ जोडा जा रहा हूँ। यदि यह मन्त्र हृदय में न हो और घंटों क्रिया की तो भी वह सब व्यर्थ जायगी। उस क्रिया से चित्त शुद्ध नहीं होगा। उस कपास की पोनी में से अव्यक्त परमात्मा सूत्र रूप में प्रकट हो रहा है—ऐसा मन्त्र अपनी क्रिया मे डालकर फिर उस क्रिया की तरफ देखो। वह क्रिया अति सुन्दर व सात्त्विक हो जायगी। वह क्रिया

पूजा बन जायगी, यज्ञ-रूप सेवा हो जायगी। उस छोटे-से धागे द्वारा हम समाज के साथ, जनता के साथ, जगदीश्वर के साथ बँध जायंगे। बालकृष्ण के छोटे से मुंह मे यशोदा मां को सारा विश्व दिखाई दिया। अपने उस मन्त्रमय सूत्र के धागे मे ही तुमको विशाल विश्व दिखाई देने लगेगा।

(४)

ऐसी सेवा के लिए आहार-शुद्धि भी आवश्यक है। जैसा आहार वैसा ही मन। आहार परिमित होना चाहिए। आहार कौनसा हो इसकी अपेक्षा यह बात अधिक महत्त्व की है कि वह कितना हो। ऐसा नहीं है कि आहार का चुनाव महत्त्व की बात नही है। लेकिन हम जो आहार लेते हैं वह उचित मात्रा मे है या नहीं यह उससे भी अधिक महत्त्व की बात है। हम जो कुछ खाते है उसका परिणाम अवश्य होगा। हम खाते क्यो है ? इसीलिए कि उत्कृष्ट सेवा हो। आहार भी एक यज्ञाग ही है। सेवा-रूपी यज्ञ को फलदायी बनाने के लिए आहार की जरूरत है। इस भावना से आहार की तरफ देखो। आहार शुद्ध और स्वच्छ होना चाहिए। एक व्यक्ति अपने जीवन मे कितनी आहार-शुद्धि कर सकता है ? इसकी कोई मर्यादा नही। परन्तु हमारे समाज ने आहार-शुद्धि के लिए काफी तपस्या की है। आहार-शुद्धि के लिए हिन्दुस्तान मे विशाल प्रयत्न हुए हैं। उन प्रयोगो मे हजारों वर्ष बीते। उनमे कितनी तपस्या खर्च हुई यह नही कहा जा सकता। इस भूमण्डल पर हिन्दुस्तान ही एक ऐसा देश है जहां एक नहीं अनेक जातियां अमांसभोजी हैं। जो जातियां मांसभोजी हैं उनके भी भोजन में मांस मुख्य और नित्य वस्तु नहीं है और जो मांस खाते है वे भी उसमें कुछ तुच्छता अनुभव करते है। मन से तो वे भी मांस का त्याग कर चुके है। मासाहार की प्रवृत्ति को रोकने के लिए यज्ञ प्रचलित हुआ। और इसी के लिए वह बन्द भी हो गया। श्रीकृष्ण भगवान ने तो यज्ञ की व्याख्या ही बदल दी। श्रीकृष्ण ने दूध की महिमा बढ़ाई। श्रीकृष्ण

ने असाधारण बाते कुछ कम नही की है, परन्तु हिन्दू जनता किस कृष्ण के पीछे दीवानी हुई थी ? हिन्दू जनता को तो गोपाल कृष्ण ही प्रिय है। गायो की सेवा करने वाला, सब आबाल-वृद्धो का परिचित श्रीकृष्ण तो वही है, जिसके पास गाये बैठी हुई हैं जिसके अधरो पर मुरली रखी हुई है। इस प्रकार गोरक्षण का बडा उपयोग मांसाहार बन्द करने मे हुआ। गाय के दूध की महिमा बढी और मांसाहार बन्द हुआ।

फिर भी सम्पूर्ण आहार-शुद्धि हो गई हो सो बात नहीं। हमे अब उस सिलसिले को आगे बढाना है। बंगाली लोग मछली खाते है, यह देखकर कितने लोगों को आश्चर्य होता है। किन्तु इसके लिए उनको बुरा कहना ठीक न होगा। बंगाल मे सिर्फ चावल होता है। उससे शरीर का सब तरह पोषण नही हो सकता। इसके लिए प्रयोग करने से ही लोगो मे इस बात का विचार शुरू होगा कि मछली की ऐवज में कौनसी वनस्पति खाये जिसमे मछली के बराबर ही पौष्टिक तत्व मिल जांय। इसके लिए असाधारण त्यागी पुरुष पैदा हो तब जाकर ऐसे प्रयोग होगे। ऐसे व्यक्ति ही समाज को आगे ले जा सकते है। सूर्य जलता रहता है, तब जाकर कही जीवित रहने योग्य ९८° उष्णता हमारे शरीर मे रहती है। जब समाज मे वैराग्य के ऐसे प्रज्व-लित सूर्य उत्पन्न होते है और जब वे बडी श्रद्धा-पूर्वक परिस्थितियों के बन्धन तोडकर बिना पंखो से अपने ध्येयाकाश मे उडने लगते हैं तब कही थोडे से संसारोपयोगी वैराग्य का हममे संचार होता है। मांसा-हार बन्द करने के लिए ऋषियो को कितनी तपस्या करनी पडी होगी ? कितने प्रण अर्पण करने पडे होगे ?

सारांश यह कि आज हमारी सामुदायिक आहार-शुद्धि इतनी हुई है। अनन्त त्याग करके हमारे पूर्वजो ने जो कमाई की है उसे तुम गंवाओ मत ! हिन्दू-संस्कृति की इस विशेषता को डुबाओ मत ! हम को येन-केन प्रकारेण जीवित नही रहना है। जिसको किसी-न-किसी

तरह जीवित रहना है उसका काम बडा सरल है। पशु भी किसी-न-किसी तरह जी ही लेते है। तब क्या जैसे पशु वैसे ही हम? पशु में और हममें अन्तर है। उस अन्तर को बढाना ही संस्कृति-वर्धन कहा जाता है। अपने राष्ट्र ने मांसाहार-त्याग का बहुत बडा प्रयोग किया। उसे और आगे ले जाओ। नही तो कम-से-कम जिस मंजिल तक हम पहुंच चुके है उससे पीछे तो मत हटो।

इसके उल्लेख करने का कारण यह है कि आज कल कितने ही लोगो को मांसाहार की इष्टता व आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। आज पूर्वी व पश्चिमी सभ्यता का एक दूसरे पर प्रभाव पड रहा है। मेरा विश्वास है कि अन्त मे इसका परिणाम अच्छा ही होगा। पाश्चात्य संस्कृति के कारण हमारी जड श्रद्धा हिलती जा रही है। यदि अन्ध श्रद्धा डिग गई तो कुछ हानि नहीं है। जो अच्छा होगा वह टिक जायगा और बुरा नष्ट हो जायगा। अन्ध श्रद्धा जाने पर उसके स्थान में अन्ध अश्रद्धा अलबत्ता उत्पन्न न होनी चाहिए। यह नहीं कि केवल श्रद्धा ही अन्धी होती हो। केवल श्रद्धा ने ही अन्ध विशेषण का ठेका नहीं लिया है। अश्रद्धा भी अन्धी हो सकती है।

मांसाहार के बारे मे आज फिर से विचार होना शुरू हो गया है। कुछ भी हो मुझे तो जब कोई नवीन विचार सामने आता है तो बडा आनन्द होता है। उससे निदान ऐसा अनुभव जरूर होता है कि लोग जग रहे हैं और धक्के दे रहे हैं। जागृति के लक्षण देखकर मुझे अच्छा लगता है। लेकिन यदि जग कर आंखें मलते हुए वैसे ही चल पड़ेंगे तो गिर पडने की आशंका रहती है। अतः जब तक पूरे-पूरे न जग जायें अच्छी तरह आंख खुलकर दिखने न लगे तब तक हाथ पैरों को मर्यादा मे ही रखना अच्छा है। विचार खूब कीजिए; पक्ष-विपक्ष, उल्टे-सीधे सब तरफ से खूब सोचिए। धर्म पर भी विचार की कैंची चलाइए। इस विचार-रूपी कैंची से जो धर्म कहा जाय समझो कि वह तीन कौडी का था। इस तरह जो टुकड़े कट-छट जांय उन्हें जाने दो।

तुम्हारी कैंची से जो न कटे बल्कि जिससे उलटी तुम्हारी कैंची ही टूट जाय वही धर्म सच्चा है। धर्म को विचारों से डर नही। अतः विचार तो करो, परन्तु काम एकदम मत कर डालो। अधजगे रहकर यदि कुछ काम करोगे तो धडाम से गिर पडोगे। विचार बहुत जोर मार रहे हों तो भी अभी आचार को संभाल कर रखो। अपनी कृति पर संयम रखो। अपनी पहले की पुण्याई मत गवां बैठो।

(५)

आहार-शुद्धि से चित्त शुद्ध रहेगा। शरीर को भी बल मिलेगा। समाज-सेवा अच्छी तरह हो सकेगी। चित्त में संतोष रहेगा और समाज मे भी संतोष फैलेगा। जिस समाज मे यज्ञ-दान-तप-क्रिया-विधि और मन्त्र सहित होती रहती है उसमें विरोध दिखाई नही देगा। दो कांच यदि एक दूसरे के आमने सामने रखे हो तो जैसे इसमे का उसमे का उसमे और उसमे का इसमे दीखेगा, इसी तरह व्यक्ति व समाज में बिम्ब-प्रतिबिम्ब-न्याय से परस्पर संतोष प्रकट होगा। जो मेरा संतोष है वही समाज का और जो समाज का है वही मेरा। इन दोनों संतोषो की हम जांच कर सकेंगे और हम इस नतीजे पर पहुचेंगे कि दोनो एक-रूप हैं। चारों ओर अद्वैत का अनुभव होगा। द्वैत और द्रोह अस्त हो जायगे। ऐसी सुव्यवस्था जिस योजना के द्वारा हो सकती हैं उसी का प्रतिपादन गीता कर रही है। अगर अपना दैनिक कार्यक्रम हम गीता की योजना के अनुसार बनावें तो क्या बहार हो!

परन्तु आज व्यक्ति और समाज के जीवन में विरोध उत्पन्न हो गया है। यह विरोध किस प्रकार दूर हो सकता है, यही चर्चा सब दूर चल रही है। व्यक्ति और समाज की मर्यादा क्या है? व्यक्ति गौण है या समाज? इनमें श्रेष्ठ कौन है? कोई व्यक्तिवाद के समर्थक समाज को जड समझते है। सेनापति के सामने अगर कोई सिपाही आता है तो उससे बोलते समय वह सौम्य भाषा का उपयोग करता है। उसे 'आप' भी कहेगा। परन्तु सेना को तो वह वही हुक्म देगा जो उसके

मन मे ठीक लगेगा। मानो सैन्य अचेतन हो—लकड़ी का एक लट्ठा हो। उसे इधर से उधर हिलाते है और उधर से इधर। व्यक्ति चैतन्य मय है, समाज जड। देखो, ऐसा अनुभव यहां भी हो रहा है। मेरे सामने दो सौ तीन सौ आदमी है। परन्तु उन्हे रुचे या न रुचे, मै तो बोलता ही जा रहा हूं। मुझे जो विचार आता है वही कहता रहता हूं। मानो आप जड ही है। परन्तु अगर मेरे सामने कोई व्यक्ति आया तो मुझे उसकी बात सुननी पडेगी। और उसे विचार-पूर्वक उत्तर देना पड़ेगा। परन्तु यहां तो मैने आपको घटे-घटे भर यो ही बैठा रखा है। 'समाज जड़ है, और व्यक्ति चैतन्य'—ऐसा कह कर व्यक्ति-चैतन्यवाद का कोई-कोई प्रतिपादन करते है, और कोई समुदाय को महत्व देते हैं। मेरे बाल खिर गये। आखे चली गई। हाथ टूट गया और दांत गिर गये; इतना ही नही, एक फेफडा भी बेकार हो गया। परन्तु मैं फिर भी जीवित रहता हूं। क्योकि पृथक् रूप से एक-एक अवयव जड है। किसी एक के नाश से सारे देह का नाश नही हो जाता। सामुदायिक-शरीर चलता ही रहता है इस प्रकार दो परस्पर-विरोधी विचार-धाराएं है; आप जिस दृष्टि से देखेगे वैसा ही अनुमान निकालेंगे। जिस रंग का चश्मा उसी रंग की सृष्टि।

कोई व्यक्ति को महत्त्व देता है,कोई समाज को। इसका कारण यह है कि समाज मे जीवन-कलह की कल्पना प्रसृत हो गई है। परन्तु क्या जीवन कलह के लिए है? इससे तो फिर हम मर क्यो नहीं जाते? कलह तो मरने के लिए है। इसी की बदौलत हम स्वार्थ और परमार्थ मे भेद डालते है। वह मनुष्य धन्य है जिसने पहले-पहल यह कल्पना की कि स्वार्थ और परमार्थ में अन्तर है। जो वस्तु वास्तव में है ही नहीं उसके अस्तित्व को आभासित करने की शक्ति जिसकी बुद्धि से थी उसका गौरव करने को जी चाहता है। कितना आश्चर्य है कि जो भेद नही है वह उसने खडा किया और उसे जनता को पढ़ाया भी। चीन की दीवार के जैसा ही यह आश्चर्य है। यह मानना वैसा

ही है जैसा कि क्षितिज की मर्यादा बनाना। और फिर यह मानना कि उसके पार कुछ नही है। इस सब का कारण है यज्ञमय जीवन का अभाव! इसी से आज व्यक्ति और समाज मे भेद उत्पन्न हो गया है।

परन्तु व्यक्ति और समाज में वास्तविक भेद नही किया जा सकता। किसी कमरे के दो भाग करने के लिए अगर कोई पर्दा लगाया जाय और पर्दा हवा से उडकर आगे-पीछे होने लगे तो कभी यह भाग बडा मालूम होता है और कभी वह। हवा की लहर पर उस कमरे के भाग अवलम्बित रहते हैं, वे स्थायी पक्के नही है। परन्तु गीता इन झगडो से परे है। क्योंकि ये काल्पनिक है। गीता तो कहती है कि अन्त शुद्धि का नियम पालो। फिर व्यक्ति और समाज के हितो मे कोई विरोध उत्पन्न नही होगा। एक-दूसरे के हित में बाधक नही होगा। इस बाधा को, इस विरोध को दूर करना ही गीता की विशेषता है। गीता के इस नियम पर अमल करने वाला अगर एक भी आदमी मिल जाय तो अकेले उसीसे सारा राष्ट्र सम्पन्न हो जायगा। राष्ट्र है राष्ट्र के व्यक्ति। जिस राष्ट्र में ऐसे ज्ञान और आचार-सपन्न व्यक्ति नही है उसे राष्ट्र कैसे मानेगे? हिन्दुस्तान क्या है? हिन्दुस्तान रविन्द्रनाथ है, हिन्दुस्तान गाधी है या इसी तरह के पाच-दस नाम। बाहर का संसार हिंदुस्तान की कल्पना इन्ही पाच-दस व्यक्तियो पर से करता है। प्राचीन काल के दो-चार, मध्यकाल के ४-५ और आज के ८-१० व्यक्ति ले लीजिए और उनमे हिमालय, गंगा आदि को मिला दीजिए। बस हो गया हिन्दुस्तान। यही है हिन्दुस्तान की व्याख्या। बाकी सब है इस व्याख्या का भाष्य! भाष्य यानी सूत्रो का विस्तार। दूध का दही और दही का छाछ-मक्खन! झगडा दूध-दही, छाछ-मक्खन का नही है। दूध का कस निकालने मे मक्खन कितना है यह देखा जाता है। इसी प्रकार समाज का कस उसके व्यक्तियों पर से निकाला जाता है। व्यक्ति और समाज मे कोई विरोध नही है। विरोध हो भी कैसे सकता है? व्यक्ति-व्यक्ति मे भी विरोध न होना चाहिए। यदि एक व्यक्ति से दूसरा व्यक्ति

अधिक सम्पन्न हो जाय तो इससे क्या हानि हुई ? हां, कोई भी विपन्न अवस्था में न होना चाहिए। और सम्पत्ति वालो की सम्पत्ति समाज के काम आती रहे, बस। मेरी दाहिनी जेब मे पैसे है तो क्या और बाईं जेब मे है तो क्या ! दोनो जेब आखिर है तो मेरी ही ! अगर कोई व्यक्ति सम्पन्न हुआ तो उसमे मै सम्पन्न होता हूं, राष्ट्र सम्पन्न होता है, ऐसी वृत्ति बननी व युक्ति सधनी चाहिए।

परन्तु हम भेद खडे करते हैं। अगर धड़ और सिर अलग-अलग हो जायंगे तो दोनो ही मर जायँगे। अतः व्यक्ति और समाज मे भेद मत करो। और गीता यही सिखाती है कि एक ही क्रिया स्वार्थ और परमार्थ को किस प्रकार अविरोधी बना दती है। मेरे इस कमरे की हवा मे और बाहर की अनन्त हवा मे कोई विरोध नही है। यदि मै इनमें विरोध की कोई कल्पना करके कमरा बन्द कर लूंगा तो दम घुट कर मर जाऊँगा। अविरोध की कल्पना करके मुझे कमरा खोलने दो तो वह अनन्त हवा अन्दर आ जायगी। जिस क्षण मै अपनी जमीन और अपना घर का टुकडा औरो से अलग करता हूं उसी क्षण मैं अनन्त सम्पत्ति से वंचित होजाता हूं। अगर मेरा वह छोटा-सा घर जल गया, गिर गया तो मै ऐसा समझ कर कि मेरा सर्वस्व चला गया रोने-पीटने लग जाता हूं। परन्तु ऐसा क्यो करना चाहिए ? क्यो रोना-पीटना चाहिए ? पहले तो संकुचित कल्पना करे और फिर रोयें ! ये ५००) मेरे हैं। ऐसा कहा कि सृष्टि की अपार सम्पत्ति से मैं दूर हुआ। ये दो भाई मेरे है ऐसा समझा कि ससार के असंख्य भाई मुझसे दूर होगये। पर हमें इसका खयाल नही रहता। ओफ, मनुष्य अपने को कितना संकुचित बना लेता है ! वास्तव मे तो मनुष्य का स्वार्थ ही परमार्थ होना चाहिए। गीता ऐसा ही सरल सुन्दर मार्ग दिखा रही है, जिससे व्यक्ति और समाज मे अच्छा सहयोग हो। जीभ और पेट मे क्या विरोध है ? पेट को जितना अन्न चाहिए उतना ही जबान को देना चाहिए। पेट ने 'बस' कहा कि जीभ को चबाना बन्द करना चाहिए।

पेट एक संस्था है, जीभ दूसरी संस्था। मैं इन संस्थाओ का सम्राट् हूं। इन सब सस्थाओ मे अद्वैत ही है। कहां से ले आये यह व्यर्थ का विरोध ? जिस प्रकार एक ही देह की इन संस्थाओं मे वास्तविक विरोध नही है बल्कि सहयोग है उसी प्रकार समाज में भी है। समाज मे इस सहयोग को बढाने के लिए ही गीता चित्त-शुद्धि-पूर्वक यज्ञ-दान-तप-क्रिया का विधान बताती है। ऐसे कर्मों से व्यक्ति और समाज दोनो का कल्याण होगा।

जिसका यज्ञमय जीवन है वह सब का होजाता है। प्रत्येक पुत्र को ऐसा मालूम होता है कि मा का प्रेम मेरे ही ऊपर है। उसी प्रकार यह व्यक्ति सबको अपना मालूम होता है। सारी दुनिया को वह प्रिय व अपनाने योग्य लगता है। सभी को ऐसा मालूम होता है कि वह हमारा प्राण है मित्र है, सखा है। इसके लिए

ऐसा पुरुष तो है धन्य लोग-चाहे उसे अनन्य,

ऐसा समर्थ रामदास ने कहा है। और ऐसी ही जीवन बनाने की तरकीब गीता ने बताई है।

(६)

गीता का यह और कहना है कि जीवन को यज्ञमय बना कर फिर उस सबको ईश्वरार्पण कर देना चाहिए। जीवन के सेवामय होजाने पर फिर और ईश्वरार्पणता किसलिए ? हम यह आसानी से कह तो गये कि सारा जीवन सेवामय कर दिया जाय, परन्तु यह करना बहुत कठिन है। अनेक जन्मो मे जाकर यह थोडा-बहुत सध सकता है। फिर भले ही सारे कर्म सेवामय, अक्षरश: सेवामय, होजाय तो भी उससे ऐसा नहीं कह सकते कि वे पूजामय होगये। इसलिए 'ॐ तत्सत्' इस मन्त्र के साथ सारे कर्म ईश्वरार्पण करने चाहिए।

सेवा कर्म वैसे सोलहो आना सेवामय होना कठिन है। क्योंकि परमार्थ मे भी स्वार्थ आ ही जाता है। केवल परार्थ संभव ही नहीं है। ऐसा कोई काम नही हो सकता जिसमे मेरा स्वार्थ लेशमात्र भी न हो

दिन-प्रतिदिन अधिक निष्काम और अधिक निःस्वार्थ सेवा हाथों से हो, ऐसी इच्छा रखना चाहिए। यदि यह चाहते हो कि सेवा उत्तरोत्तर अधिक शुद्ध हो तो सारी क्रियाएं ईश्वरार्पण करो। ज्ञानदेव ने कहा है—

"जीवन-कला साधते योगी, वैष्णव को है नाम मधुर।"

नामामृत की मधुरता और जीवन-कला अलग-अलग नहीं है। नाम का आन्तरिक घोष और बाह्य-जीवन-कला दोनो का मेल है। योगी वैष्णव एक ही है। परमेश्वर को क्रिया अर्पण करदेने पर स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ सब एकरूप होजाते हैं। पहले तो जो 'तुम' और 'मैं' अलग-अलग हैं उन्हें एक करना चाहिए। 'तुम' और 'मैं' मिलने से हम हो गये। अब हम और वह को एक कर डालना है। पहले मुझे इस सृष्टि से मेल साधना है और फिर परमात्मा से। इस 'ओम् तत्सत्' मन्त्र मे यही भाव सूचित किया गया है।

परमात्मा के अनन्त नाम है। व्यासजी ने तो उन नामों का 'विष्णु सहस्र नाम' बना दिया है। जो-जो नाम हम कल्पित करलें वे सब उसके हैं। जो नाम हमारे मन मे स्फुरित होते है उसी अर्थ मे वे हमे सृष्टि में दिखाई दे और तदनुरूप हमारा जीवन बने। परमेश्वर के जो नाम मन मे आते है उन्ही को सृष्टि मे देखे और उन्हीं के अनुसार अपने-आपको बनावें। इसको मै त्रिपदा गायत्री कहता हूं। उदाहरण के लिए ईश्वर का दयामय नाम ले लीजिए। ऐसा मानकर चलिए कि वह रहीम है। अब उसी दया-सागर परमेश्वर को इस सृष्टि में आंखें खोलकर देखें और अपना जीवन दयामय बनावे। भगवद्गीता-काल में भगवान् का जो नाम प्रचलित था वही भगवद्गीता ने बताया है। वह है—'ॐ तत्सत्'। ॐ का अर्थ है परमात्मा। इस बीसवीं शताब्दि में भी परमात्मा है।

"स एव अद्य स उ श्वः"

वही आज है वही कल था और वही कल होगा। वह कायम है

तो सृष्टि कायम है। और कमर कसकर मैं भी साधना करने के लिए तैयार हूं। मैं साधक हूँ, वह भगवान है। और यह सृष्टि पूजा-द्रव्य—पूजा-साधन है। जब ऐसी भावना से हमारा हृदय भर जाय तभी कहा जा सकेगा कि 'ॐ' हमारे गले उतर गया। वह है, मै हूं और मेरी साधना भी है।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतप क्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ता. सततं ब्रह्मवादिनाम्॥

ऐसा यह ओंकार भाव मन मे बस जाना चाहिए और साधना में प्रकट होना चाहिए। सूर्य को जब कभी देखिए वह किरणो सहित दिखाई देगा। किरणों को दूर रखकर वह कभी रह ही नहीं सकता। वह किरणो को नहीं भुलाता। इसी प्रकार कोई किसी भी समय क्यों न देखें, साधना हमारे पास दिखाई देनी चाहिए। जब ऐसा हो जायगा तभी यह कहा जा सकेगा कि 'ॐ' को हमने आत्मसात् कर लिया।

इसके बाद है 'सत्'। परमेश्वर सत् है। अर्थात् शुभ है, मंगल है। इस भावना से अभिभूत होकर भगवान के मांगल्य को सृष्टि मे अनुभव करो। देखो तो वह पानी की तरह पतला है। पानी मे से एक घडा भरलो। उससे जो गड्ढा पडा वह क्षण भर में ही भर जायगा। यह कितना मागल्य है! यह कितनी प्रीति है! नदी गड्ढों को सहन नहीं करती। गड्ढो को भरने के लिए दौडती है।

'नदी वेगेन शुद्धयति'

सृष्टि-रूपी नदी वेग के कारण शुद्ध हो रही है। यावत् सृष्टि सब शुभ और मंगल है।

अपने कर्म को भी ऐसा ही होने दो। परमेश्वर के इस सत् नाम को आत्मसात् करने के लिए सारी क्रियाएं निर्मल और भक्तिमय होनी चाहिए। सोमरस जिस तरह पवित्रता से छाना जाता है उसी तरह अपने सब कर्मों और साधनो को नित्य परीक्षण करके निर्दोष बनाना चाहिए।

अब रहा 'तत्'। तत् का अर्थ है वह—कुछ न कुछ भिन्न, इस सृष्टि से अलिप्त। परमात्मा इस सृष्टि से भिन्न है अर्थात् अलिप्त है। सूर्योदय हुआ कि कमल खिलने लगते है। पची उडने लगते हैं और अन्धकार नष्ट हो जाता है। परन्तु सूर्य तो दूर ही रहता है। इन सब परिणामो से वह बिलकुल भिन्न—अलिप्त रहता है। जब अपने कर्मों में अनासक्ति रखेगे, अलिप्तता आ जायगी, तब समझिए कि हमारे जीवन मे 'तत्' प्रविष्ट हुआ।

इस प्रकार गीता ने यह 'ॐ तत्सत्' वैदिक नाम लेकर अपनी सब क्रियाओ को ईश्वरार्पण करने का मार्ग बताया है। पिछले नवें अध्याय मे सब कर्मों को ईश्वरार्पण करने का वर्णन आया है। "यत्करोषि-यदश्नासि—" इस श्लोक मे यही कहा गया है। वही बात सत्रहवें अध्याय मे बताई गई है। परमेश्वरार्पण करने की क्रिया सात्त्विक होनी चाहिए। तभी वह परमेश्वरार्पण की जा सकेगी। यही बात यहां विशेष-रूप से बताई गई है।

यह सब ठीक है; किन्तु यहां एक प्रश्न उठता है। कि यह 'ॐ तत्सत्' नाम पवित्र पुरुष को ही हजम हो सकता है। पापी पुरुष इसे कैसे पचावेगा ? पापियो के मुंह मे भी सुशोभित होने योग्य कोई नाम है या नही ? इस 'ॐ तत्सत्' नाम मे वही शक्ति है। ईश्वर के किसी भी नाम मे असत्य से सत्य की ओर ले जाने की शक्ति रहती है। वह पाप की ओर से निष्पापता की ओर ले जा सकता है। जीवन की शुद्धि धीरे-धीरे करनी चाहिए। परमात्मा अवश्य सहायता करेगा। जब तुम्हारी कमजोरी के अवसर आएंगे तो वह तुम्हे सहारा देगा।

यदि कोई मुझसे कहे कि एक ओर पुण्यमय किन्तु अहंकारी जीवन और दूसरी ओर पापमय किन्तु नम्र जीवन में से किसी एक को पसन्द करो तो यदि मैं मुंह से न भी बोल सकूं तो अन्त.करण से कहूंगा कि जिस पाप से मुझे परमेश्वर का स्मरण रहता है वही मुझे मिलने दो। मेरा मन यही कहेगा कि अगर पुण्यमय जीवन मे परमा-

त्मा की विस्मृति हो जाती है तो जिस पापमय जीवन से उसकी याद आती है मैं उसी को प्राप्त करूंगा। इसका यह अर्थ नही कि मैं पापमय जीवन का समर्थन कर रहा हूँ। परन्तु पाप उतना पाप नहीं है जितना कि पुण्य का अहंकार पाप-रूप है।

"कही ये सुजानपन, रोक न दे नारायण ?

ऐसा तुकाराम ने कहा है। उस बड़प्पन की जरूरत नही है। उसकी अपेक्षा तो पापी दु:खी होना ही अच्छा है।

"ज्ञानी जो है बच्चे, उन्हे मां भी दूर रखे"

परन्तु अज्ञान बालकों को मा अपनी गोद मे उठा लेगी। मैं स्वावलम्बी पुण्यवान होना नही चाहता। परमेश्वरावलम्बी पापी होना ही मुझे प्रिय है। परमात्मा की पवित्रता मेरे पाप को समाकर भी बचने जैसी है। हम पापो को रोकने का प्रयत्न करे। यदि वे नही रुकें तो हृदय रोने लगेगा। मन छटपटाने लगेगा। तब ईश्वर की याद आयेगी। वह तो खडा-खडा खेल देख रहा है। पुकार करो—मैं पापी हूं। इसलिए तेरे द्वारे आया हूं। पुण्यवान को ईश्वर-स्मरण का अधिकार है; क्योंकि वह पुण्यवान है और पापी को ईश्वर स्मरण का अधिकार है; क्योंकि वह पापी है।

अठारहवां अध्याय

रविवार, १६-६-३२

(१)

मेरे भाइयो, आज ईश्वर की कृपा से हम अठारहवें अध्याय तक आ पहुंचे हैं। प्रतिक्षण बदलने वाले इस विश्व मे किसी भी संकल्प का पूर्ण हो जाना परमेश्वर की इच्छा पर ही निर्भर है। फिर जेल में तो कदम-कदम पर अनिश्चितता है। यहां काम शुरू करने पर फिर यही पूरा हो जाने की आशा करना कठिन है। शुरू करते समय यह उम्मीद जरा भी नही थी कि हमारी यह गीता यहां पूरी हो सकेगी। लेकिन ईश्वर इच्छा से हम समाप्ति तक आ पहुंचे है।

चौदहवें अध्याय मे हमने जीवन के अथवा कर्म के सात्विक, राजस, तामस तीन भेद किये। इन तीनो मे से राजस व तामस का त्याग करके सात्विक को ग्रहण करना है, यह भी हमने देखा। उसके बाद सत्रहवें अध्याय मे यही बात दूसरे ढंग से कही गई है। यज्ञ, दान व तप या एक ही शब्द मे कहे तो 'यज्ञ' ही जीवन का सार है। सत्रहवें अध्याय मे हमने ऐसी ध्वनि सुनी कि यज्ञोपयोगी जो आहारादि कर्म है उन्हें सात्त्विक व यज्ञ-रूप बनाकर के ही ग्रहण करे। केवल उन्ही कर्मों का करना अंगीकार करें जो यज्ञ-रूप और सात्विक हैं, शेष कर्मों का त्याग ही उचित है। हमने यह भी देखा कि 'ॐ तत्सत्' इस मंत्र को क्यों हर समय याद रखना चाहिए। ॐ का अर्थ है सातत्य। 'तत्' का अर्थ है अलिप्तता और 'सत्' का अर्थ है सात्विकता। हमारी साधना में सातत्य, अलिप्तता और सात्विकता होनी चाहिए। तभी वह परमेश्वर

को अर्पण की जा सकेगी। इन सब बातो से यह सिद्ध होता है कि कुछ कर्म तो हमें करने है और कुछ का त्याग करना है। गीता की शिक्षा पर हम ध्यान देगे तो उसका जगह-जगह यही बोध मिलता है कि कर्म का त्याग न करो। वह तो कर्म-फल के त्याग का विधान करती है। गीता मे सब जगह यही शिक्षा दी गई है कि कर्म तो सतत करो, परन्तु फल का त्याग करते हो। लेकिन यह एक पहलू हुआ। दूसरा पहलू यह मालूम पडता है कि कुछ कर्म किये जायँ और कुछ का त्याग किया जाय इसलिए अन्त को अठारहवे अध्याय के शुरू मे अर्जुन ने पूछा—"एक पक्ष तो यह कि कर्म फलत्याग-पूर्वक करो और दूसरा यह कि कुछ कर्म तो बिलकुल त्याज्य है और कुछ करने योग्य है। इन दोनो मे मेल कैसे बिठाया जाय?" जीवन की दिशा स्पष्ट जानने के लिए यह प्रश्न पूछा गया। फल-त्याग का मर्म समझने के लिए यह प्रश्न है। जिसे शास्त्र-संन्यास कहते है उसमे कर्म स्वरूपत. छोडना पडता है। अर्थात् कर्म के स्वरूप का ही त्याग करना पडता है। तो प्रश्न यह है कि क्या गीता के फल-त्याग को प्रत्यक्ष कर्म-त्याग की आवश्यकता है? क्या फल त्याग की कसौटी पर संन्यास का कोई उपयोग सिद्ध होता है? संन्यास की मर्यादा कहां तक? संन्यास व फल-त्याग इन दोनो की मर्यादा कहां तक व कितनी? अर्जुन का यही सवाल है।

(२)

उत्तर मे भगवान ने एक बात स्पष्ट कह दी है कि फल-त्याग की कसौटी एक सार्वभौम वस्तु है। फल-त्याग का तत्त्व हर जगह लागू किया जा सकता है। सब कर्मों के फल का त्याग व राजस और तामस कर्मों का त्याग इन दोनो मे कही भी विरोध नहीं है। कुछ कर्मों का स्वरूप ही ऐसा होता है कि फल-त्याग की युक्ति का उपयोग करें तो वे कर्म अपने-आप ही विलीन या नष्ट हो जाते है। फल-त्याग-पूर्वक कर्म करने का तो यही अर्थ है कि कुछ कर्म छोडने ही चाहिए। फल-त्याग-

पूर्वक कर्म करने में कुछ कर्मों के प्रत्यक्ष त्याग का समावेश हो ही जाता है।

इस पर जरा गहराई से विचार करें। जो कर्म काम्य हैं, जिनके मूल में कामना है उन्हें फल-त्याग-पूर्वक करो—ऐसा कहते ही उनकी बुनियाद ढह जाती है। फल-त्याग के सामने काम्य और निषिद्ध कर्म खड़े ही नहीं रह सकते। फल-त्याग-पूर्वक कर्म करना कोई केवल कृत्रिम तांत्रिक व यांत्रिक क्रिया तो है नहीं। इस कसौटी के द्वारा यह अपने-आप मालूम हो जाता है कि कौन से कर्म किये जायं और कौन से नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि गीता सिर्फ यही बताती है कि फल-त्याग-पूर्वक कर्म करो; पर कौन-से कर्म करो यह नही बताती। ऐसा भासित तो होता है परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। क्योंकि फल-त्याग-पूर्वक कर्म करो, इतना कहने से ही यह पता चल जाता है कि कौन से कर्म करें और कौन से नही। हिंसात्मक कर्म, असत्यमय कर्म, चोरी जैसे कर्म फल-त्याग-पूर्वक किये ही नही जा सकते। फल-त्याग की कसौटी पर कसते ही ये कर्म हवा में उड़ जाते हैं। सूर्य की प्रभा फैलते ही सब चीजें उज्ज्वल दिखाई देने लगती हैं; पर अंधेरा भी क्या उज्ज्वल दिखाई देता है? वह तो नष्ट ही हो जाता है। ऐसी ही स्थति निषिद्ध व काम्य कर्मों की है। हमें तो सब कर्म फल-त्याग की कसौटी पर कस लेने चाहिएं। पहले यह देखना चाहिए कि जो कर्म मैं करना चाहता हूं वह अनासक्ति-पूर्वक, फल की लेशमात्र भी अपेक्षा न रखते हुए करना संभव है क्या? फल-त्याग ही कर्म करने की कसौटी है। इस कसौटी के अनुसार काम्य कर्म अपने-आप ही त्याज्य सिद्ध होते हैं। उनका तो संन्यास ही उचित है। अब बचे शुद्ध सात्विक कर्म। वे अनासक्ति-पूर्वक अहंकार छोड़ के करने चाहिए। काम्य कर्मों का त्याग भी तो एक कर्म ही हुआ। फल-त्याग की कैंची उस पर भी चलाओ। फिर काम्य कर्मों का त्याग भी सहज रूप से होना चाहिए।

इस तरह तीन बातें हमें दिखाई दीं। पहली तो यह कि प्रत्येक

कर्म हमें फलत्याग-पूर्वक करना चाहिए। दूसरी यह कि राजस, तामस निषिद्ध व काम्य कर्म फल-त्याग की कसौटी पर कसते ही अपने-आप क्षय हो जाते हैं। तीसरी यह कि इस तरह जो त्याग होगा उस पर भी फल-त्याग की कैंची चलाओ। मैंने इतना त्याग किया, ऐसा घमण्ड न होने देना चाहिए।

राजस व तामस कर्म त्याज्य क्यों? इसलिए कि वे शुद्ध नहीं हैं। शुद्ध न होने से कर्ता के चित्त पर उनके संस्कार हो जाते हैं। परन्तु अधिक विचार करने पर पता चलता है कि सात्विक कर्म भी सदोष होते हैं। जितने भी कर्म हैं उन सब मे कुछ-न-कुछ दोष है ही। खेती का स्वधर्म ही लो। यह एक शुद्ध सात्विक क्रिया है। लेकिन इस यज्ञ-मय स्वधर्म रूप खेती मे भी हिंसा तो होती ही है। हल जोतने आदि मे कितने ही जन्तु मरते हैं। कुए के पास कीचड न होने देने के लिए उसे पक्का बनाने मे भी कई जीव-जन्तु मरते है। सवेरे दर्वाजा खोलते ही सूर्य का प्रकाश घर मे प्रवेश करता है, उससे असंख्य जन्तु नष्ट हो जाते हैं। जिसे हम शुद्धि कहते है वह भी तो एक तरह की मारण-क्रिया ही हो रही है। मतलब यह कि जब सात्विक स्वधर्म-रूप कर्म भी सदोष हो जाता है तब करे क्या?

मैं पहले ही कह चुका हूं कि सब गुणो का विकास होना तो अभी बाकी है। ज्ञान, भक्ति, सेवा, अहिंसा, इनके बिन्दु-मात्र का ही अभी अनुभव हमें हुआ है। सारा का सारा अनुभव हो चुका है, ऐसी बात भी नहीं है। संसार अभी अनुभव करता जाता है और आगे बढ़ता जाता है। मध्य-युग मे एक ऐसी कल्पना चली कि खेती में हिंसा होती है इसलिए अहिंसक व्यक्ति उसे न करे। वह व्यापार करे। अन्न उपजाना पाप है; पर कहते थे कि बेचना पाप नही। लेकिन इस तरह यदि हम एक क्रिया को ही छोड देंगे तो उससे हमारा हित नहीं हो सकता। अगर मनुष्य इस तरह कर्म संकोच करता चला जाय तो अन्त में आत्मनाश ही हो रहेगा। फिर कर्म से छूटने का मनुष्य ज्यों-ज्यों

विचार करेंगा त्यों-त्यों कर्म का विस्तार अधिक होता जायगा। आपके उस धान्य के व्यापार के लिए क्या किसी को खेती न करनी पडेगी? तब क्या उस खेती से होने वाली हिसा के आप हिस्सेदार न होगे? अगर कपास उपजाना पाप है तो उस उपजे हुए कपास को बेचना भी पाप है। कपास पैदा करने में दोष है, इसलिए उस कर्म को ही छोड़ देना बुद्धि-दोष होगा। सब कर्मों का बहिष्कार करना; यह कर्म भी नही, वह कर्म भी नही, कुछ भी मत करो—इस दृष्टि मे कहना होगा, कि सच्चा दयाभाव शेष नहीं रहा, बल्कि मर गया। पत्ते नोचने से पेड नही मरता। वह तो उलटा पल्लवित होता है। अतः क्रिया का संकोच प्रकारान्तर से आत्म-संकोच ही है।

(३)

अब प्रश्न यह होता है कि यदि सभी क्रियाओ मे दोष है तो फिर सब को छोड ही क्यो न दे? इसका उत्तर पहले एक बार दिया जा चुका है। 'सब कर्मों का त्याग'—यह कल्पना अत्यन्त सुन्दर है। यह विचार मोहक है। पर ये असंख्य कर्म आखिर छोडें कैसे? राजस व तापस कर्मों के छोड़ने का जो तरीका है क्या वही सात्त्विक कर्मों के लिए उपयुक्त होगा? जो दोषमय सात्त्विक कर्म है उनसे कैसे बचें? और मजा यह है कि 'इन्द्राय तक्षकाय स्वाहा' की तरह जब मनुष्य करने लगता है तब अमर होने के कारण इन्द्र तो मरता ही नहीं; उसके साथ होने से तक्षक बलवान होकर न मरते हुए उलटा मजबूत हो बैठता है। सात्त्विक कर्मों मे पुण्य तो है पर थोडा पाप भी है। परन्तु थोडा दोष होने के कारण यदि उस दोष के साथ पुण्य की भी आहुति देना चाहोगे तो पवित्र होने के कारण पुण्य तो नष्ट नही होगा दोष जरूर बढते चले जायगे। ऐसे मिश्रित विवेकहीन त्याग से पुण्य रूप इन्द्र तो मरता ही नही, पर दोष-रूप तक्षक जो कि मर सकता था वह भी नही मरता। तब उनके त्याग की रीति कौनसी? बिल्ली हिसा करती है इसलिए उसका त्याग करेंगे तो चूहे हिसा करने लगेगे। सांप हिसा

करते है, इसलिए अगर उन्हे दूर किया तो सैकडों जन्तु खेती नष्ट कर डालेगे। खेती का अनाज नष्ट होने से हजारो मनुष्य मर जायंगे। इसलिए त्याग विवेक-युक्त होना चाहिए।

गोरखनाथ को मछीन्द्रनाथ ने कहा—इस लडके को धो ला! गोरखनाथ ने लडके के पैर पकड कर उसे शिला पर पछाड डाला और रस्सी पर सुखाने डाल दिया। मछीन्द्रनाथ ने पूछा—"लडके को धो लाये?" गोरखनाथ ने उत्तर दिया—"हां, उसे धो-धा कर सुखाने डाल दिया है।" लडके को क्या इस तरह धोया जाता है? कपडे और मनुष्य एक ही तरह से साफ किये जाते हैं! इन दोनों तरीकों मे बडा अन्तर है। इसलिए राजस, तामस कर्मों के त्याग तथा सात्त्विक कर्म के त्याग में बडा अन्तर है। सात्त्विक कर्म और तरह से छोड़े जाते हैं।

विवेक-हीन होकर कर्म करने से तो कुछ-न-कुछ उलट पुलट ही हो रहेगा। तुकाराम ने कहा है:—

"त्याग-फल भोग उगे जो भीतर।
तब हे दाता! क्या मै करू?"

छोटा त्याग करने जाते हैं तो बडा भोग आकर छाती पर बैठ जाता है। इस तरह हमारा वह अल्प-सा त्याग भी मिथ्या हो जाता है। छोटे से त्याग की पूर्ति के लिए बडे-बडे इन्द्र-भवन बनाते है। इससे तो वह झोंपड़ी ही अच्छी थी। वही काफी थी। लँगोटी लगा कर आस-पास वैभव इकट्ठा करने से तो कुरता और बण्डी ही अच्छी। इसीलिए भगवान् ने सात्त्विक कर्मों के त्याग की पद्धति ही अलग बताई है। सभी सात्त्विक कर्म तो करने हैं लेकिन उनके फलों को छोड देना है। कुछ कर्म तो नितान्त त्याज्य हैं। और कुछ के सिर्फ फल ही छोड़ने होते हैं। शरीर पर अगर कोई ऐसा वैसा दाग पड जाय तो उसको धोकर मिटाया जा सकता है; पर अगर चमडी का रंग ही काला है तो उसे सफेदा लगाने से क्या लाभ? वह काला रंग ज्यो-का-त्यों रहने दो। उसकी तरफ देखते ही क्यो हो? उसे अमंगल न समझो।

एक आदमी था। उसे अपना घर मनहूस प्रतीत होने लगा तो वह किसी गांव मे चला गया। वहां भी उसे गंदगी दिखाई दी तो जंगल मे चला गया। जंगल में एक आम के पेड़ के नीचे बैठा ही था कि एक पक्षी ने उसके सिर पर बीट कर दी। 'यह जंगल भी अमंगल है' ऐसा कहकर वह नदी में जा खडा हुआ। नदी मे जब उसने बडी मछलियो को छोटी मछलियां खाते देखा तब तो कांप ही उठा। अरे चलो, यह तो सारी सृष्टि ही अमंगल है। मरे बिना इससे छुटकारा नहीं। ऐसा इरादा करके वह पानी से बाहर आया और आग जलाई। उधर से एक सज्जन आये। और बोले—'भाई, यह मरने की तैयारी क्यों?' 'यह संसार अमंगल है इसलिए?' वह बोला। उस सज्जन ने उत्तर दिया तेरा यह गंदा शरीर, यह चरबी, यहां जलने लगेगी तो यहां कितनी बदबू फैलेगी? हम यहां पास ही रहते है। तब हम कहां जायंगे? एक बाल के जलने से ही कितनी दुर्गन्ध आती है? फिर तेरी तो सारी चर्बी जलेगी! यहां कितनी गन्दगी फैल जायगी, इसका भी तो कुछ विचार कर! वह आदमी परेशान होकर बोला—"इस दुनिया मे न जीने की गुन्जायश है और न मरने की ही। तो अब क्या करूं?"

तात्पर्य यह कि मनहूस है, अमंगल है—ऐसा कहकर सबका बहिष्कार करेंगे तो काम नहीं चलेगा। यदि तुम कर्मों से बचना चाहोगे तो दूसरे बडे कर्म सिर पर सवार हो जायंगे। कर्म स्वरूपतः बाह्य दृष्टि से छोडने पर नहीं छूटते, जो कर्म सहज-रूप से प्रवाह-प्राप्त होजाते हैं उनका विरोध करने में अगर कोई अपनी शक्ति खर्च करेगा—प्रवाह के विरुद्ध जाना चाहेगा तो अन्त में वह थक कर प्रवाह के साथ बह जायगा। प्रवाहानुकूल क्रिया के द्वारा ही उसे अपने तरने का उपाय सोचना चाहिए। इससे मन पर का वह लेप कम होगा और चित्त शुद्ध होता चला जायगा। फिर धीरे-धीरे क्रिया अपने-आप खतम होती जायगी। कर्म-त्याग न होते हुए भी क्रियाएं लुप्त होजायंगी। कर्म छूटेगा नहीं, पर क्रिया लोप होजायगी।

कर्म और क्रिया दोनों मे अन्तर है। जैसे कि कहीं पर खूब गुल-गपाडा मचा हुआ है और उसे बन्द करना है। एक सिपाही चिल्लाकर कहता है—"शोर बन्द करो।" वहां का शोर बन्द करने के लिए उसे जोर से चिल्लाने का तीव्र कर्म करना पडा। दूसरा कोई आकर चुपचाप खड़ा रहेगा व सिर्फ अपनी उँगली दिखावेगा, इतने से ही लोग शांत हो जायँगे। तीसरे व्यक्ति के सिर्फ वहां उपस्थित होने मात्र से ही शान्ति छाजायगी। एक को तीव्र क्रिया करनी पडी। दूसरे की क्रिया कुछ सौम्य थी और तीसरे की सूक्ष्म! क्रिया कम-कम होती चली गई। लेकिन तीनो मे लोगो का कर्म समान-रूप से हुआ। जैसे-जैसे चित्त-शुद्धि होती जायगी वैसे-वैसे क्रिया की तीव्रता मे कमी होगी। तीव्र से सौम्य, सौम्य से सूक्ष्म और सूक्ष्म से शून्य होती जायगी। इस तरह कर्म एक चीज है, क्रिया दूसरी। कर्म की व्याख्या है—कर्ता को जो इष्टतम हो वह कर्म। कर्म मे प्रथमा व द्वितीया विभक्ति होती है और क्रिया के लिए स्वतन्त्र क्रियापद लगाना पडता है।

कर्म और क्रिया में जो अन्तर है उसे समझ लीजिए। गुस्सा आने पर कोई बहुत चिल्लाकर और कोई बिलकुल ही न बोल कर अपना क्रोध प्रकट करता है। ज्ञानी पुरुष कोई क्रिया न करके भी अनन्त कर्म करता है। अपने अस्तित्व-मात्र से वह अपार लोक-संग्रह कर सकता है। ज्ञानी पुरुष की तो उपस्थिति से ही बहुत काम होजाता है। उसके हाथ पैर आदि अवयव कुछ काम न करते हो तो भी वह काम करता है। इधर क्रिया सूक्ष्म होती जाती है उधर कर्म बढ़ते जाते हैं। विचार की यह धारा और आगे ले जावें तो चित्त परिपूर्ण शुद्ध होगया और अन्त में क्रिया शून्य-रूप होकर कर्म अनन्त होते रहेंगे ऐसा कह सकते हैं। पहले तीव्र, फिर तीव्र से सौम्य, सौम्य से सूक्ष्म और सूक्ष्म से शून्य—इस तरह क्रम से क्रिया-शून्यत्व प्राप्त हो जायगा। परन्तु तब अनन्त कर्म अपने-आप ही होते रहेगे।

बाह्य-रूपेण कर्म हटाने से वे दूर नहीं होंगे। निष्कामता-पूर्वक

भ्रम दूर करते-करते धीरे-धीरे उसका अनुभव होगा। कवि ब्राउनिंग की 'ढोंगी पोप' शीर्षक एक कविता है। एक आदमी ने पोप से कहा—"तुम अपने को इतना सजाते क्यों हो? ये चोगे किसलिए? ये ऊपरी ढोंग क्यों? यह गंभीर मुद्रा किसलिए?" उसने उत्तर दिया—"सुनो, मैं यह सब क्यों करता हूं। संभव है इस नाटक, इस नकल को करते-करते किसी दिन अनजान मे ही मुझमे श्रद्धा का संचार होजाय।" इसलिए निष्काम क्रिया करते रहो। इससे धीरे-धीरे निष्कामत्व भी प्राप्त हो जायगा।

(४)

मतलब यह कि तामस व राजस कर्म तो बिलकुल छोड देने चाहिए और सिर्फ सात्विक कर्म करने चाहिए। इसमे भी इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जो सात्विक कर्म सहज व स्वाभाविक-रूप से सामने आजायं वे, सदोष होते हुए भी, त्याज्य नही है। दोष है तो होने दो। उस दोष से पीछा छुडाना चाहोगे तो दूसरे असंख्य दोष पल्ले आपडेंगे। अपनी नकटी नाक जैसी है वैसे ही रहने दो। उसे अगर काटकर सुन्दर बनाने की कोशिश करोगे तो वह और भी अधिक बेडौल और भद्दी दीखेगी। वह जैसी है वैसी ही अच्छी है। सात्विक कर्म सदोष होने पर भी, स्वाभाविक-रूप से प्राप्त होने के कारण, नहीं छोडने चाहिए।

यहां एक बात और समझनी है। जो कर्म सरल, स्वाभाविक रूप से प्राप्त न हुए हो उनके बारे में तुम्हे ऐसा लगता हो कि वे अच्छी तरह किये भी जा सकते हैं तो भी उन्हे मत करो। उतने ही कर्म करो जितने सहज रूप से प्राप्त हों। उखाड-पछाड व दौड़-धूप करके दूसरे नये कर्मों के चक्करमें मत पड़ो। जिन कर्मों को खासतौर पर जोड़-तोड लगाकर करना पड़ता हो वे कितने ही अच्छे क्यों न हों उनसे दूर रहो। उनका मोह मत रखो। जो कर्म सहज प्राप्त है उन्ही के फल का त्याग हो सकता है। यदि मनुष्य लोभ से कि यह कर्म भी अच्छा है, वह कर्म भी अच्छा है, चारों ओर दौडने लगे तो फिर फल-त्याग कैसे होगा? इससे तो सारा

जीवन ही एक फजीहत होजायगा । फल की आशा से ही वह इन पर धर्म-रूपी कर्मों को करना चाहेगा । और फल भी हाथ से खो बैठेगा । जीवन मे कही भी स्थिरता प्राप्त नही होगी । चित्त पर उस कर्म की आसक्ति लिप्त होजायगी । पर हाँ, अगर सात्विक कर्मों का भी लेप होने लगे तो उन्हे भी दूर करना चाहिए। उन नाना प्रकार के सात्विक कर्मों को भी यदि करना चाहोगे तो उसमें भी राजस व तामस का समावेश होजायगा । इसलिए तुम वही करो जो तुम्हारा सात्विक, स्वाभाविक सहज-प्राप्त स्वधर्म है ।

स्वधर्म मे स्वदेशी धर्म, स्वजातीय धर्म और स्वकालीन धर्म का समावेश होता है । ये तीनों मिलकर स्वधर्म बनते है । स्वधर्म का निश्चय करते समय यह देखना ही पडता है कि क्या यह मेरी वृत्ति के अनुकूल व अनुरूप है और कौन-सा कर्त्तव्य मुझे आकर प्राप्त हुआ है । तुम में 'तुमपन' जैसी कोई चीज है और इसलिए तुम 'तुम' हो । हरएक व्यक्ति मे उसकी अपनी कुछ विशेषता होती है । बकरी का विकास बकरी बने रहने मे ही है । बकरी रहकर ही उसे अपना विकास कर लेना चाहिए । बकरी अगर गाय बनना चाहे तो यह उसके लिए संभव नहीं। वह स्वयं-प्राप्त बकरीपन का त्याग नहीं कर सकती । इसके लिए उसे शरीर छोडना पडेगा । नया धर्म व नया जन्म ग्रहण करना होगा । लेकिन इस जन्म मे तो उसके लिए बकरीपन ही पवित्र है। बैल व मेढकी की कहानी है न ? मेढकी के बढ़ने की एक सीमा है । वह बैल जितनी होने का प्रयत्न करेगी तो मर जायगी । दूसरे के रूप की नकल करना उचित नही होता । इसीलिए परधर्म को भयावह कहा है ।

फिर स्वधर्म के भी दो भाग है । एक बदलनेवाला अंश और दूसरा न बदलने वाला । मैं जो आज हूं वह कल नहीं और जो कल हूं वह परसों नहीं । मैं निरन्तर बदल रहा हूं । बचपन का स्वधर्म होता है केवल संवर्धन । यौवन मे मेरे लिए भरपूर कर्म-शक्ति रहेगी । उसके द्वारा मैं समाज की सेवा करूंगा । प्रौढावस्था में मेरे ज्ञान का लाभ दूसरो

को मिलेगा। इस तरह कुछ स्वधर्म तो बदलते रहने वाला है और कुछ बिलकुल न बदलने वाला। इन्ही को अगर पुराने शास्त्रीय नामो से पुकारना है तो हम कहेंगे—मनुष्य के दो धर्म है—वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म। वर्ण-धर्म नही बदलता, पर आश्रम-धर्म बदलते रहते है।

आश्रम-धर्म बदलते हैं इसके मानी यह है कि ब्रह्मचारी पद छोड़कर मै गृहस्थाश्रम मे प्रवेश कर रहा हूं। गृहस्थाश्रम से वानप्रस्थ-आश्रम मे व वानप्रस्थ से संन्यास मे जाता हूं। इस तरह आश्रम-धर्म बदलते रहते है। तब भी वर्ण-धर्म बदले नहीं जा सकते। अपनी नैसर्गिक मर्यादा मै नहीं लांघ सकता। ऐसा प्रयत्न ही मिथ्या है। तुममे जो 'तुमपन' है उसे तुम छोड नही सकते। यही वर्ण-धर्म की भित्ति है। वर्ण धर्म की यह कल्पना बडी मधुर है। वर्ण-धर्म बिलकुल अटल है। पूछते है कि जैसे बकरी का बकरीपन, गाय का गायपन वैसे ही क्या ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व, क्षत्रिय का क्षत्रियत्व है? हाँ, मैं मानता हूं कि वर्ण-धर्म इतना सख्त या पक्का नही है। लेकिन हमे इसका मर्म समझ लेना चाहिए। 'वर्ण-धर्म' शब्द का उपयोग जब सामाजिक-व्यवस्था के लिए किया जाता है तब उसके अपवाद अवश्य होगे। ऐसे अपवाद तो मान्य करने ही पडते हैं। गीता ने भी इस तरह के अपवाद को ग्रहीत किया है। इसके मानी यह हुए कि इन दोनो तरह के धर्मो को पहचान कर अवांतर धर्म कितना ही सुन्दर व मोहक प्रतीत हो तो भी उनके चक्कर मे मत फंसो।

फल-त्याग की कल्पना का हम जिस तरह से विकास करते आ रहे हैं उससे निम्न-लिखित अर्थ निकलता है:—

(१) राजस वा तामस कर्मों का संपूर्ण त्याग।

(२) उस त्याग का भी फल-त्याग। उसका भी अहंकार न हो।

(३) सात्विक कर्मों का स्वरूपतः त्याग न करते हुए सिर्फ फल-त्याग।

(४) सात्विक कर्म सदोष होने पर भी फल-त्याग-पूर्वक करना।

(५) सतत फल-त्याग-पूर्वक उन सात्विक कर्मों को करते रहने से

चित्त शुद्ध होता जायगा। और तीव्र से सौम्य, सौम्य से सूक्ष्म और सूक्ष्म से शून्य—इस तरह क्रिया-मात्र का लोप हो जायगा।

(६) क्रिया लुप्त हो जायगी, लेकिन कर्म—लोकसंग्रह-रूपी कर्म होते ही रहेंगे।

(७) सात्विक कर्म भी जो स्वाभाविक रूप से प्राप्त हो, वे ही करें जो सहज-प्राप्त न हो वे कितने ही अच्छे लगें तो भी उनसे दूर ही रहे। उनका भी मोह न होना चाहिए।

(८) सहज-प्राप्त स्वधर्म भी फिर दो तरह का होता है—बदलने वाला और न बदलने वाला। वर्णधर्म नही बदलता, पर आश्रम-धर्म बदलता रहता है। बदलने वाला स्वधर्म बदलता रहना चाहिए। उससे प्रकृति विशुद्ध रहेगी।

प्रकृति तो सतत बहती रहनी चाहिए। निर्झर अगर बहता न रहेगा तो उससे दुर्गन्ध आने लगेगी। यही हाल आश्रमधर्म का है। मनुष्य को पहले कुटुम्ब मिलता है। अपने विकास के लिए वह स्वयं को कुटुम्ब के बन्धनो मे बाध लेता है। यहां वह तरह-तरह के अनुभव प्राप्त करता है। लेकिन अगर कुटुम्बी होने पर वह उसी मे जकड जायगा तो विनाश को प्राप्त हो जायगा। जो कुटुम्ब मे रहना पहले धर्म था वही अब अधर्म हो जायगा। क्योंकि अब वह धर्म बन्धनकारी हो गया। बदलने वाले धर्म को अगर आसक्ति के कारण नही छोडा तो इसका परिणाम भयानक होगा। अच्छी चीज की भी आसक्ति न होनी चाहिए। आसक्ति से घोर अनर्थ होता है। क्षय के कीटाणु यदि भूल से भी फेफडो मे चले गये तो वहां जाकर सारा जीवन भीतर से खा डालते हैं। उसी तरह आसक्ति के कीटाणु भी अगर असावधानी से सात्विक कर्म मे घुस गये तो उससे स्वधर्म सडने लगेगा। उस सात्विक धर्म में भी राजस व तामस की दुर्गन्ध आने लगेगी। अतः कुटुम्ब-रूपी यह बदलने वाला स्वधर्म यथा-समय छूट जाना चाहिए। यही बात राष्ट्र-धर्म के लिए भी लागू होती है। राष्ट्र-धर्म में भी अगर आसक्ति आ गई और सिर्फ अपने

ही राष्ट्र के हित का विचार हम करने लगे तो ऐसी राष्ट्र-भक्ति भी बड़ी भयंकर चीज होगी। इससे आत्म-विकास रुक जायगा। चित्त आसक्ति में डूब जायगा और अधःपात होगा।

(६)

अतः यदि जीवन का फलित प्राप्त करना है तो फल-त्याग रूपी चिन्तामणि को अपनाओ। वह तुम्हारा पथ-प्रदर्शन करेगी। फल-त्याग का यह तत्त्व अपनी मर्यादा भी बताता है। इस दीपक के पास होने पर यह पता अपने आप चल जायगा कि कौनसा काम करें, कौनसा न करें और कौनसा कब बदलें। लेकिन अब एक अन्य विषय की हम चर्चा करें। साधक को अन्तिम स्थिति अर्थात् संपूर्ण क्रिया का लोप हो जाना—इस पर ध्यान रखना चाहिए या नही। साधक को क्या ज्ञानी पुरुष को उस स्थिति पर जिसमे क्रिया न करते हुए भी असंख्य कर्म होते रहें, दृष्टि रखनी चाहिए ?

नही; यहां भी उसी फल-त्याग की कसौटी का उपयोग करो। हमारे जीवन का स्वरूप इतना सुन्दर है कि हमें जो चाहिए उसपर निगाह न रखने पर भी वह हमें मिल जायगा।

जीवन का सबसे बडा फल मोक्ष है। उस मोक्ष—उस अकर्मावस्था का भी हमे लोभ न रहे। वह स्थिति तो हमे अपने-आप अनजाने प्राप्त हो जायगी। संन्यास कोई ऐसी चीज तो है नही कि २ बजकर ५ मिनट पर अचानक आ मिलेगी। संन्यास यांत्रिक वस्तु नहीं है। उसका तुम्हारे जीवन मे किस तरह विकास होता जायगा, इसका पता भी तुम्हें न चलेगा। इसलिए मोक्ष की चिन्ता छोड दो।

भक्त तो ईश्वर से हमेशा यही कहता है-"मेरे लिए तुम्हारी भक्ति ही बहुत है। मोक्ष—वह अन्तिम फल, मुझे नही चाहिए" मुक्ति भी तो एक प्रकार की भुक्ति ही है। मोक्ष एक तरह का भोग ही तो है, एक फल ही तो है। इस मोक्ष-रूपी फल पर भी फल-त्याग की कैंची चलाओ। लेकिन इससे मोक्ष कहीं चला न जायगा। कैंची अलबत्ता

टूट जायगी, और फल अधिक पक्का हो जायगा। जब मोक्ष की आशा छोड दोगे तभी अनजाने मोक्ष की तरफ चले जाओगे। साधना मे ही इतने तन्मय हो जाओ कि तुम्हे मोक्ष की याद ही न रहे। और मोक्ष तुम्हे खोजता हुआ तुम्हारे सामने आ खडा हो। साधक तो बस अपनी साधना में ही रंग जाय।

अब फिर अंत मे कहते है.—"अहंत्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच"। मैं मोक्ष दाता समर्थ हूं। तुम मोक्षकी चिन्ता मत करो। तुम तो एक साधना की ही चिन्ता करो।

'मा ते सगोऽस्त्वकर्मणि'

भगवान् ने पहले ही कहा था कि अकर्म दशा की, मोक्ष की आसक्ति मत रखो। मोक्ष को भूल जाने से साधना उत्कृष्ट होगी और मोक्ष ही मोहित होकर तुम्हारे पास चला आवेगा। निरपेक्ष वृत्ति से अपनी साधना मे रत रहनेवाले साधक के ही गले मे मोक्ष-लक्ष्मी भी जयमाला डालती है।

जहां साधना की पराकाष्ठा होती है वही सिद्धि हाथ जोडकर खडी रहती है। जिसे घर जाना है वह अगर वृक्ष के नीचे खडा होकर 'घर-घर' का जाप करेगा तो इससे घर तो दूर ही रहेगा, उल्टा उसे जगल मे ही रहने की नौबत आ जायगी। घर को याद करते हुए अगर रास्ते में आराम करने लग जाओगे तो उस अन्तिम विश्राम-स्थान से दूर रह जाओगे। मुझे तो चलते ही रहना चाहिए। इसी से घर एकदम सामने आ जायगा। मोक्ष के कोरे स्मरण से मेरे प्रयत्न में—मेरी साधना मे शिथिलता आयेगी और मोक्ष मुझसे दूर चला जायगा। मोक्ष की उपेक्षा करके सतत साधना-रत रहना ही मोक्ष को पास बुलाने का उपाय है। अकर्म स्थिति–विश्रान्ति की लालसा मत रखो। साधना का ही ध्यान रखो, मोक्ष तो सामने खडा है। उत्तर-उत्तर चिल्लाने से सवाल का उत्तर नही मिलता। उसका जो तरीका है उसी से शनै-शनैः हल करने पर उत्तर मिलेगा। वह तरीका जहा

खतम होता है वही उसका उत्तर मौजूद है। समाप्ति के पहले समाधि कैसे हो जायगी ? हल करने से पहले उत्तर कैसे मिलेगा ? साधकावस्था मे सिद्धावस्था कैसे प्राप्त होगी ? पानी मे डुबकियां खाते हुए यदि ध्यान पल्ले पार के मौज-मजे में रहेगा तो कैसे काम चलेगा ? उस समय तो एकएक हाथ मारकर आगे जाने मे ही सारा ध्यान और सारी शक्ति लगानी चाहिए। पहले साधना पूरी करो, समुद्र लांघो, बस, मोक्ष अपने आप ही मिल जायगा।

(७)

ज्ञानी पुरुष की अन्तिम अवस्था मे सब क्रिया लुप्त हो जाती है, शून्य-रूप हो जाती है। पर इसका यह मतलब नहीं है कि उस अंतिम स्थिति मे क्रिया होगी ही नही। उसके द्वारा क्रिया होगी भी और नहीं भी होगी। अन्तिम स्थिति अत्यन्त रमणीय—अत्यन्त उदात्त है। इस अवस्था मे जो भी कुछ होगा उसकी उसे चिन्ता नही होती। जो भी होगा वह शुभ और सुन्दर ही होगा। साधना की पराकाष्ठा-दशा पर वह खडा है। यहा सब कुछ करने पर भी वह कुछ नहीं करता। संहार करने पर भी संहार नही करता। कल्याण करने पर भी कल्याण नहीं करता।

यह अन्तिम अवस्था ही साधक की साधना की पराकाष्ठा है। साधना की पराकाष्ठा के मानी हैं—साधना की सहजावस्था। वहा इस बात की कल्पना भी नहीं रहती कि मै कुछ कर रहा हूं। अथवा इस दशा को मैं साधना की अनैतिकता कहूंगा। सिद्धावस्था नैतिक अवस्था नही है। छोटा बच्चा सच बोलता है, पर वह नैतिक नहीं है, क्योंकि झूठ क्या है, यह तो वह जानता ही नही। असत्य मे परिचित होने पर भी सत्य बोलना नैतिक कर्म है। सिद्धावस्था मे असत्य है ही नहीं। यहा तो सत्य ही है। इसलिए वहा नीति नहीं। निषिद्ध वस्तु वहां खडी ही नहीं रह सकती। जो नहीं सुनना चाहते वह कान के अन्दर जाता ही नही। जो नही देखना चाहते वह आंखें देखती ही नहीं। जो

होना चाहिए वही हाथों से होता है। उसका प्रयत्न नही करना पडता। जिसे टालना चाहिए उसे टालना नही पडता। वह अपने आप ही टल जाता है। यही नीति-शून्य अवस्था है। इसे साधना की पराकाष्ठा, सहजावस्था अनैतिकता या अतिनैतिकता कुछ भी कहें। इस अनैतिकता मे ही नीति का परम उत्कर्ष है। अति-नैतिकता शब्द मुझे खूब सूझा। अथवा इस दशा को सात्त्विक साधना की निःसत्त्वता कह सकते है।

किस तरह इस दशा का वर्णन करे? जिस तरह ग्रहण के पहले उसको वेध लग जाता है उसी तरह शरीरान्त हो जाने पर आने वाली मोक्ष दशा की छाया पहले से ही पडने लग जाती है। देहा-वस्था मे ही भावी मोक्ष स्थिति का अनुभव होने लगता है। इस स्थिति का वर्णन करते हुए वाणी कुण्ठित हो जाती है। वह कितनी भी हिंसा करे फिर भी कुछ नही करता। उसकी क्रिया अब किस नाप से मापी जाय? जो कुछ उसके द्वारा होगा वह सब सात्त्विक कर्म ही होगा। सब क्रिया के क्षय हो जाने पर भी सम्पूर्ण विश्व का वह लोक-संग्रह करेगा। इसके लिए किस भाषा का प्रयोग करे यह समझ मे नही आता।

इस अवस्था मे दो तीन भाव रहते है—एक है वामदेव की दशा। उनका प्रसिद्ध उद्गार है—"इस विश्व मे जो कुछ भी है वह मै हूं।" ज्ञानी पुरुष निरहकार होता है। उसका देहाभिमान नष्ट हो जाता है, क्रियामात्र समाप्त हो जाती है। इस समय उसे एक भावावस्था प्राप्त होती है। वह अवस्था एक देह मे समा नहीं सकती। भावावस्था क्रिया-वस्था नही है। भावावस्था यानी भावना की उत्कटता की अवस्था। इस भावावस्था का थोडा बहुत अनुभव हमको हो सकता है। बालक के दोष से माता दोषी होती है। गुण से गुणी होती है। उसके दुःख से दुखी, सुख से सुखी होती है। मा की यह भावावस्था संतान तक सीमित है। सतान के दोषों को वह अपने दोष मान लेती है। ज्ञानी

पुरुष भी भावना की उत्कटता से सारे संसार के दोष अपने ऊपर लेता है।

अखिल विश्व के पाप से वह पापी और पुण्य से पुण्यवान बनता है और ऐसा होने पर भी त्रिभुवन के पाप-पुण्य उसका स्पर्श नहीं कर पाते। रुद्र सूत्र मे ऋषि कहते हैः—

"यवाश्च मे तिलाश्च मे गोधूमाश्च मे"

मुझे जौ दे, तिल दे, गेहूं दे। निरंतर मांगते रहने वाले ऋषि का पेट आखिर कितना बडा होगा? लेकिन वह मांगने वाला साढे तीन हाथ के शरीर का नही था। उसकी आत्मा विश्वाकार होकर बोलती है। इसे मै वैदिक विश्वात्मभाव कहता हूं। वेदो मे इस भावना का परमोत्कर्ष दिखाई देता है। गुजराती सत नरसी मेहता कीर्तन करते हुए कहते है.—"बापजी पाप मे कवण कीधा हशे, नाम लेता तारूं निद्रा आवे" हे ईश्वर, मैने ऐसे कौन से पाप किये हैं जो कीर्तन के समय भी मुझे नींद आती है। नीद क्या नरसी मेहता को आ रही थी? नीद तो श्रोताओ को आती थी। परन्तु श्रोताओं से एक रूप होकर नरसी मेहता विचार कर रहे है। यह उनकी भावावस्था है। ज्ञानी पुरुष की भावावस्था इसी प्रकार की होती है। इस भावावस्था में सभी पाप पुण्य उसके द्वारा होते हुए तुम्हे दिखाई देंगे। वह खुद भी यही कहेगा। वह ऋषि कहते हैं न—'न करने योग्य कितने ही कार्य मैने किये हैं, करता हूं और करूगा।' यह भावावस्था प्राप्त होने पर आत्मा पक्षी की तरह उडने लगती है। वह पार्थिवता के परे हो जाती है।

इस भावावस्था की ही तरह ज्ञानी पुरुष की क्रियावस्था भी होती है। ज्ञानी पुरुष स्वभावत. क्या करेगा? वह जो भी कुछ करेगा, सात्त्विक ही होगा। मनुष्य देह की मर्यादा उसके साथ भी लगी हुई है। तब भी उसका सारा शरीर, उसकी सारी इन्द्रियां सात्त्विक बन गई हैं; इससे उसकी तमाम क्रियाएं सात्त्विक ही होंगी। व्यावहारिक दृष्टि से सात्त्विकता की चरम सीमा उसके व्यवहार में दिखाई देगी। लेकिन अगर

विश्वात्मभाव की दृष्टि से देखेगे तो मानों त्रिभुवन के पाप-पुण्य यह करता है और इतने पर भी वह अलिप्त रहता है। क्योकि इस चिपके हुए शरीर को तो उसने उतार कर फेंक दिया है। क्षुद्र देह को उतार कर फेंकने पर ही तो वह विश्व-रूप होगा। भावावस्था और क्रियावस्था के अलावा भी एक तीसरी स्थिति ज्ञानी पुरुष की है और वह है ज्ञानावस्था। इस अवस्था में न वह पाप सहन करता है न पुण्य। सभी झटककर फेक देता है। इस अखिल विश्व को आग लगाकर जला डालने के लिए वह तैयार हो जाता है। एक भी कर्म करने को वह तैयार नहीं होता। उसका स्पर्श ही उसे सहन नही होता। मोक्ष-दशा मे—साधना की पराकाष्ठा की दशा मे ये तीन स्थितियां ज्ञानीपुरुष की हो सकती है।

यह अक्रियावस्था, अन्तिम दशा कैसे प्राप्त हो ? ऐसा अभ्यास करो कि हम जो-जो भी कर्म करते है उनकी जिम्मेदारी हम पर नहीं। ऐसा मनन करो कि मै तो एक निमित्त मात्र हू। कर्म का कर्तृत्व मुझ पर नहीं है। पहले इस कर्तृत्ववाद की भूमिका नम्रता से गृहण करो। लेकिन इसी से सपूर्ण कर्तृत्व चला जायगा ऐसा नही है। धीरे धीरे इस भावना का विकास होता जायगा। पहले तो ऐसा अनुभव होने दो कि मैं अति तुच्छ प्राणी हूं। उसके हाथ का खिलौना—कठपुतली हू। वह मुझे नचाता है। इसके बाद यह मानने का प्रयत्न करो कि यह जो कुछ भी किया जाता है वह शरीरजात है। मेरा उससे स्पर्श तक नही। ये सब क्रियाएं इस कलेवर की हैं। लेकिन मै यह कलेवर नही हू। मैं शव नहीं शिव हूं ऐसी भावना करते रहो। देह के लेप से लेशमात्र भी लिप्त न हो। ऐसा हो जाने पर मानो देह से तो कोई सम्बन्ध ही नही है, ऐसी अवस्था ज्ञानी पुरुष को प्राप्त हो जायगी। तब ऊपर कही हुई स्थितियां फिर आएंगी। पहले उसकी क्रियावस्था जिसमे उसके द्वारा अत्यन्त निर्मल व आदर्श क्रिया ही होगी। दूसरी भावावस्था जिसमें त्रिभुवन के पाप पुण्य मैं करता हूं, ऐसा अनुभव होगा। और तीसरी उसकी ज्ञानावस्था जिसमे वह लेशमात्र भी कर्म अपने

पास न रहने देगा। सब कर्म भस्मसात् कर देगा। इन तीनों अवस्थाओं द्वारा ज्ञानी पुरुष का वर्णन किया जा सकता है।

(८)

अब इतना सब कहने के बाद भगवान अर्जुन से कहते है—'अर्जुन, मैंने तुम्हे यह जो सब कहा है, उसे तुमने ध्यान से तो सुना है न? अब पूर्ण विचार करके जो तुम्हें उचित लगे वह करो। इस तरह भगवान ने अपनी महत्ता से अर्जुन को छुट्टी दे दी। भगवत्‌गीता की यही विशेषता है। लेकिन भगवान को फिर दया आगई। दिये हुए इच्छा स्वातन्त्र्य को उन्होंने फिर वापस ले लिया। कहा—अर्जुन तुम्हारी इच्छा, तुम्हारी साधना सब कुछ छोडकर तुम एक मेरी शरण मे आजाओ। इस तरह अपनी शरण में आने की प्रेरणा करके भगवान ने फिर अर्जुन को दिया हुआ इच्छा-स्वातन्त्र्य वापस लेलिया है। इसका अर्थ यही है कि तुम अपने मन मे कोई स्वतन्त्र इच्छा ही न होने दो। अपनी इच्छा को मत चलाओ, उसीकी इच्छा चलने दो। मुझे स्वतन्त्र रूप से यही अनुभव हो कि यह स्वतन्त्रता मुझे नहीं चाहिए। मै नही सब कुछ तू ही तू है। ऐसी स्थित होनी चाहिए। बकरी जीवित दशा में—'में मे मे " कहती है, यानी—"मैं मैं मै"। मरने पर उसको तांत बना कर पींजन मे लगाई जाती है तब, दादू कहता है, कि वह कहती है—'तूही, तूही, तूही, तूही तू'। अब तो सब "तूही तूही तूही।"

समाप्त

ग्राम सेवा मंडल नालवाड़ी वर्धा

विनोबा साहित्य

		मूल्य	पोस्टेज
१. गीताई		=)	)॥।
२. एकनाथाचीं भजनें		।=)	)॥।
३ ज्ञानदेवाचीं भजने		।=)	)॥।
४ नामदेवाचीं भजने		॥)	-)।
५. अभंग-व्रतें		।=)	)॥।
६. संताचा प्रसाद		॥।)	-)।
७. विनोबाके विचार	(भाग १ला)	१॥।)	=)
	(भाग २रा)	१॥)	=)
८. मधुकर		१॥)	=)
९ जीवन-दृष्टि		१॥)	=)
१०. स्वराज्य-शास्त्र	(हिन्दी, मराठी)	॥=)	-)।
११. विचार पोथी	(हिन्दी)	१॥)	-)॥
,, ,,	(मराठी)	१)	-)।
१२. ईशावास्योपनिषत्	(मराठी, हिन्दी)	।)	)॥।
१३. गीता प्रवचने	(मराठी, हिन्दी)	२॥)	=)
१४. गीताध्याय संगति		-)	)॥।
१५. स्वातंत्र्याची प्रतिज्ञा आणि तिचा अर्थ		।)	)॥।
१६. उपनिषदांचा अभ्यास		२)	-)॥
१७. स्थितप्रज्ञ-दर्शन		१॥)	=)

अन्य पुस्तकें

श्री कुन्दर दिवाण कृत--

	मूल्य	पोस्टेज
१. श्रीमद्भगवद्गीता विनोबाकृत 'गीताध्यायसंगति' के साथ	।)	-)
२. गीता-गीताई	॥)	-)।
३ धर्मपद	॥।)	-)
४. आश्रम संगीत (छप रहा है)		
५. वस्त्रपूर्णा (मराठी)	१।)	-)॥
६. तकली (हिन्दी, उर्दू)	१।)	-)॥
श्री सत्यन कृत—		
७. तकली कैसे कातें ?	।)	-)
८. ओटना धुनना	॥=)	-)।
श्री मनोहर दिवाण कृत—		
९. महारोग (मराठी)	१)	-)॥
१०. कोढ़ (हिन्दी)	॥।)	-)॥
श्री गांधीजी कृत—		
११. मंगल प्रभात	।)	)॥।

आगामी

(१) सत्याग्रह व स्वराज्य
(२) ईशावास्य-वृत्ति
(३) तुकारामांचीं भजनें

सूचना:—(१) पुस्तकें प्रायः व्ही० पी० से नहीं भेजी जाती हैं।
(२) म० आ० भेजते समय रजिस्ट्री के लिए ≡) अधिक भेजें।